इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BHDE - 141
अस्मितामूलक विमर्श और हिंदी साहित्य

खंड-2

विमर्शों की सैद्धांतिकी और व्यावहारिकी (भाग 2)

इकाई 7
दलित कविता : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **177**

इकाई 8
स्त्री कविता : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **208**

इकाई 9
'अन्या से अनन्या' (प्रभा खेतान) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **263**

इकाई 10
'मुर्दहिया' (डॉ. तुलसी राम) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **304**

इकाई 11
स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **329**

इकाई 12
दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर (डॉ. धर्मवीर) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन **356**

खंड 1 का परिचय

प्रस्तुत खंड पाठ्यक्रम का दूसरा खंड है। इस खंड में कुल 6 इकाइयाँ हैं।

इकाई 7 में अछूतानंद की 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे', माता प्रसाद की 'सोनवा के पिंजरा', कुसुम वियोगी की 'श्रम की रेखाएँ' जैसी दलित कविताओं के भाव पक्ष और कला पक्ष पर विचार किया गया है। साथ ही इन कविताओं की व्याख्या भी की गई है। अंतर्वस्तु, प्रतिपाद्य, भाषा–शिल्प, महत्त्व और उद्देश्य के माध्यम से इन कविताओं का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। साथ ही कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व से भी परिचित कराया गया है।

इकाई 8 में कीर्ति चौधरी की 'सीमा रेखा', कात्यायनी की 'सात भाइयों के बीच चंपा', अनामिका की 'बेजगह' और निर्मला पुतुल की 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' कविताओं का स्त्री विमर्श की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इन कविताओं की अंतर्वस्तु, मूल संवेदनाओं, व्याख्या आदि के साथ इस पाठ के उद्देश्य और महत्त्व का भी वर्णन किया गया है।

इकाई 9 में 'अन्या से अनन्या तक' (पृष्ठ संख्या 28–42) प्रभा खेतान की आत्मकथा का विस्तृत विश्लेषण अस्मिता विमर्श को केंद्र में रखकर किया गया है। इस इकाई में आत्मकथा के उपर्युक्त अंश की अंतर्वस्तु का विश्लेषण कर इसका मूल्यांकन किया गया है। इस इकाई में प्रभा खेतान के व्यक्तित्व का भी परिचय दिया गया है। साथ ही मारवाड़ी समाज की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का विश्लेषण कर बाल मनोविज्ञान और समाज में स्त्रियों की स्थितियों का भी विस्तृत विश्लेषण कर इस पाठ के महत्त्व और उद्देश्य को भी बताया गया है।

इकाई 10 में तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' की अंतर्वस्तु के विश्लेषण के साथ इसके महत्त्व और उद्देश्य पर भी विचार किया गया है। इसमें समकालीन आत्मकथा साहित्य लेखन परंपरा में दलितों के हस्तक्षेप, तुलसीराम के रचना संसार, 'मुर्दहिया' में दलित जीवन, स्त्री जीवन, राजनीति, धर्म, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश आदि के साथ तुलसी राम की भाषा–शैली आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

इकाई 11 में महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न' का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इसमें इस पाठ के उद्देश्य के साथ अस्मितामूलक विमर्श में इसके महत्त्व को बताया गया है। इसमें उपर्युक्त निबंध की अंतर्वस्तु, प्रतिपाद्य, भाषा–शैली आदि के साथ महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व का भी परिचय दिया गया है।

इकाई 12 में दलित चिंतन संबंधी डॉ. धर्मवीर के विचारों का विश्लेषण उनके निबंध 'दलित चिंतन का विकासः अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' पर केंद्रित करके किया गया है। इस इकाई में डॉ. धर्मवीर का लेखकीय व्यक्तित्व, उपर्युक्त निबंध की अंतर्वस्तु, इसके प्रतिपाद्य, संरचना और शिल्प, महत्त्वपूर्ण अंशों की संदर्भ सहित व्याख्या आदि के द्वारा महत्त्वपूर्ण जानकारी दी गई है। साथ ही इस पाठ को रखने का उद्देश्य भी बताया गया है।

आप से अपेक्षा की जाती है कि आप इकाइयों का अध्ययन करने से पूर्व पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे आत्मकथा और उपन्यास का अध्ययन करें जिससे दिए हुए अंशों को समझने में आसानी हो। ये आत्मकथा और उपन्यास आपको किसी भी पुस्तकालय में आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं।

शुभकामनाओं के साथ

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 7 दलित कविता : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' (अछूतानंद) : वाचन

7.3 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की अंतर्वस्तु

7.3.1 विचार पक्ष

7.3.2 भाव पक्ष

7.4 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' : भाषा और शिल्प

7.5 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

7.6 'सोनवा के पिंजरा' (माता प्रसाद) : वाचन

7.7 'सोनवा के पिंजरा' कविता की अंतर्वस्तु

7.7.1 विचार पक्ष

7.7.2 भाव पक्ष

7.8 'सोनवा के पिंजरा' : भाषा और शिल्प

7.9 'सोनवा के पिंजरा' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

7.10 'श्रम की रेखाएँ' (कुसुम वियोगी) : वाचन

7.11 'श्रम की रेखाएँ' कविता की अंतर्वस्तु

7.11.1 विचार पक्ष

7.11.2 भाव पक्ष

7.12 'श्रम की रेखाएँ' : भाषा और शिल्प

7.13 'श्रम की रेखाएँ' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

7.14 सारांश

7.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप : :

- दलित साहित्य और उसके मर्म को समझ सकेंगे;
- इकाई में सम्मिलित कवियों का सामान्य साहित्यिक परिचय जान सकेंगे;
- उपर्युक्त कवियों की चयनित कविताओं की अंतर्वस्तु अपने शब्दों में लिख सकेंगे;
- कविताओं के शिल्प विधान और भाषागत विशेषताओं को समझ सकेंगे और
- सामाजिक विकास में पीछे छूट गए भारतीय समुदायों की समस्याओं को समझ सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत हम दलित कवि अछूतानन्द, माता प्रसाद और कुसुम वियोगी की एक-एक कविता का अध्ययन करेंगे।

दलित साहित्य हिंदी सिनेमा की तरह शुद्धता बनाम अशुद्धता का शिकार रहा है। लम्बे संघर्ष के बाद आज दलित साहित्य पठन-पाठन का हिस्सा बन रहा है। दलित साहित्य आत्म उत्पीड़न का साहित्यिक विस्तार है। इस साहित्य को समझने के लिए वर्णवादी संकीर्ण मानसिकता से ऊपर निकलकर साहित्य को साहित्य की तरह समझना होगा। दलित कविता के कवि ने अपने व्यक्तिगत उत्पीड़न को ही काव्यरूप दिया है। जातिगत उत्पीड़न उसे अपने हिस्से के सच को लिखने के लिए मजबूर करता है और वह अपने तथा अपने समाज के दुःख, पीड़ा, भय इत्यादि को शब्दबद्ध करता है।

इस इकाई में हम ऐसे ही कवियों (अछूतानंद, माता प्रसाद और कुसुम वियोगी) का अध्ययन करेंगे, जिनकी कविता मनुष्य जीवन की विसंगतियों से टकराती है। 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता दलित जागरुकता की प्रथम पाठशाला है। इसे समझने के लिए भाषा की अपेक्षा भाव को समझना होगा। कविता के भीतर जीवन की विद्रूपताओं और उसे पैदा करने वालों पर करारा व्यंग्य है। कवि एक तरह से उलाहना देते हुए परिवर्तन की बात करता है। सामाजिक सद्‌भाव कविता का मूल उद्देश्य है।

दलित साहित्य जीवन की त्रासदी व व्यक्ति जीवन में भुगता हुआ वह यथार्थ है, जिसे किन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक अँधेरे में रखा गया। दलित साहित्य से हिंदी साहित्य को पूर्णता प्राप्त हुई है। 'सोनवा के पिंजरा' एक ऐसी रचना है जहाँ जीवन की दुर्गति के साथ ब्राह्मणवाद के मानसिक दिवालियापन को भी देखा जा सकता है। रचना के भीतर वंचित वर्ग के जीवन को आसानी से ढूँढा जा सकता है। माता प्रसाद ने अपने गहरे जीवन अनुभव को बहुत ही मार्मिक और आक्रामक ढंग से प्रस्तुत किया है। जीवन की मर्मान्तक पीड़ा को कवि बहुत सरल ढंग से प्रस्तुत करता है। कहा जा सकता है कि दलित साहित्य के सौंदर्य-शास्त्र को समझने के लिए माता प्रसाद के रचना-विधान को समझना होगा।

दलित कवियों ने अपने हिस्से की कहानी अपनी तरह से लिखनी शुरू कर दी है और यह प्रयास हिंदी साहित्य के लिए एक शुभ संकेत है क्योंकि भारतीय समाज का बहुत बड़ा तबका और उसका दुःख लिपिबद्ध नहीं हो पाता था। यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जब हिंदी साहित्य का भाव-बोध नया स्वरूप अर्जित कर रहा है। दलित साहित्य उधार के विचार से उत्पन्न साहित्य नहीं है बल्कि सौ प्रतिशत वंचित वर्ग के दुःख को सही-सही लिखने, कहने और लड़ने का साहित्य है। 'श्रम की रेखाएँ' एक ऐसी ही कविता है। कुसुम वियोगी अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर दलित समाज को अपने होने का बोध कराती हैं। उन्होंने कहा है कि हमने सुनने, कहने, लड़ने और मुक्ति के रास्ते को समझ लिया है। अब हम अपनी भूमिका निभा सकते हैं।

इस तरह तीनों ही कविताओं में आप दलित साहित्य के भाव और संघर्ष को समझ सकते हैं और दलित साहित्य के प्रति अपनी समझ विकसित कर सकते हैं।

7.2 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' (अछूतानंद) : वाचन

दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे
ये आदि हिंद, अछूत, पीड़ित, दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे?
प्रबल अनल के प्रचंड शोले, जमीं में कब तक गड़े रहेंगे?
स्वभाव आखिर अनल तो अपना बता ही देगा बता ही देगा।
धधकती आग में धुंधकारी–सरीखे कब तक खड़े रहेंगे?
नहीं उचित है, निर्बल को अब तो सताना, दुःसह दुखों का देना।
विसूवियस गिरि समान ज्वालामुखी तड़पकर अड़े रहेंगे।
हे आत्म–ज्ञानी, ऐ संत–पुत्रों जरा न तुमको हया–शरम है।
गुलामी करने को आँख मूँदे बताओ कहाँ तक अड़े रहेंगे?
तुम्हारे मत से यह शूद्र कब से? बताओ किसने बनाया इनको?
तुम्हारी खातिर गरीब मानव कहाँ लौं, कब लौं सड़े रहेंगे?
जिसे पुकारें समान–दर्शी वह जुल्म कैसे करेगा इन पर?
तो कैसे उसके अनंत लोकों के जर्रे–जर्रे घिरे रहेंगे?
जरूर ही ये तुम्हारे खुद के रचे हुए हैं तमाम पाखंड।
दयालु प्रभु के विधान क्या कभी भी ऐसे कड़े रहेंगे?
खुदी में आकर तुम्हीं ने इनको शहर बदर भी करा दिए हैं।
ये ऊँचेपन के गुरुर कब तक तुम्हारे दिल में भरे रहेंगे?
इन्हीं की हस्ती मिटाने वालो, मिटोगे आखिर इन्हीं के आगे।
गरीब निर्बल सता के किसके सुमन हमेशा हरे रहेंगे?
दलित प्रवंचित अछूत जिस दिन तमाम हिलमिल के एक होंगे।
मनुस्मृति के अमानुशी ये विधान तब क्या धरे रहेंगे?
ये सारी दुनियाँ की आज कौमें हकों को अपने बँटा रही हैं।
अछूत भारत के क्या हमेशा इसी तरह से डरे रहेंगे?
जो एक नेशन है कौम हिंदू, तो नीच क्यों कर इन्हें बताते।
ये हीरा–मोती समान सिर पर तुम्हारे एक दिन जड़े रहेंगे?
जो काटते खुद हैं जड़ को अपनी, फल के चाखने की आस करते।
तुम्हीं बताओ वह कैसे जीवित औ लहलहाते हरे रहेंगे?
जो चाहते हो कि शक्तिशाली हो एक दुनिया का देश भारत।
तो रोटी–बेटी से फिर 'हरिहर' कहो तो कब तक फिरे रहेंगे?

7.3 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की अंतर्वस्तु

किसी भी रचनाकार की रचना उसके परिवेश और परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इस इकाई के अंतर्गत कविता की अंतर्वस्तु पर विचार किया जायेगा। किसी भी रचना की

अंतर्वस्तु में मुख्यतः दो पक्ष (विचार पक्ष और भाव पक्ष) महत्त्वपूर्ण होते हैं। अध्ययन की दृष्टि से इन्हीं दो पक्षों के माध्यम से 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे', कविता की अंतर्वस्तु का मूल्यांकन करेंगे। यह सर्वविदित है कि सामाजिक समानता के लिए संघर्ष अनिवार्य है। स्त्री और पुरुष की समानता के लिए स्त्रियों ने संघर्ष किया, दलित, आदिवासी, किन्नर इत्यादि भी सामाजिक बराबरी के लिए निरंतर संघर्षशील हैं। यह कविता दलित संघर्ष और सामाजिक बराबरी की माँग करने वाली कविता है।

7.3.1 विचार पक्ष

कविता के विचार पक्ष को समझने के लिए कवि और कविता के परिवेश और परिस्थितियों की समझ जरूरी होती है। कविता में जाने से पहले कवि का सामान्य परिचय जरूरी है ताकि कविता के मर्म तक पहुँचने में परेशानी न हो। स्वामी हरिहर अछूतानंद का जन्म उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद के सौरिस गाँव में सन 1879 में हुआ था। इनका बचपन का नाम हीरालाल था। इनके पिता अंग्रेज सेना में कार्यरत थे। पिता की नौकरी अंग्रेजों के यहाँ होने की वजह से इन्हें पढ़ने का मौका मिला। समाज में फैली घृणित उच्च जातिगत प्रतिभा को झूठा साबित करते हुए मात्र चौदह वर्ष की उम्र में इन्होंने अंग्रेजी, हिंदी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला इत्यादि भाषाओं को सीख लिया। इनकी पत्नी का नाम दुर्गावती था, जिनसे तीन पुत्रियाँ हुईं। जीवन की विसंगतियों से लड़ते हुए मात्र 54 वर्ष की अवस्था में सन 1933 में इनकी मृत्यु हो गई उस समय वे कानपुर में थे। यद्यपि आर्य समाज के प्रभाव में आकर वे 1906 में आर्य समाज से जुड़े, जहाँ इन्हें हरिहरनंद के नाम से जाना गया, लेकिन आर्यसमाज से मोहभंग होने में समय नहीं लगा और इन्होंने चार-पाँच साल बाद ही अखिल भारतीय अछूत महासभा की स्थापना की। सन 1912 में इन्होंने इसकी स्थापना और शुरुआत दिल्ली से की। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने अपने गुरु स्वामी सच्चिदानंद को दिल्ली शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया और अपने अर्जित विवेक से उन्हें पराजित किया। इन्होंने 1922 में विराट अछूत जाटव सम्मलेन किया और अपने नाटकों, कविताओं और मीडिया के माध्यम से दलित समाज में जागरुकता फ़ैलाने की कोशिश की। इन्होंने हमेशा गाँधी की जगह डॉ. आंबेडकर को सम्मान दिया। इससे एक बात आसानी से समझी जा सकती है कि दलित कवि ने अपनी कविता की अंतर्वस्तु समाज से ही अर्जित की है। 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता का विचार पक्ष दलित जीवन के संघर्ष, उत्पीड़न और उससे उबरने का प्रयास है। कवि दलित जीवन की विसंगतियों और उसके कारणों की ओर संकेत करता है।

> ''ये आदि हिंद, अछूत, पीड़ित, दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे?
> प्रबल अनल के प्रचंड शोले, जमीं में कब तक गड़े रहेंगे?''

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि कहता है कि ये भारत के मूल निवासी अछूत, पीड़ित या दलित जातियाँ कब स्वयं को समझने की कोशिश करेंगे? इनके अंदर क्रांति और बदलाव की जो ताकत है, इनके अंदर जो आग है, वे अपना स्वरूप कब अर्जित करेंगे? कब तक खुद को वे जमीन के नीचे धँसा हुआ मानते रहेंगे। अर्थात् अपनी अवस्था की पहचान न होना ही सबसे पिछड़ने का मूल कारण है। कवि का विचार है कि स्वयं को समझना सामाजिक समानता के लिए अनिवार्य है। अतः कवि कहता है कि सबल व्यक्ति द्वारा निर्बल को सताना, उसे दुःख पहुँचाना, शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न देना उचित नहीं है क्योंकि

दलित समाज एक ऐसा पहाड़ है, जिसमें धैर्य तो है लेकिन उसके अंदर ज्वालामुखी भी है।

कवि समाज में असमानता संबंधी सच्चाई को देखकर अपने आक्रोश को इस प्रकार व्यक्त करता है :

''दयालु प्रभु के विधान क्या कभी भी ऐसे कड़े रहेंगे?
खुदी में आकर तुम्हीं ने इनको शहर बदर भी करा दिए हैं।''

कवि यहाँ परिवर्तन की बात करता है। कवि का कहना है कि अगर यह नियम ईश्वर द्वारा बनाए गए होते तो इनमें इतनी कठोरता नहीं होती। कुछ लोगों ने अपने फायदे के लिए इस तरह के नियम और पाखंड बना रखे हैं, जिससे समाज में इतनी असमानता है। यह उनका अहंकार ही है, जिसके चलते भारतीय दलित कमजोर और दबे-कुचले व्यक्ति के रूप में अपने ही देश में दर-बदर भटकते हैं।

कवि का विचार है कि संघर्ष से ही सामाजिक समानता संभव है। वह वंचित वर्ग को सचेत करता है। कवि कहता है कि बदलाव का बिगुल बज चुका है। भारतीय दलित व अछूत भी इसे ठीक तरह से समझने लगे हैं। इस देश का जो अछूत वर्ग है, वह अछूत नहीं है। यह मनुवादी मानसिकता की उपज है कि वह अछूत है। दलित अब अपनी स्थितियों को पहचानने लगे हैं। यह पहचान ही एक दिन बहुत बड़ा पाठ होगी। जब हम एक ही वंशज के लोग हैं और सभी हिन्दू हैं, फिर कोई श्रेष्ठ कैसे हैं? जो इस समाज के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जिसके श्रम से जीवन चलता है, वे निम्न कैसे हैं? एक दिन ऐसा आयेगा कि ये मनुवादी लोगों से आगे निकल जायेंगे क्योंकि इन दबे-कुचले लोगों के विचार हीरा-मोती की तरह हैं। कवि का विचार है कि दलित अगर आपको श्रेठ समझते हैं तो आप उन्हें भी कम से कम आदमी अवश्य समझें क्योंकि दुनिया वैचारिक रूप से तेजी से बदल रही है, ऐसे में मनुस्मृति की धारणा से ऊपर उठकर ही सामाजिक सद्भाव कायम हो सकता है। कवि की मंशा दलित समाज को श्रेष्ठ साबित करना नहीं है बल्कि वह संकेत कर रहा है कि उँच-नीच की खाई मनुष्य निर्मित है और इसे मनुष्य ही ख़त्म कर सकता है। कवि इस बात पर बल देता है कि सभी को मनुष्य समझा जाए।

''जो काटते खुद हैं जड़ को अपनी, फल के चाखने की आस करते।
तुम्हीं बताओ वह कैसे जीवित औ लहलहाते हरे रहेंगे?
जो चाहते हो कि शक्तिशाली हो एक दुनिया का देश भारत।
तो रोटी–बेटी से फिर 'हरिहर' कहो तो कब तक फिरे रहेंगे?''

कवि उपर्युक्त पंक्तियों में सामाजिक विडंबना का संकेत करते हुए व्यंग्यात्मक शैली में पूछता है कि अपने ही हाथों जड़ों को काटने वाला व्यक्ति फल चखने की आशा तो रखता है लेकिन जड़ से कटा हुआ पेड़ भला जीवित और लहलहाता हुए कैसे रह सकता है? कवि सामाजिक समानता के लिए वैचारिक सूत्र देता है। वह कहता है कि 'रोटी-बेटी' के माध्यम से भारत को शक्तिशाली बनाया जा सकता है अर्थात् समाज में भोजन और विवाह में यदि जातिगत या छुआछूत का भेदभाव नहीं रहे तो भारत दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश बन सकता है।

7.3.2 भाव पक्ष

दलित साहित्य का केन्द्रीय भाव सामाजिक असमानता से उत्पन्न समस्याएँ हैं; जिससे कवि मुक्ति चाहता है। 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगें' कविता का केन्द्रीय भाव भी श्रेष्ठता बोध से उत्पन्न स्थितियों से मुक्ति की कविता है। जीवन की सामाजिक आर्थिक विसंगतियाँ कविता को जीवंत बनाती हैं। अछूतानंद जी लिखते हैं कि :

नहीं उचित है, निर्बल को अब तो सताना, दुःसह दुखों का देना।
विसूवियस गिरि समान ज्वालामुखी तड़पकर अड़े रहेंगे।
हे आत्म–ज्ञानी, ऐ संत–पुत्रों जरा न तुमको हया–शरम है।
गुलामी करने को आँख मूँदे बताओ कहाँ तक अड़े रहेंगे?
तुम्हारे मत से यह शूद्र कब से? बताओ किसने बनाया इनको?''

कविता में दलित, अछूत वंचित वर्ग की समस्याओं और उसे उत्पन्न करने वाले लोगों की बात की गई है। कवि ने बड़े सहज भाव से दलितों की पीड़ा और उनके उत्पीड़न को उजागर किया है। भारतीय सामाजिक विसंगतियों को आसानी से समझा जा सकता है। कवि दलितों की ताकत की ओर संकेत करते हुए कहता है कि जिसके स्वभाव में ही आग हो उसे छुपाया नहीं जा सकता। वह समय आने पर बता देगा कि वह क्या है इसलिए धधकती आग को समझो, क्योंकि निर्बल समझकर किसी के साथ अत्याचार करना ठीक नहीं है। दलित ऐसे ज्वालामुखी हैं जो कभी भी फट सकते हैं, इसलिए इन्हें कम करके देखना, इन्हें निर्बल समझना भूल है। दरअसल मनुष्य के अंदर जो शर्म-हया होती है उसको बेच दिया गया है। उच्चताबोध ही अहंकारबोध है वरना एक ही समाज के लोगों का अपने ही लोगों के बीच गुलाम की तरह उपयोग नहीं किया जाता।

कवि पूछता है कि ये भारत के मूल निवासी अछूत, पीड़ित या दलित जातियाँ कब स्वयं को समझने की कोशिश करेंगे? इनके अंदर क्रांति और बदलाव की ताकत है, इनके अंदर जो आग है वह अपना स्वरूप कब अर्जित करेंगे? कब तक वे खुद को जमीन के नीचे धँसा हुआ मानते रहेंगे? कवि का विचार है कि अपनी अवस्था की पहचान न होना ही सबसे पिछड़ने का मूल कारण है। अछूत, दलित व पीड़ित वर्ग का जो संघर्ष करने का वास्तविक स्वभाव है वह सामने आ ही जायेगा इसलिए धधकती हुई आग से लड़ने के लिए खुद की आग आज पैदा करनी होगी। ऐसी आज जो यातनाओं से अपना स्वरूप अर्जित करती है। अतः कवि कहना चाहता है कि सबल व्यक्ति द्वारा निर्बल को सताना, उसे दुःख पहुँचाना, शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न देना उचित नहीं है क्योंकि हमारा दलित समाज एक ऐसा पहाड़ है, जिसमें धैर्य है लेकिन उसके अंदर ज्वालामुखी भी है। स्वयं को ज्ञान का एजेंट समझने वाले के पास न हया है और न ही शर्म है। झूठी शान और स्वयं को संत पुत्र कहने वाले इतना भी नहीं समझते हैं कि संत का स्वभाव सरल, निश्छल और घास की तरह होता है जबकि झूठे दंभ वाले लोगों का स्वभाव प्रपंच से भरा हुआ होता है।

''जरूर ही ये तुम्हारे खुद के रचे हुए हैं तमाम पाखंड।
दयालु प्रभु के विधान क्या कभी भी ऐसे कड़े रहेंगे?
खुदी में आकर तुम्हीं ने इनको शहर बदर भी करा दिए हैं।
ये ऊँचेपन के गुरुर कब तक तुम्हारे दिल में भरे रहेंगे?
इन्हीं की हस्ती मिटाने वालो, मिटोगे आखिर इन्हीं के आगे।''

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने तथाकथित उच्चवर्ग की पाखंड-योजना पर कुठाराघात किया है। मनुष्य जीवन में श्रेष्ठता-बोध की स्थिति अत्यंत विचित्र है।

कवि कहता है कि समाज के अंदर जितनी गंदगी है यह सब मनुस्मृति धारकों के पाखंड की उपज है। अगर इस धरती पर ईश्वर द्वारा नियम बनाए गए होते तो नियम इतने क्रूर नहीं होते, क्योंकि ईश्वर के यहाँ सभी मनुष्य समान हैं। यह उच्चताबोध वाले लोगों का अहंकार और तिकड़म ही है, जिससे भारतीय समाज में उच्च-नीच का बीज बोया गया और इस तरह अपने ही मुल्क में दबे-कुचले लोग दर-बदर कर दिए गए। अगर उच्च्ताबोध का घमंड अपने अंदर से नहीं निकाले गये, तो एक समय ऐसा आएगा कि उच्चताबोध वाले लोगों की हस्ती इन्हीं दबे-कुचले लोगों के सामने मिट जाएगी क्योंकि जो दूसरों को मिटाने की कोशिश करता है स्थितियाँ बदलने पर उसका भी विनाश हो जाता है। कवि कहता है कि यह सत्ता का खेल है आज तुम्हारे पास है, तुम फल-फूल रहे हो और अपनी ताकत का इस्तेमाल हम गरीबों पर कर रहे हो। जिस दिन दलित, वंचित, गरीब, अछूत एक हो जायेंगे उस दिन वे अपने होने का अहसास करा देंगे, तुम्हारे द्वारा थोपी गई मनुस्मृति में वर्णित विचार ख़त्म कर दिये जायेंगे। दुनिया में इसके बदलाव का विगुल बज चुका है, भारतीय दलित व अछूत भी इसे ठीक तरह से समझने लगे हैं। इस देश का जो अछूत वर्ग है, वह अछूत नहीं है। ये लोग अब अपनी स्थितियों को पहचानने लगे हैं। यह पहचान ही तुम्हारे लिए एक दिन बहुत बड़ा पाठ होगी। जब हम सभी हिन्दू हैं, फिर तुम श्रेष्ठ कैसे? जो इस समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है, जिसके श्रम से तुम्हारा जीवन चलता है उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? यह विचार करो कि कल स्थितियाँ बदलेंगी तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी? जिस जड़ में पानी डालना चाहिए था तुम लोगों ने उसको ही काटना शुरू कर दिया, फिर यह कैसे संभव है कि कटा हुआ पेड़ हरा रहेगा। एक तरफ तुम्हारा थोथा राष्ट्रवाद और दूसरी तरफ अहंकार भाव! ऐसे में भारत दुनिया के देशों में शक्तिशाली कैसे बनेगा? कवि निष्कर्ष रूप में कहता है कि जिस दिन रोटी और बेटी अर्थात् आपसी भाईचारा को अपनाओगे, जब उच्च-नीच की बात दिल और दिमाग में नहीं रहेगी, उस दिन भारत महान होगा। मसलन जीवन की विसंगतियों का निराकरण स्वस्थ मानसिकता से ही संभव है। सभी मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं, उसे स्वेच्छा से अपना जीवन जीने का, अपनी स्थिति बदलने का अवसर मिलना चाहिए। कविता का मर्म स्पष्ट हो जाता है कि विश्वगुरु बनने के लिए विश्वस्तरीय समझ भी जरूरी है –

> ''जो चाहते हो कि शक्तिशाली हो एक दुनिया का देश भारत।
> तो रोटी–बेटी से फिर 'हरिहर' कहो तो कब तक फिरे रहेंगे?''

7.4 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' : भाषा और शिल्प

इस खंड के अंतर्गत कविता की भाषा व शिल्पगत विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। यह सर्वविदित है कि भाषा भाव को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है। कविता में छिपे भाव को जब शब्दबद्ध किया जाता है तो पाठक उस कविता के भाव तक पहुँचने लगता है। 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की भाषा खड़ी बोली हिंदी है। कवि ने सामाजिक उत्पीड़न से उत्पन्न अपनी और दलितों की स्थितियों को व्यक्त किया है। इससे भाषा में कवि की वेदना भी धुलने-मिलने लगती है। ऐसी वेदना जो कवि की जीवन-स्थितियों की उपज है।

''धधकती आग में धुंधकारी–सरीखे कब तक खड़े रहेंगे?
नहीं उचित है, निर्बल को अब तो सताना, दुःसह दुखों का देना।''

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रश्न सूचक चिह्नों का प्रयोग कवि की भाषा को सीधे पाठकों से जोड़ने लगता है। कवि अपनी सहज और उद्‌बोधनपरक भाषा के माध्यम से मूल्यों की बात करता है – ''नहीं उचित है निर्बल को अब तो सताना, दुःसह दुखों को देना।'' वास्तव में मूल्य ही समाज में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को जोड़ता है। जब समाज में एक वर्ग शोषित और दूसरा वर्ग शोषक हो, तो सामाजिक विसंगतियाँ कभी खत्म नहीं हो सकती हैं।

कवि की भाषा प्रभाव उत्पन्न करने वाली है। कविता की भाषा चमत्कार और अहंकार की भाषा नहीं है। कवि कहता है कि भारत के मूल निवासी अछूत, पीड़ित या दलित जातियाँ कब स्वयं को समझने की कोशिश करेंगी? इनके अंदर क्रांति और बदलाव की ताकत है, इनके अंदर जो आग है वह अपना स्वरूप कब अर्जित करेंगे? कब तक वे खुद को जमीन के नीचे धँसा हुआ मानते रहेंगे? अर्थात् अपनी अवस्था की पहचान न होना ही पिछड़ने का मूल कारण है। अछूत, दलित व पीड़ित वर्ग का संघर्ष करने का जो वास्तविक स्वभाव है, वह सामने आ ही जायेगा। धधकती हुई आग से लड़ने के लिए खुद के अंदर आग पैदा करनी होगी। ऐसी आग जो यातनाओं से अपना स्वरूप अर्जित करती है। कवि कहता है कि सबल व्यक्ति द्वारा निर्बल को सताना, उसे दुःख पहुँचाना, शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न देना उचित नहीं है, क्योंकि हमारा दलित समाज एक ऐसा पहाड़ है, जिसमें धैर्य है लेकिन उसके अंदर ज्वालामुखी भी है।

कवि की भाषा में सहजता, स्वाभाविकता और संप्रेषणीयता है। कवि दलितों का शोषण करने वालों से सीधे संवाद करता है :

''जरूर ही ये तुम्हारे खुद के रचे हुए हैं तमाम पाखंड।
दयालु प्रभु के विधान क्या कभी भी ऐसे कड़े रहेंगे?''

कवि की यहाँ जीवनानुभूत पीड़ा है। उसकी प्रामाणिक अनुभूति उसे निर्भीक बना देती है। संपूर्ण सृष्टि के स्रष्टा के विधान कठोर नहीं हो सकते। उन्होंने तो सबको समान बनाया है। समाज में भेदभाव, पाखंड और शोषण की स्थिति तो मनुष्य द्वारा ही निर्मित है। जीवन की कठोर और विषम स्थितियाँ कवि को विद्रोह के भावों से प्रेरित करने लगती हैं, जिससे उसकी भाषा में भी विद्रोही तेवर दिखने लगते हैं – ''ये ऊँचेपन के गुरुर कब तक तुम्हारे दिल में भरे रहेंगे?'' यहाँ 'ऊँचेपन का गुरुर' शब्द काफ़ी व्यंजक है। कवि अपने आस-पास के दलितों की मार्मिक स्थितियों से परिचित है। वह जानता है कि यह 'गुरुर' ही मनुष्य की मनुष्यता को समाप्त करके उसे संवेदनहीन बना देता है।

कवि का विरोध कभी-कभी उसे आक्रामक बना देता है – ''इन्हीं की हस्ती मिटाने वालो, मिटोगे आखिर इन्हीं के आगे।'' यहाँ कवि की भाषा सीधे चोट करती है। भाषा में चेतावनी है क्योंकि कवि जानता है कि इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है।

'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की भाषा गद्यात्मक है, क्योंकि कवि जिस यथार्थ को अपनी कविता के द्वारा पाठकों के सामने लाना चाहता है, उसके लिए ऐसी भाषा ही

उपयुक्त और अनुकूल है। भाषा में व्यंग्य भी है – ''जो काटते खुद हैं जड़ को अपनी, फल के चाखने की आस करते।'' इस कविता में हर जगह ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि दलितों, पीड़ितों और वंचितों से सीधे संवाद को महत्त्व दे रहा हो – ''तुम्हीं बताओ वह कैसे जीवित और लहलहाते हरे रहेंगे?''

कवि अपनी कविता में समाजशास्त्रीय प्रश्न भी उठाता है :

''जो चाहते हो कि शक्तिशाली हो एक दुनिया का देश भारत।
तो रोटी-बेटी से फिर 'हरिहर' कहो तो कब तक फिरे रहेंगे?''

चूँकि 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता में कवि की युगीन वैचारिकी और संवेदना हैं इसलिए कविता की भाषा में जहाँ बोलचाल के शब्द हैं, वहीं ऐसे संबोधनपरक शब्द भी हैं, जिनके कारण वह समाज में विसंगतियों को बढ़ते और फलते-फूलते देखता है। जैसे – (हे) आत्म-ज्ञानी (ऐ) संत-पुत्रों! कवि मनुस्मृति के विधान को 'अमानुषी' मानता है। 'अमानुषी' शब्द लोक के अधिक निकट है। कवि ने अपने विचारों को अपनी कविता में महत्त्व दिया है और आपसी भाईचारे, स्नेह, 'रोटी' और 'बेटी' को 'महान भारत' की अवधारणा के लिए महत्त्वपूर्ण माना है इसलिए उसने कविता में भाषा के संदर्भ में अपनी उदारता दिखलाई है। इस कविता में तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशज सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग है:

तत्सम : प्रबल, अनल, प्रचंड, शक्तिशाली, निर्बल, दयालु, ज्ञानी आदि

तद्भव : आग, आस

देशज : चाखने

विदेशज : तमाम, हस्ती, गुरुर, गुलाम इत्यादि

कवि की भाषा चित्रात्मक (बिंबात्मक) और प्रतीकात्मक है। ''प्रबल अनल के प्रचंड शोले, जमीं में कब तक गड़े रहेंगे? – यहाँ 'अनल के प्रचंड शोले' से दलितों की शक्ति, ऊष्मा और ऊर्जा का संकेत मिलता है। साथ ही पाठकों के मन-मस्तिक में दलितों की शक्ति और उनकी जीवन स्थितियों से संबंधित चित्र भी बनने लगते हैं जिसका प्रभाव काफी देर तक बना रहता है।

जहाँ तक कविता के शिल्प विधान की बात है तो हम स्पष्टतः देख सकते हैं कि कविता आत्माभिव्यंजना शैली में लिखी गई है। कवि व्यक्तिगत स्तर पर अपनी बात समाज के सवर्ण तबकों से कहता है। वह अपनी और अपने समाज की दुर्दशा और उसके कारण की ओर संकेत करता है तथा उसमें बदलाव की अपेक्षा रखता है।

कविता में कवि अपनी बात सामान्य ढंग से रखता है फिर भी कवि की भाषा में चुनौती है, सचेत करने का भाव है। दरअसल कविता का उद्देश्य पांडित्य प्रदर्शन नहीं है बल्कि अपने लोगों तक अपनी बात पहुँचानी है इसलिए कविता का शिल्प-विधान सरल और प्रभाव उत्पन्न करने वाला है। कविता में वंचित समाज का दर्द पॉलिश की हुई भाषा और शिल्प में व्यक्त नहीं किया जा सकता इसलिए भाषा में सरलता और सहजता है।

7.5 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

स्वभाव आखिर अनल तो अपना बता ही देगा बता ही देगा।
धधकती आग में धुंधकारी-सरीखे कब तक खड़े रहेंगे?
नहीं उचित है, निर्बल को अब तो सताना, दु:सह दुखों का देना।
विसूवियस गिरि समान ज्वालामुखी तड़पकर अडे रहेंगे।
हे आत्म-ज्ञानी, ऐ संत-पुत्रों जरा न तुमको हया-शरम है।
गुलामी करने को आँख मूँदे बताओं कहा़ तक अड़े रहेंगे?

सन्दर्भ : प्रस्तुत पद्यांश 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता से लिया गया है। इस कविता के कवि अछूतानंद है।

इस कविता में दलित, अछूत वंचित वर्ग की समस्याओं और उसे उत्पन्न करने वाले लोगों की बात की गई है। कवि ने बड़े सहज भाव से अपनी पीड़ा और उत्पीड़न को उजागर किया है। इससे भारतीय समाजिक विसंगतियों को आसानी से समझा जा सकता है।

व्याख्या : कवि अपने लोगों की ताकत की ओर संकेत करते हुए कहता है कि जिसके स्वभाव में ही आग हो उसे छुपाया नहीं जा सकता। वह समय आने पर बता देगा कि वह क्या है इसलिए धधकती आग को समझो, क्योंकि निर्बल समझकर किसी के साथ अत्याचार करना ठीक नहीं है। ये ऐसे ज्वालामुखी हैं जो कभी भी फट सकते हैं इसलिए इन्हें कम करके देखना, इन्हें निर्बल समझना तुम्हारी भूल है। दरअसल तुम लोगों ने मनुष्य के अंदर जो हया-शर्म होती है उसको बेच दिया है। तुम्हारा उच्चताबोध ही तुम्हारी समस्या है, वरना एक ही समाज के लोग अपने ही लोगों के बीच गुलाम की तरह नहीं रहते।

विशेष : कवि दलित समाज की चिंता करता है।

- 'आग', 'ज्वालामुखी' शब्द रूपक के रूप में आए हैं।
- 'संत पुत्र' में व्यंग्य है।
- हया-शर्म देशी शब्द है
- भाषा प्रभाव उत्पन्न करने वाली है। कविता की भाषा चमत्कार और अहंकार की भाषा नहीं है।
- विसुवियस गिरि इटली के कैम्पनिया क्षेत्र में नेपल्स की खाड़ी में एक ज्वालामुखी है जिसे माउंट विसुवियस के नाम से जाना जाता है। इससे कवि के विश्व के भौगोलिक ज्ञान का भी पता चलता है।

*****

जरूर ही ये तुम्हारे खंद के रचे हुए हैं तमाम पाखंड
दयालु प्रभु के विधान क्या कभी भी ऐसे कड़े रहेंगे?

खुदी में आकर तुम्हीं ने इनको शहर बदर भी करा दिए हैं।
ये ऊँचेपन के गुरुर कब तक तुम्हारे दिल में भरे रहेंगे?
इन्हीं की हस्ती मिटाने वालो, मिटोगे आखिर इन्हीं के आगे।

सन्दर्भ : उपर्युक्त पंक्तियाँ 'दलित कहाँ तक पड़े रहेंगे' कविता से ली गई हैं। इस कविता के रचनाकार अछूतानंद है।

इस कविता में कवि ने तथाकथित उच्चवर्ग और उनकी पाखंड योजना पर कुठाराघात किया है। मनुष्य-जीवन में श्रेष्ठता बोध की स्थिति अत्यंत विचित्र है।

व्याख्या : कवि कहता है कि समाज के अंदर जितनी गंदगी है यह सब मनुस्मृति धारकों के पाखंड की उपज है। अगर इस धरती पर ईश्वर द्वारा नियम बनाया गया होता तो नियम इतना क्रूर नहीं होता, क्योंकि ईश्वर के यहाँ सभी मनुष्य समान हैं। यह उच्चताबोध और अहंकार ही है, जिससे हँसते-खेलते भारतीय समाज में उच्च-नीच का बीज बोया गया और इस तरह अपने ही मुल्क में दबे-कुचले लोग दर-बदर कर दिए गए। अगर इस उच्चाताबोध के घमंड को अपने अंदर से नहीं निकाला तो एक समय ऐसा आएगा कि तुम्हारी हस्ती इन्हीं दबे-कुचले लोगों के सामने मिट जाएगी क्योंकि जो दूसरों को मिटाने की कोशिश करता है स्थितियाँ बदलने पर उसका भी विनाश हो जाता है।

विशेष : इस कविता में अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझने वालों पर व्यंग्य किया गया है।

- भाषा सरल और प्रभाव उत्पन्न करने वाली है।
- कवि आक्रामक ढंग से उच्चताबोध को चुनौती देता है। यह भारतीय दलित समाज का अतिरिक्त दायित्वबोध है।
- उच्चताबोध के कारण फैलाये गए पाखंड से कवि आहत है और बदलाव की बात करता है।
- तमाम, हस्ती गुरूर, शहर इत्यादि फारसी के शब्द हैं।
- शहर-बदर शब्द मर्म को छू लेता है।
- भाषा खड़ी-बोली हिंदी है।

*****

दलित प्रवंचित अछूत जिस दिन तमाम हिलमिल के एक होंगे।
मनुस्मृति के अमानुषी ये विधान तब क्या धरे रहेंगे?
ये सारी दुनियाँ की आज कौमें हकों को अपने बँटा रही हैं।
अछूत भारत के क्या हमेशा इसी तरह से डरे रहेंगे?

सन्दर्भ : (कवि और कविता नाम)

किस प्रसंग में कहा गया है (दलित समाज की पीड़ा)

व्याख्या : (दलित समाज को अपनी स्थिति समझना)

मनुस्मृति और उसके पोषक पाखंड को उजागर करना

अखंड भारत और स्वच्छ भारत को समझना

विशेष : कविता पढ़कर और उदाहरण देख कर स्वयं करें।

*****

ये हीरा-मोती समान सिर पर तुम्हारे एक दिन जड़े रहेंगे?
जो काटते खुद हैं जड़ को अपनी, फल के चाखने की आस करते।
तुम्हीं बताओ वह केसे जीवित औ लहलहाते रहे रहेंगे?
जो चाहते हो कि शक्तिशाली हो एक दुनिया का देश भारत।
तो रोटी-बेटी से फिर 'हरिहर' कहो तो कब तक फिरे रहेंगे?

सन्दर्भ : (कवि और कविता का नाम)

भाईचारा बढ़ाने का प्रसंग है।

व्याख्या : (समाज में सामंजस्य केसे स्थापित हो)

जो इस समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है, जिसके श्रम से लोगों का जीवन चलता है। एक दिन ऐसा समय आएगा कि ये मनुवादियों से आगे निकल जायेंगे क्योंकि इन दबे-कुचले लोगों के विचार हीरा-मोती की तरह है।

(रोटी और बेटी का रिश्ता विकसित हो)

विशेष : हीरा-मोती कौन है।

किसी भी पेड़ के जड़ की क्या अहमियत है

प्रतीक विधान

रोटी-बेटी का अभिप्राय

बोध प्रश्न 1

1. अछूतानंद का जन्म किस सन् में हुआ था?

   क) 1919 ई.

   ख) 1879 ई.

   ग) 1874 ई.

   घ) 1880 ई.

2. इसमें कौन दलित कवि है?

   क) रघुवीर सहाय

   ख) भारतेंदु हरिश्चंद

   ग) अछूतानंद

   घ) तुलसीदास

3. 'दलित कहाँ तक पड़े' रहेंगे कविता किस कवि की रचना है?

   क) अछूतानंद

   ख) तुलसीराम

   ग) मोहनदास

   घ) कँवल भारती

4. कवि ने किस वर्ग को निर्लज्ज कहा है?

   क) निम्नवर्ग

   ख) उच्चवर्ग

   ग) दोनों वर्ग

   घ) इनमें से कोई नहीं

5. भारतीय समाज को किस वर्ग के लोगों ने गुमराह किया है?

   क) शुद्र वर्ग के लोग

   ख) वैश्य वर्ग

   ग) ब्राह्मण वर्ग

   घ) क्षत्रिय वर्ग

6. कवि ने दलितों को क्या सीख दी है?

   क) उच्च वर्ग की गुलामी करना

   ख) थोड़े लाभ के लिए अपने समाज की हत्या करना

   ग) जी हजूरी और गुलामी करना

   घ) दलितों को स्वयं की पहचान करना

7. कवि के अनुसार एक सभ्य समाज किस तरह का होना चाहिए?

   क) समानता और भाईचारे पर आधारित

   ख) उच्च-नीच पर आधारित

   ग) कुलीनताबोध पर आधारित

   घ) पाखंड पर आधारित

8. कवि ने किस वर्ग की समस्याओं को लेकर रचना की है?

   क) उच्च वर्ग

   ख) अछूत, वंचित व गरीब वर्ग

   ग) किसी वर्ग को नहीं

9. ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई, आंबेडकर, पेरियार जैसे महापुरुष किस वर्ग की मुक्ति की बात करते हैं?

   क) अछूत व वंचित वर्ग

   ख) वैश्य वर्ग

   ग) ब्राह्मण वर्ग

   घ) क्षत्रिय वर्ग

7.6 'सोनवा के पिंजरा' (माता प्रसाद) : वाचन

नाम मुसहरवा है, कवनउ हरवा ना,
कैसे बीते जिनगी हमार (टेक)
जेठ दुपहरिया में सोढ़िया चिराई करीं,
बहै पसिनवाँ के धार।
बेंहगी में बाँधि लेइ चललीं लकड़ियाँ,
आधे दाम माँगे दुतकार।।1।।

रहइ के जगह नाहीं, जोतइ के जमीन कहाँ,
कहें देबे गाँव से निसार।
घरवा के नमवाँ पै एकही मड़ैया में,
ससुई पतोहु परिवार।।2।।

मेघा और मगर गोह, साँप मूस खाई हम,
करी गिलहरिया शिकार।
कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,
पेटवा है पपिया भड़ार।।3।।

तनवा पै हमरे तो, फटहा बसनवा बा,
ओढ़ना के नाहीं दरकार।
जड़वा कइ राति मोरि, किकुरी लगाइ बीते,
कउड़ा है जीवन अधार।।4।।

अब ढकेलहिया में पतवा मिलत नाहीं,
कैसे बनई पतरी तोहार।
दुलटा दुलहिनी के डोली लै धावत रहे,
उहौरोजी छीनी मोटर कार।।5।।

मारे थानेदरवा बोलाइ, घरवा से हमें,
झूठइ बनावें गुनहगार।
जेलवा में मलवा उठावै मजबूर करैं,
केउ नहिं सुनत गोहार।।6।।

देशवां आजाद अहै हम तो गुलमवाँ,
हमरे लिये न सरकार।
एस कौनउ जुगुति लगावा भइया 'मितई',
हमरउ करावा उरघार।।7।।

7.7 'सोनवा के पिंजरा' कविता की अंतर्वस्तु

कविता की अंतर्वस्तु उसके विचार पक्ष और भाव पक्ष पर आधारित होती है इस खंड के अंतर्गत रचनाकार के व्यक्तित्व और रचनाधर्मिता के साथ रचना प्रक्रिया तथा लेखकीय अभिव्यक्ति को रेखांकित किया जाएगा।

7.7.1 विचार पक्ष

माता प्रसाद ने स्वयं लिखा है कि 'दलित साहित्य अपमान, शोषण और अपमान की प्रतिक्रिया की दर्दभरी और रोषपूर्ण अभिव्यक्ति है। दलित शब्द का अर्थ दबाया गया, गिराया गया, फाड़ किया गया, अपमानित, शोषित, पीड़ित, वंचित एवं बहिष्कृत आदि है। जब दलित शब्द साहित्य से जुड़ जाता है तो वह दबाये गये, उत्पीड़ित किये गये, अपमानित किये गये, शोषित किये गये और वंचितों का साहित्य हो जाता है। इस साहित्य में जहाँ पीड़ा और चीत्कार है, वहीं व्यवस्था के प्रति रोषपूर्ण प्रतिकार होता है। कवि के इस विचार से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक दलित रचनाकार किसी न किसी माध्यम से प्रताड़ित किया गया है। ऐसे में दलित साहित्य व्यक्तिगत व सामाजिक प्रताड़ना का साहित्य है।

रहइ के जगह नाहीं, जोतइ के जमीन कहाँ,
कहें देबे गाँव से निसार।
घरवा के नमवाँ पै एकही मड़ैया में,
ससुई पतोहु परिवार।।2।।

यह कविता जीवन की विसंगतियों को दर्शाती है। कवि कहता है कि हम लोगों के पास रहने के लिए अपनी जमीन नहीं है, जिसपर हम अपना फूस का घर बना सकें। खेती के लिए भी जमीन नहीं है ऐसे में जीवन पूरी तरह दूसरों पर निर्भर है। उनकी बात न मानने पर अपनी जमीन पर से भगाने की बात करने लगते हैं। असुरक्षा की भावना हमारी दुर्गति का मूल कारण है। घर के नाम पर भी हमारे पास एक फूस का घर है और परिवार में सास, बहू व अन्य लोग भी हैं। ऐसे में एक घर में गुजारा कैसे संभव है। विचार के स्तर पर यह कविता दलित जीवन की विसंगतियों की ओर संकेत करती है। जीवन की कड़वाहट, उत्पीड़न, पीड़ा जब जमीन पर दिखती है तो एक दलित चिन्तक का चिन्तन क्षोभ से भर जाता है। दलित कवि का विचारपक्ष अत्यंत विचारणीय है क्योंकि सामाजिक स्तर पर सभ्य कहलाने वाले सभी औजार बौने लगने लगते हैं। कवि लिखता है कि :

मेघा और मगर गोह, साँप मूस खाई हम,
करी गिलहरिया शिकार।
कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,
पेटवा है पपिया भड़ार।।3।।

यह कविता जीवन की विसंगतियों को दर्शाती है। दलित, वंचित, गरीब व्यक्ति व परिवार के लिए भूख काफ़ी बड़ी विडम्बना है, हमारा जीवन-यापन अत्यंत कठिन है। उदरपूर्ति के लिए वे मेढक, साँप, सुअर, चूहा, गोह, गिलहरी इत्यादि जीवों को खाते हैं क्योंकि पेट की आग किसी तरह बुझानी पड़ती है। दुःख तो तब और बड़ा हो जाता है जब फेंके हुए पत्तल में एक तरफ कुत्ते खाते हैं, दूसरी तरफ हम। यह पापी पेट हमारे जीवन में पहाड़ बन गया है। यही नहीं कवि कहता है कि –

मारे थानेदरवा बोलाइ, घरवा से हमें,
झूठइ बनावें गुनहगार।
जेलवा में मलवा उठावै मजबूर करैं,
केउ नहिं सुनत गोहार।।6।।

कवि का दर्द तब और असहनीय हो जाता है जब थानेदार थाने में बुलाकर बिना किसी अपराध के मारता है और झूठे आरोप लगाकर दलितों से अपना मैला उठवाता है। जीवन की विद्रूपताएँ असहनीय हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति उनकी (दलितों की) बिनती नहीं सुनता। कविता का विचार पक्ष इतना प्रभावित करता है कि मन में प्रश्न उठने लगता है कि इस तरह का समाज क्या सभ्य होता है? क्या यही विश्व गुरु बनने की नींव है? कविता का विचारपक्ष करूण और चिंतनीय है क्योंकि :

''देशवां आजाद अहै हम तो गुलमवाँ,
हमरे लिये न सरकार।
एस कौनउ जुगुति लगावा भइया 'मितई',
हमरउ करावा उरघार।।7।।''

मसलन कविता में जीवन के उत्पीड़न को बखूबी देखा व समझा जा सकता है।

7.7.2 भाव पक्ष

'सोनवा के पिंजरा' एक प्रतीक और लोकोक्ति भी है। जैसे किसी तोते या पक्षी को सोने के पिंजरे में कैद कर दूध-भात दिया जाय तो उसे उतना अच्छा नहीं लगेगा जितना वह उन्मुक्त होकर महसूस करता है। यह कविता भी इसी भाव पर आधारित है। भारतीय समाज की विसंगतियाँ दबे-कुचले वर्ग के लिए सुखात्मक नहीं हैं। कवि कहता है कि उसका कोई भी सहारा नहीं है। ऐसे जीवन कैसे कटेगा? यह अत्यंत चिंता का विषय है। जेठ की दोपहरी में लकड़ी चीरते समय पूरा शरीर पसीने से भीगा हुआ रहता है। चिरी हुई लकड़ी को बहंगी पर लादकर जब उसे बेचने के लिए उसकी जाति के लोग जाते हैं तो खरीददार आधे दाम में माँगता है और कुछ कहने पर दुत्कार कर भगा देता है।

कवि कहता है कि उसके पास रहने के लिए जगह नहीं है और न ही खेती के लिए जमीन है, उसपर जमींदार बार-बार अपनी जमीन पर से भगाने की बात करता है। घर के नाम पर भी एक ही मड़ई है और उसके परिवार में सास-ससुर तथा पूरा परिवार है। ऐसे में एक ही मड़ई में सभी का रहना कैसे संभव है? उन लोगों का जीवन-यापन अत्यंत कठिन है। वे उदरपूर्ति के लिए मेढक, साँप, सूअर, चूहा, गोह, गिलहरी इत्यादि जीवों को खाते

हैं, क्योंकि पेट की आग किसी तरह बुझानी पड़ती है। दुःख तो तब और बड़ा हो जाता है जब फेंके हुए पत्तल में एक तरफ कुत्ते खाते हैं दूसरी तरफ वे। यह पापी पेट उनके जीवन में पहाड़ बन गया है :

''तनवा पै हमरे तो, फटहा बसनवा बा,
ओढ़ना के नाहीं दरकार।
जड़वा कइ राति मोरि, किकुरी लगाइ बीते,
कउड़ा है जीवन अधार।।4।।''

अर्थात् उनके (दलितों के) शरीर पर कपड़ा के नाम पर एक फटा हुआ वस्त्र है, जबकि ओढ़ने के लिए कुछ नहीं है। जब ठंढ लगती है तो वे सिकुड़ जाते हैं, फिर भी ठंड बर्दास्त नहीं होती, जीवन यदि किसी तरह बचता है तो उसमें आग (अंगीठी) की अहम भूमिका है।

जीवन-यापन के लिए प्राकृतिक सम्पति भी छीन ली गई। अब तो पत्ते भी नहीं हैं कि पत्तल बनाकर जीवन जिया जाए। शादी-विवाह के समय दलित डोली के कहार का काम कर लिया करते थे, लेकिन अब मोटरकार ने उनका वह भी रोजगार छीन लिया। जीवन की परेशानी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कवि कहता है कि:

''अब ढकेलहिया में पतवा मिलत नाहीं,
कैसे बनई पतरी तोहार।
दुलहा दुलहिनी के डोली लै धावत रहे,
उहौरोजी छीनी मोटर कार।।5।।''

कवि का दर्द तब और असहनीय हो जाता है, जब थानेदार थाने में बुलाकर बिना किसी अपराध के मारता है और झूठे आरोप लगाकर उससे अपना मैला उठवाता है। जीवन की विद्रूपताएँ असहनीय हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति उसकी बिनती नहीं सुनता है।

भारत गुलामी से आजाद हो गया लेकिन दलित गुलाम ही रह गए। गुलामी के दिनों में भी वे इन्हीं जमींदारों के गुलाम थे और आजादी के बाद भी इन्हीं के गुलाम हैं। ऐसे में उन लोगों के जीवन में कैसे सुधार हो? कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे ये लोग उन लोगों को आदमी समझ सके। कविता के मर्म को समझने के लिए दबे-कुचले लोगों के जीवन के प्रति स्वस्थ समझ रखनी होगी, अन्यथा कविता का भाव पक्ष एकांगी हो जायेगा।

7.8 'सोनवा के पिंजरा' : भाषा और शिल्प

कविता और भूख को एक साथ निरूपित करना आसान नहीं है। यह तभी संभव है, जब यातना व्यक्तिगत हो। दलित साहित्य चिंतन व्यक्ति से होकर समाज तक पहुँचता है। जहाँ वह प्रश्न करता है। आत्म उत्पीड़न की सामाजिक अभिव्यक्ति दलित रचनाकारों को श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रक्रिया में भाषा और शिल्प की अहम भूमिका है। 'सोनवा के पिंजरा' एक प्रतीक और लोकोक्ति भी है। यह कविता भी इसी भाव पर आधारित है। भारतीय समाज की विसंगतियाँ दबे-कुचले वर्ग के लिए बहुत सुखात्मक नहीं हैं। अध्ययन की दृष्टि से

पहले भाषिक पक्ष पर विचार करते हैं। कविता की भाषा से ही कविता के मर्म तक पहुँचा जा सकता है।

''जेठ दुपहरिया में सोढ़िया चिराई करीं,
बहै पसिनवाँ के धार।
बेंहगी में बाँधि लेइ चललीं लकड़िया,
आधे दाम माँगे दुतकार।।1।।''

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि कहता है कि जेठ की दोपहरी में लकड़ी चीरते समय उसका पूरा शरीर पसीने से भीगा हुआ है। चीरी हुई लकड़ी को बहंगी पर लाद कर जब उसे बेचने के लिए वह जाता है तो खरीददार आधे दाम में माँगता है और कुछ कहने पर दुत्कार कर भगा देता है। अर्थात् सहज होते हुए भी कवि की भाषा मजदूर व श्रमिक के श्रम को सहज भाव से निरूपित करती है। कविता में व्यंग्य का भी प्रयोग किया गया है जैसे :

''देशवां आजाद अहै हम तो गुलमवाँ,
हमरे लिये न सरकार।''

आजाद भारत में गुलाम लोग! यह कैसा लोकतंत्र है? यही नहीं कवि हमारे विश्वगुरु होने पर भी व्यंग्य करता है। 'जेलवा में मलवा उठावै मजबूर करैं' और 'कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,' इन दोनों पक्तियों से हमारी महान सभ्यता और विश्वबन्धुत्व की कलई खुल जाती है। कविता सभ्य कहे जाने वाले लोगों पर व्यंग्य करती है। मनुष्य जीवन और कुत्ते के जीवन में कोई अंतर दिखाई नहीं देता है। यही नहीं कवि की भूख विश्वबंधुत्व की धारणा पर प्रश्न खड़ा करती है।

''मेघा और मगर गोह, साँप मूस खाई हम,
करी गिलहरिया शिकार।
कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,
पेटवा है पपिया भड़ार।।3।।''

कविता के भीतर 'नाम मुसहरवा है' लिखने से एक जाति का दुख पूरे समाज का दुख बन जाता है। पापी पेट का पहाड़ होना लोकोक्ति है। भाषा सरल और सहज है। कविता के मर्म तक पहुँचने में भाषा साथ देती है।

'कुकुर', 'मड़ई', 'बेंहगी', 'कउड़ा', 'मितई' इत्यादि देशज शब्द हैं। कविता की भाषा कविता के मर्म तक पहुँचकर हमें प्रभावित करती है। भाषा की गद्यात्मकता दलितों के जीवन की करुणा और विसंगतियों से हमारा साक्षात्कार कराती है। कवि की भाषा में क्षेत्रीयता का सौन्दर्य है। बोलचाल की भाषा और संबोधनपरक शब्दों के प्रयोग से कविता जीवंत हो गई है।

देशवां आजाद अहै हम तो गुलमवाँ,
हमरे लिये न सरकार।
एस कौनउ जुगुति लगावा भइया 'मितई',
हमरउ करावा उरधार

भारत गुलामी से आजाद हो गया लेकिन दलित, वंचित और कुंठित लोग गुलाम ही रह गए। गुलामी के दिनों में भी इन्हीं जमींदारों के गुलाम थे और आजादी के बाद भी इन्हीं के गुलाम हैं। ऐसे में उन लोगों के जीवन में कैसे सुधार हो सकता है। कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे ये लोग दलितों को आदमी समझ सकें।

''नाम मुसहरवा है, कवनउ हरवा ना,
कैसे बीते जिनगी हमार (टेक)
जेठ दुपहरिया में सोढ़िया चिराई करीं,
बहै पसिनवाँ के धार।
बेंहगी में बाँधि लेइ चललीं लकड़ियाँ,
आधे दाम माँगे दुतकार'' ।।1।।

''रहइ के जगह नाहीं, जोतइ के जमीन कहाँ,
कहें देबे गाँव से निसार।
घरवा के नमवाँ पै एकही मड़ैया में,
ससुई पतोहु परिवार'' ।।2।।

''मेघा और मगर गोह, साँप मूस खाई हम,
करी गिलहरिया शिकार।
कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,
पेटवा है पपिया भड़ार'' ।।3।।

''तनवा पै हमरे तो, फटहा बसनवा बा,
ओढ़ना के नाहीं दरकार।
जड़वा कइ राति मोरि, किकुरी लगाइ बीते,
कउड़ा है जीवन अधार'' ।।4।।

इन पक्तियों के शिल्प-विधान पर ध्यान दिया जाए तो लगता है कि कवि अपने जीवन की विसंगतियों की चर्चा कर रहा है। सामाजिक असंतोष कविता के शिल्प को और मजबूत बनाता है और हम समाज के बहुत बड़े हिस्से की समस्याओं को आसानी से समझ सकते हैं। यह कविता सीधे सवाल और संघर्ष की अभिव्यक्ति और उपज है। कविता में छंद, तुक और लय का ध्यान रखा गया है लेकिन सामाजिक, संघर्ष और उत्पीड़न से मुक्ति की बुनियाद पर लिखी गई यह कविता सहज रूप से समस्याओं की ओर संकेत कर देती है। भाषा-शिल्प की दृष्टि से 'सोनवा के पिंजरा' काफी सशक्त कविता है।

7.9 'सोनवा के पिंजरा' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

रहइ के जगह नाहीं, जोतइ के जमीन कहाँ,
कहें देबे गाँव से निसार।
घरवा के नमवाँ पै एकही मड़ैया में,
ससुई पतोहु परिवार।।2।।

संदर्भ : यह पद्यांश 'सोनवा के पिंजरा' कविता से लिया गया है। इस कविता के कवि माता प्रसाद है।

यह कविता जीवन की विसंगतियों को दर्शाती है।

व्याख्या : प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने दलित जाति की समस्याओं का उल्लेख किया है। कवि कहता है कि उन लोगों के पास रहने के लिए अपनी जमीन नहीं, जिस पर वे फूस का अपना घर बना सकें। खेती के लिए भी जमीन नहीं है ऐसे में जीवन पूरी तरह दूसरों पर निर्भर है। उनकी बात न मानने पर वे अपनी जमीन पर से भगाने की बात करने लगते हैं। असुरक्षा की भावना दलितों की दुर्गति का मूल कारण है। घर के नाम पर भी उनके पास एक फूस का घर है और परिवार में सास, पतोह व अन्य लोग भी हैं। ऐसे में एक घर में गुजारा कैसे संभव है।

विशेष : कवि ने जमींदारी व्यवस्था से उत्पन्न निम्नवर्ग की समस्याओं को दर्शाया है। कविता पाठक के मर्म को छूती है और प्रभाव उत्पन्न करती है। भाषा सरल है। यह खड़ीबोली हिंदी की एक बोली है। मड़ई देशज शब्द है। अभावग्रस्त परिवार व जाति की समस्याओं को बताया गया है।

मेघा और मगर गोह, साँप मूस खाई हम,
करी गिलहरिया शिकार।
कुकुरा के साथ धाई जुठली पतरिया पै,
पेटवा है पपिया भड़ार।।3।।

संदर्भ : उपर्युक्त पंक्तियाँ 'सोना के पिंजरा' कविता से ली गई हैं। इस कविता के कवि माता प्रसाद हैं।

यह कविता जीवन की विसंगतियों को दर्शाती है। दलित, वंचित, गरीब व्यक्ति व परिवार के लिए भूख कितनी बड़ी विडम्बना है, इसको इसमें बताया गया है।

व्याख्या : प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने दलित जाति की समस्याओं का उल्लेख किया है। भूख मिटाने के लिए वंचित समाज को क्या-क्या खाना पड़ता है, यह समस्या दिखाई गई है। कवि कहता है कि उनका जीवन-यापन अत्यंत कठिन है। उदर पूर्ति के लिए वे मेढक, साँप, सूअर, चूहा, गोह, गिलहरी इत्यादि जीवों को खाते हैं; क्योंकि पेट की आग किसी तरह बुझानी पड़ती है। दुःख तो तब और बड़ा हो जाता है जब फेंके हुए पतल में एक तरफ कुत्ते खाते हैं दूसरी तरफ दलित। यह पापी पेट उनके जीवन में पहाड़ बन गया है।

विशेष : कविता सभ्य कहे जाने वाले लोगों पर व्यंग्य करती है। यहाँ मनुष्य-जीवन और कुत्ता में कोई अंतर दिखाई नहीं देता है। कवि की भूख विश्वबन्धुत्व की धारणा पर प्रश्नचिह्न लगाती है। एक जाति का दुःख पूरे समाज का दुःख बन जाता है। गेंह एक ऐसा जीव है जो साँप की प्रजाति में आता है। पापी पेट का पहाड़ होना लोकोक्ति है। भाषा सरल और सहज है। कविता के मर्म तक पहुँचने में भाषा साथ देती है।

'कुकर' देशज शब्द है।

*****

मरे थानेदरवा बोलाइ, घरवा से हमें,
झूठह बनावें गुनहगार।
जेलवा में उठावै मजबूर करैं,
केउ नहिं सुनत गोहार।।6।।

सन्दर्भ : कवि का नाम और कविता

व्याख्या : (भारतीय शासन व्यवस्था और वंचित समाज)

कवि का दर्द तब और असहनीय हो जाता है जब थानेदार थाने में बुलाकर बिना किसी उपराध के मारता है और झूठे आरोप लगाकर उनसे अपना मैला उठता है। जीवन की विद्रूपताएँ असहनीय है क्योंकि कोई भी व्यक्ति उनकी बिनती नहीं सुनता।

विशेष : कविता पढ़कर स्वयं भरें।

*****

देशवां आजाद अहै हम तो गुलमवाँ,
हमारे लिये न सरकार।
एस कोनउ जुगुति लगावा भइया 'मितई',
हमरउ करावा उरघार।।7।।

सन्दर्भ : कवि का नाम और कविता

व्याख्या : (आजाद भारत का सपना और दलित, वंचित, दबे-कुचले व गरीब समाज)

भारत गुलाम से आजाद हो गया लेकिन हम लोग गुलाम ही रह गए। गुलामी के दिनों में भी इन्हीं जमींदारों के गुलाम थे और आजादी के बाद भी इन्हीं के गुलाम हैं, ऐसे में दलितों के जीवन में कैसे सुधार हो। कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे ये लोग उन लोगों को आदमी समझ सके।

विशेष : कविता पढ़कर स्वयं करे।

*****

बोध प्रश्न 2

10. 'हमरे लिये न सरकार' किसकी पंक्ति है?

    क) अछूतानंद

    ख) माता प्रसाद

    ग) श्यौराज सिंह बेचैन

    घ) कुसुम वियोगी

11. इसमें कौन दलित कवि नहीं है?

    क) धूमिल

    ख) कुसुम वियोगी

ग) माता प्रसाद

घ) अछूतानंद

12. 'सोनवा के पिंजरा' कविता किस कवि की रचना है?

क) अछूतानंद

ख) तुलसीराम

ग) मोहनदास

घ) माता प्रसाद

13. कवि ने किसके लिए कहा है – "झूठइ बनावें गुनहगार"

क) थानेदार

ख) जमींदार

ग) महाजन

घ) इनमें से कोई नहीं

14. 'पेटवा है पपिया भंडार' – किसने कहा है?

क) अछूतानंद

ख) कुसुम वियोगी

ग) माता प्रसाद

घ) रैदास

15. कवि ने कविता में किस वर्ग की समस्या पर प्रकाश डाला है?

क) उच्च वर्ग

ख) मध्य वर्ग

ग) निम्न वर्ग

घ) तीनों वर्ग

16. कवि ने आजाद देश में भी गुलाम किसको कहा है?

क) स्त्रियों को

ख) दलितों को

ग) मध्य वर्ग को

घ) किसानों को

7.10 'श्रम की रेखाएँ' (कुसुम वियोगी) : वाचन

ऐसा न था
कि पहले मेरे पास
बोलने को मुंह में शब्द न थे
या फिर
सुनने को कान

थीं तो केवल
हथेली पर खिंची
श्रम की रेखाएँ
जिन्हें
सुविधा के अभाव में
कभी जाँच न सका

आज मेरे पास
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है
बोलने को शब्द हैं
सुनने को कान भी

हथेली में
पहले भी थीं
श्रम की रेखाएँ
आज भी हैं

लेकिन
अब मेरे हाथ में
कलम है
डंडा है
झंडा है
अनगिनत नारे हैं
जिन्हें पहले
जुबान पर नहीं ला सकता था
अब
खुले आकाश में
उछाल सकता हूँ।

7.11 'श्रम की रेखाएँ' कविता की अंतर्वस्तु

किसी भी रचना की अंतर्वस्तु में मुख्यतः दो पक्ष (विचार पक्ष और भाव पक्ष) महत्त्वपूर्ण होते हैं। अध्ययन की दृष्टि से इन्ही दो पक्षों के माध्यम से 'श्रम की रेखाएँ', कविता की अंतर्वस्तु का हम मूल्यांकन करेंगे।

7.11.1 विचार पक्ष

कविता और जीवन को एक साथ देखना आसान काम नहीं है। डॉ. कुसुम वियोगी जिनका पूरा नाम कमलेश कुमार कुसुम है, का रचना संसार समतल जमीन पर व्यापक रूप में फैला हुआ है।

डॉ. कुसुम वियोगी एक कवि के साथ कथाकार, बाल साहित्यकार व संपादक भी हैं। इनका जीवन लगातार लेखन और जरूरतमंद की मदद के लिए समर्पित है। कुसुम वियोगी जी का रचना-संसार अत्यंत विस्तृत है। इन्होंने दलित, वंचित व असहाय लोगों की समस्याओं का सबसे ज्यादा उल्लेख किया है। दलित जीवन की विसंगतियाँ इनकी कविता में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। इकाई के इस खंड में हम 'श्रम की रेखाएँ' कविता का अध्ययन करेंगे। श्रम और श्रम के बाद खुद को मजबूत समझना कविता का केन्द्रीय विषय है।

''आज मेरे पास
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है
बोलने को शब्द है
सुनने को कान भी''

कवि ने विचार अर्जित किया है, दुःख, पीड़ा, भय, तनाव इत्यादि ने कवि को अभिव्यक्ति के लिए शब्द दिये हैं। कवि का दलित चिंतन अनायास नहीं है, बल्कि उत्पीड़न के लम्बे दौर देखने के बाद उसने बोलने और सुनने की हिम्मत अर्जित की है।

कवि का विचार है कि अब हमारे पास सिर्फ बोलने के लिए शब्द ही नहीं हैं, बल्कि संघर्ष के लिए उचित मानदंड भी हैं। लम्बे संघर्ष के बाद उसके पास झंडा और डंडा दोनों है, अर्थात् आज दबे-कुचले वर्ग की बात सुनी जा रही है।

''अब मेरे हाथ में
कलम है
डंडा है
झंडा है''

अब कवि को ऐसी आजादी है कि अपने विचारों को वह आम जन तक पहुँचा सकता है। यह अतिरिक्त दायित्वबोध ही कविता के विचार पक्ष को मजबूत बनाता है। देखने में छोटी लगने वाली कविता में दर्द है तो संघर्ष के साथ बोलने की आजादी भी है।

''जिन्हें पहले
जुबान पर नहीं ला सकता था
अब
खुले आकाश में
उछाल सकता हूँ''

7.11.2 भाव पक्ष

'श्रम की रेखाएँ' कविता का भाव पक्ष सरल और बेजोड़ है। सामान्य तरीके से भी कविता में जीवन की विसंगतियाँ दिखाई जा सकती हैं। कवि ने मानवीय मूल्यों के साथ व्यक्ति

की भूमिका को भी रेखांकित किया हैं। 'गागर में सागर' भरने जैसी कविता अपने छोटे कलेवर में भी मर्मस्पर्शी है। समय के साथ चीजें बदलती हैं। दलित समाज के पास शब्द भी थे अर्थात् अपनी बात रखने के उनके अलग ढंग थे लेकिन उसे अपनी बात रखने नहीं दी गई। साथ ही उनके पास कान भी थे जिनसे वे उच्चताबोध संबंधी विचारों और दलितों के उत्पीड़न दोनों को सुन रहे थे, महसूस कर रहे थे लेकिन भारतीय उच्चताबोध वाले समाज ने ऐसी धारणा बना रखी थी कि दबे-कुचले, वंचित गरीब इत्यादि के पास सोचने-समझने के लिए ज्ञान नहीं है और न ही उनके पास कोई विचार है। उनका मानना था कि दलितों ने अपनी हथेली पर सिर्फ श्रम की रेखा बनाई है, जिससे वे सवर्णों की सेवा कर सकें। कविता उस जगह पर चोट करती है जहाँ कवि कहता है कि श्रम की रेखाओं को कभी सही दिशा में काम नहीं करने दिया गया। दलितों के अंदर जागरुकता आने ही नहीं दी गई। ताकत और तिकड़म से दबे-कुचले लोगों के अंदर अँधेरा भरने की कोशिश की गई, तथ्यों को समझते हुए भी उन्हें मूर्ख समझा गया। अर्थात् उनके श्रम और विचार दोनों को तरजीह नहीं दी गई।

ऐसे में कवि घोषणा करता है कि अब उसे अभिव्यक्ति की आजादी मिल गई है, जो संवैधानिक है इसलिए अब वह अंदर के भ्रम और बाहर के तिकड़म पर सवाल उठा सकता है। अर्थात् अब उसके पास नाक, कान आँख व हथेली सब कुछ है और वह सब उसका अपना है, उससे वह अपने जीवन की रेखा खुद निर्मित करेगा।

''आज मेरे पास
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है
बोलने को शब्द हैं
सुनने को कान भी''

कवि का मानना है कि दलितों के हाथ में जो श्रम की रेखाएँ हैं, वे केवल सवर्णों की सेवा करने के लिए नहीं हैं, बल्कि इससे अब वे कलम उठाएँगे, झंडा उठाएँगे और जरूरत पड़ी तो डंडा भी उठाएँगे अर्थात उनके अंदर जो भय भरा गया था वह अब मिटने लगा है और उन लोगों को सही-गलत पर बोलने के लिए जुबान मिल गई है। यह ताकत उधार ली गई ताकत नहीं है। उन्होंने इसके लिए संघर्ष और विवेक का रास्ता चुना है।

कविता वहाँ और मुखर हो जाती है जब कवि कहता है कि अब उसके पास अनगिनत नारे हैं, अर्थात् उसकी संवादहीनता अब ख़त्म हो रही है। उसने अपने हक़ की लड़ाई के लिए जुबान विकसित कर लिया है इसलिए जो बात वह अपनी जुबान तक नहीं ला सकता था आज उसे हवा में उछाल सकता है।

''लेकिन
अब मेरे हाथ में
कलम है
डंडा है
झंडा है
अनगिनत नारे हैं
जिन्हें पहले

जुबान पर नहीं ला सकता था
अब
खुले आकाश में
उछाल सकता हूँ''

मसलन जीवन की विसंगतियों ने ही दलितों को अपने को समझने की दिशा दी है। यद्यपि भारतीय समाज में ताकतवर लोग समय के साथ अपने हथियार भी बदलते रहे हैं, लेकिन उन हथियारों के प्रभाव को वे भली-भांति समझने लगे हैं। ऐसे में कवि द्वारा कही गई हथेली पर श्रम की रेखाओं की बात सही है।

7.12 'श्रम की रेखाएँ' : भाषा और शिल्प

'श्रम की रेखाएँ' कविता भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण कविता है। इस कविता में कवि ने बहुत ही कम शब्दों में श्रम के महत्त्व को समझा दिया है। प्रभाव की दृष्टि से कविता धीरे-धीरे गंभीर होती हुई अंत में निष्कर्ष तक पहुँचती है। कविता के मर्म तक आसानी से पहुँचाने में भाषा की सहजता महत्त्वपूर्ण है। सरल और सहज भाषा में दलितों की समस्याओं और उनके समाधान का जिक्र है।

''ऐसा न था
कि पहले मेरे पास
बोलने को मुंह में शब्द न थे
या फिर
सुनने को कान''

मुँह और कान प्रतीक के रूप में कविता में आए हैं, जो दबे कुचले भारतीय समाज की तरफ संकेत करते हैं। मसलन हथेली पर श्रम की रेखाएँ दलित समाज की ताकत की तरफ संकेत है जिनकी किन्ही कारणों से समाज में गिनती नहीं हुई।

''हथेली में
पहले भी थीं
श्रम की रेखाएँ
आज भी हैं''

अर्थात् 'श्रम की रेखाएँ' विचार और समय के बदलते परिवेश की कविता है इसलिए कवि की भाषा हर उस जगह ताकत अर्जित करती है जहाँ-जहाँ उसे संविधान और आंबेडकर दिखते हैं तभी तो वह अपनी बात हवा में भी उछाल सकता है :

''अब
खुले आकाश में
उछाल सकता हूँ''

अतः हथेली पर खिंची रेखाओं को जाँचने का प्रयास कविता को अधिक मार्मिक बना देता है और इससे अभावग्रस्त जीवन की बारीकियों को समझा जा सकता है।

शैली की दृष्टि से भी कविता महत्त्वपूर्ण है। कवि ने 'मैं' शैली में निरंतर आगे बढ़ने की प्रक्रिया को रेखांकित किया है। कविता के भीतर आत्मबोध के साथ समाजबोध भी है, जहाँ कवि आशा की दृष्टि से देख रहा है। कवि की अभिव्यंजना शैली सरल होने पर भी 'गागर में सागर' जैसी है। कविता में भाषा की अनगढ़ता नहीं है बल्कि शहरी बारीक़ भाषा का प्रयोग है। कुसुम वियोगी जी ने बताया है कि जीवित और स्वतंत्र समाज तभी संभव है जब उसे अपनी बात को रखने की आजादी हो अर्थात् उसके पास अपनी भाषा हो। ऐसे में कवि घोषणा करता है कि अब उन्हें अभिव्यक्ति की आजादी मिल गई है, जो संवैधानिक है इसलिए अब अंदर के भ्रम और बाहर के तिकड़म पर वे सवाल उठा सकते हैं। उनके पास नाक, कान आँख व हथेली सब कुछ हैं और वे सब उनके अपने हैं। उससे वे अपने जीवन की रेखा खुद विकसित करेंगे।

7.13 'श्रम की रेखाएँ' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या

ऐसा न था
कि पहले मेरे पास
बेलने को मुंह में शब्द न थे
या फिर सुनने को कान

थी तो केवल
हथेली पर खिंची
श्रम की रेखाए
जिन्हें
सुविधा के अभाव में
कभी जाँच न सका

सन्दर्भ : उपर्युक्त पंक्तियाँ 'श्रम की रेखाएँ' नामक कविता से ली गई हैं। यह कविता टुकड़े–तुकडे दंश काव्य संग्रह से लिया गया है, जिसके रचनाकार कुसुम वियोगी हैं।

इस कविता में कवि दबे-बुचले वर्ग में शक्ति की अपार संभावनाएँ दिखाता है अर्थात् खुद की जुबान में अपनी बात रखना इस कविता का केन्द्रीय भाव है।

व्याख्या : कवि कहना चाहता है कि समय के साथ चीजें बदलती हैं। दलित समाज के पास शब्द भी थे अर्थात अपनी बात रखने का उनका ढंग था लेकिन उन्हें रखने नहीं दिया गया। उनके पास कान भी थे जिससे हमारे उत्पीड़न को वे सुन रहे थे, महसूस कर रहे थे लेकिन भारतीय मनुवादी समाज ने ऐसी धारणा बना ली थी कि दबे-बुचले, वंचित गरीब इत्यादि के पास सोचने-समझने के लिए न ज्ञान है और न ही कोई विचार है। इन्होंने अपनी हथेली पर सिर्फ श्रम की रेखा बनाई है, जिससे हमारी सेवा कर सकें। कविता उस जगह पर चोट करती है जहाँ कवि कहता है कि श्रम की रेखाओं को कभी सही दिशा में काम नहीं करने दिया गया। हमारे अंदर जागरूकता आने ही नहीं दी गई। ताकत और तिकड़म से हमारे अंदर अँधेरा भरने की कोशिश की गई। तथ्यों को समझते हुए भी हमें मूर्ख के बराबर समझा गया अर्थात् हमारे श्रम और विचार दोनों को तरजीह नहीं दिया गया।

विशेष : कविता के मर्म तक आसानी से पहुँचा जा सकता है।

सरल और सहज भाषा में अस्सी प्रतिशत लोगों की समस्याओं और उसके समाधान का जिक्र है। अभिव्यक्ति और सुनकर सच्चाई को समझने के लिए 'मुँह' और 'कान' प्रतीक हैं जो दबे कुचले भारतीय समाज की दयनीय स्थिति की तरफ संकेत करते हैं। हथेली पर श्रम की रेखाएँ दलित समाज की ताकत की तरफ संकेत देती हैं जिनको किन्हीं कारणों से समाज में महत्त्व नहीं दिया गया।'श्रम की रेखाएँ' विचार और समय के बदलते परिवेश की कविता है।भाषा खड़ी बोली हिंदी है। हथेली पर खिंची रेखाओं को जाँचने का प्रयास कविता को अधिक मार्मिक बना देती है। अभावग्रस्त जीवन की बारीकियों को समझा जा सकता है। कवि ने 'गागर में सागर' भर दिया है।

*****

आज मेरे पास
अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है
बोलने को शब्द है
सुनने को कान भी

हथेली में
पहले भी थी
श्रम की रेखाएँ
आज भी है

सन्दर्भ : उपर्युक्त पंक्तियाँ 'श्रम की रेखाएँ' नामक कविता से ली गई हैं। यह कविता 'टुकड़े-तुकडे दंश' काव्य संग्रह से ली गई है, जिसके रचनाकार कुसुम वियोगी हैं।

इस कविता में कवि दबे-कुचले वर्ग में शक्ति की अपार संभावनाएँ दिखाता है। अर्थात् खुद की जुबान में अपनी बात रखना इस कविता का केन्द्रीय भाव है।

व्याख्या : इस कविता में कुसुम वियोगी जी ने बताया है कि जीवित और स्वतंत्र समाज तभी संभव है जब उसे अपनी बात रखने की आजादी हो। ऐसे में कवि घोषणा करता है कि अब अभिव्यक्ति की आजादी मिल गई है, जो संवैधानिक है इसलिए अब अंदर का भ्रम और बाहर के तिकड़म पर सवाल उठाया जा सकता है अर्थात हमारे पास नाक, कान आँख व हथेली सब कुछ हैं और वे सब मेरे अपने हैं। उससे हम अपने जीवन की रेखा खुद विकसित करेंगे।

विशेष : समय के साथ वंचित वर्ग के वैचारिक बदलाव इस पद्यांश का केन्द्रीय भाव है। कविता के मर्म तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। सरल और सहज भाषा में अस्सी प्रतिशत लोगों की समस्याओं और उनके समाधान का जिक्र है। मुँह और कान प्रतीक हैं जो दबे कुचले भारतीय समाज की तरफ संकेत करते हैं 'श्रम की रेखाएँ' विचार और समय के बदलते परिवेश की कविता है। भाषा खड़ी बोली हिंदी है।

*****

लेकिन
अब मेरे हाथ में
कलम है
डंडा है
झंडा है
अनगिनत नारे
जिन्हें पहले
जुबान पर नहीं ला सकता था
अब
खुले आकाश में
उछाल सकता हूँ।

सन्दर्भ : (कवि और कविता का नाम)

व्याख्या : (हमारी संवादहीनता अब खत्म हो रही है। हमने अपने हक की लड़ाई के लिए जुबान विकसित कर लिये हैं इसलिए जो बात हम अपनी जुबान तक नहीं ला सकते थे आज उसे हवा में उछाल सकते हैं।)

विशेष : (कविता पढ़कर स्वयं करें।

*****

बोध प्रश्न 3

17. 'श्रम की रेखाएँ' किस कवि की रचना है?

    क) कुसुम वियोगी

    ख) माता प्रसाद

    ग) कँवल भारती

    घ) अछूतानंद

18. इस कविता में कवि किसकी स्वतंत्रता की बात करता है?

    क) उच्चताबोध की

    ख) संघवाद की

    ग) अभिव्यक्ति की

    घ) तानाशाही की

19. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलने पर कवि क्या कर सकता है?

    क) उसे जमीन में मिला सकता है

    ख) हवा में उछाल सकता है

ग) पानी में डूबा सकता है

घ) दूसरों पर अत्याचार कर सकता है

20. यह कविता किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है?

क) दबे-कुचले व वंचित वर्ग

ख) अमीर वर्ग

21. इनमें से कौन-सी रचना कुसुम वियोगी की नहीं है?

क) दुकड़े-टुकड़े दंश

ख) लालबत्ती

ग) व्यवस्था के विषधर

घ) मुर्दहिया

22. कुसुम वियोगी कवि के साथ-साथ कहानीकार भी हैं।

क) सही

ख) गलत

23. 'सुविधा के अभाव में, कभी जाँच न सका' किस कवि की पंक्तियाँ हैं?

क) तुलसीराम

ख) कुसुम वियोगी

ग) मोहन दास

घ) अछूतानंद

24. कवि के हाथ में अब क्या है ?

क) झंडा ,डंडा ,कलम

ख) श्रम की रेखाएँ

ग) क और ख दोनों

7.14 सारांश

इस इकाई में तीन दलित कवियों और उनकी कविता पर विचार किया गया है। इस इकाई के अध्ययन के बाद अब आप :

- दलित कविता की मूल संवेदना समझ सकते हैं।
- कवियों की चयनित कविताओं की अंतर्वस्तु को समझ सकते हैं।
- कविता की भाषा और शिल्प का विश्लेषण कर सकते हैं।
- पाठ्यक्रम में निर्धारित कवियों का काव्य-वैशिष्ट्य बता सकते हैं।

7.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. ख 2. ग 3. क 4. ख 5. ग 6. घ 7. क 8. ख 9. क

बोध प्रश्न 2

10. ख 11. क 12. घ 13. क 14. ग 15. ग 16. ख

बोध प्रश्न 3

17. क 18. ग 19. ख 20. क 21. घ 22. क 23. ख 24. ग

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 स्त्री कविता : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 कीर्ति चौधरी की कविता 'सीमा रेखा'

8.2.1 कीर्ति चौधरी का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

8.2.2 'सीमा रेखा' कविता का वाचन

8.2.3 'सीमा रेखा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

8.2.4 'सीमा रेखा' कविता की व्याख्या

8.3 कात्यायनी की कविता 'सात भाइयों के बीच चंपा'

8.3.1 कात्यायनी का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

8.3.2 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता का वाचन

8.3.3 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

8.3.4 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की व्याख्या

8.4 अनामिका की कविता 'बेजगह'

8.4.1 अनामिका का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

8.4.2 'बेजगह' कविता का वाचन

8.4.3 'बेजगह' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

8.4.4 'बेजगह' कविता की व्याख्या

8.5 निर्मला पुतुल की कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!'

8.5.1 निर्मला पुतुल का जीवन संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

8.5.2 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता का वाचन

8.5.3 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

8.5.4 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता की व्याख्या

8.6 सारांश

8.7 उपयोगी पुस्तकें

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

'अस्मिता विमर्श और हिन्दी साहित्य' नामक पाठ्यक्रम के खंड–3 'विमर्श मूलक कविता' की यह आठवीं इकाई है। यह इकाई स्त्री संबंधी कविता पर आधारित है। इसके अंतर्गत कीर्ति चौधरी की कविता 'सीमा रेखा', कात्यायनी की कविता 'सात भाइयों के बीच चंपा', अनामिका की कविता 'बेजगह' और निर्मला पुतुल की कविता

'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' इन चारों कविताओं पर आधारित यह इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कीर्ति चौधरी के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे;
- 'सीमा रेखा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना लिख सकेंगे;
- 'सीमा रेखा' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या कर सकेंगे;
- कात्यायनी के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे,
- 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना लिख सकेंगे;
- अनामिका के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे;
- 'बेजगह' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना लिख सकेंगे;
- 'बेजगह' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या कर सकेंगे;
- निर्मला पुतुल के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे,
- 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना लिख सकेंगे;
- 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता की संदर्भ सहित व्याख्या कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत स्त्री कविता का अध्ययन करना है और इस पाठ्यक्रम के लिए चार अलग–अलग दौर की स्त्री संबंधी कविताओं को लिया गया है जो आपको इस बात का अनुमान लगाने के लिए प्रेरित करती है कि एक स्त्री को जीवन में अलग–अलग तरह की समस्याओं से गुजरना पड़ता है। कविता के माध्यम से हम यह समझ सकते हैं कि तीसरे सप्तक से लेकर इक्कीसवीं सदी के आदिवासी स्त्री विमर्श तक की कविताओं में स्त्रियों की अपनी–अपनी समस्याएँ हैं और इन समस्याओं में स्त्री विमर्श के अलग–अलग पहलू नजर आते हैं जैसे तार सप्तक के दौर में कीर्ति चौधरी ने स्त्री के जीवन पर लगी 'सीमारेखा' का उल्लेख किया है, जो केवल स्त्रियों के लिए ही परंपरा से चली आ रही है जबकि पुरुषों के लिए कोई सीमारेखा नहीं है।

उसी प्रकार नवें दशक की स्त्रीवादी कवयित्री कात्यायनी ने 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता में एक स्त्री के जीवन की विभिन्न दुख भरी विडंबनाओं, उनकी जिजीविषा, उनके अस्तित्व और जीवन को बचाने की कोशिश लोक कथाओं के आधार पर की है। जन्म से लेकर मृत्यु तक एक स्त्री को अनेक तरह की पितृसत्तात्मक व्यवस्था और रूढ़ियों के बीच से होकर गुजरना पड़ता है।

वहीं दूसरी तरफ अनामिका की कविता 'बेजगह' में एक ऐसी व्यवस्था का चित्रण किया गया है जिसे हम परंपरा से देखते समझते आ रहे हैं और हम स्त्रियों की अपनी कोई जगह नहीं होती। स्त्रियों को इस पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में इसी तरह रहना पड़ता है।

स्त्री को बचपन से ही सिखाया जाता है कि वे घर का काम करें। जीवन में उसके लिए अपना कोई घर नहीं होता है। यह स्त्री जीवन की विडंबना है जिससे स्त्रियों को अनेक तरह की समस्याओं से होकर गुजरना पड़ता है। स्त्री जीवन की विडंबनाओं को कविता के रूप में कात्यायनी ने अलग अंदाज में प्रस्तुत किया है।

हिंदी साहित्य में बीसवीं सदी के अंतिम दशक से अनामिका एक उत्कृष्ट कवयित्री, उपन्यासकार, कहानीकार और एक स्त्री चिंतक के रूप में प्रसिद्ध रही हैं। इनके लेखन में स्पष्टतः स्त्री विमर्श दिखाई देता है। कविता के क्षेत्र में अनामिका के 6 कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनकी अधिकतर कविताएँ स्त्री विमर्श से जुड़ी हैं। इस पाठ्यक्रम में जिस कविता को पढ़ाया जा रहा है वह भी स्त्री विमर्श की कविता है। 'बेजगह' कविता 'खुरदुरी हथेलियाँ' कविता संग्रह से ली गई है।

अनामिका की कविता 'बेजगह' स्त्री जीवन के सवालों को उठाती है। यह कविता गहरी संवेदना के साथ व्यापक परिप्रेक्ष्य में परंपरा से चली आ रही स्त्रियों की नियति और स्त्री मन से पैदा हुए सवालों को भाषिक संरचना की दृष्टि से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्त्रीवादी कविता बनाती है। वर्तमान युग में स्त्री सदैव अपने आप से प्रश्न करती है कि आखिर उसकी जगह कहाँ है? पितृसत्तात्मक व्यवस्था और इस समाज के साथ जोड़कर अपने चुनौती भरे सवालों को वह उठाती है जिससे यह प्रतीत होता है कि उनकी ये कविताएँ एक स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता की सोच को प्रस्तुत करती हैं। हालांकि इनकी कविताओं में अनेक विषयों का समावेश होता है, किन्तु स्त्री की दृष्टि को वे एक नए आयाम के साथ प्रस्तुत करती हैं। इसी कारण साहित्य में इनकी एक अलग और विशिष्ट पहचान है।

निर्मला पुतुल की कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' आदिवासी कविता के रूप में गहरी संवेदना, व्यापक परिप्रेक्ष्य, स्त्री से जुड़े सवाल और भाषिक संरचना की दृष्टि से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण कविता है। वर्तमान युग के सवालों को निर्मला पुतुल अपने आदिवासी क्षेत्र के साथ जोड़कर इस तरह से चुनौती भरे सवाल उठाती हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि उनकी ये कविताएँ एक स्त्रीवादी अस्मिता की सोच को आगे बढ़ाती हैं। हालांकि इनकी कविताएँ आदिवासी क्षेत्र से एवं वहाँ की समस्याओं से जुड़ी हुई हैं, किन्तु एक स्त्री की दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि अधिकांश ग्रामीण स्त्रियों और गाँव से पलायन या विस्थापन के उपरांत जो स्त्रियाँ हैं उन सभी स्त्रियों की इस प्रकार की स्थितियाँ रही हैं।

निर्मला पुतुल इस कविता में अपनी संस्कृति को बनाए रखना चाहती हैं और वह विवाह भी इसी भूमि के आस–पास करना चाहती हैं। वह अपनी बात विवाह से पूर्व अपने बाबा को बता देना चाहती है कि उसे कैसी जगह और कैसा वर (जीवनसाथी) चाहिए। आज आदिवासी स्त्री भी वर्षों से स्त्रियों के खिलाफ होने वाले आंतरिक या बाहरी साजिश को जानने और समझने लगी है इसलिए वह अपने पिता से करुण निवेदन कर रही है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं– 'वह इस छद्म को पहचान गई है। आज वह घर, परिवार, पुरुष का सुरक्षात्मक छाता, रिश्तों की भावनात्मक बेड़ियाँ, सभी को नकारकर अपनी अस्मिता के निर्माण के लिए जूझने लगी है।' (युद्धरत आम आदमी पत्रिका विशेषांक (स्त्री–मुक्ति आंदोलन पर केन्द्रित कविता विशेषांक, भाग–1) के संपादकीय, खरी–खरी

बात में) कवयित्री निर्मला पुतुल ने अपनी कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' में पाठकों को अपनी आदिवासी स्त्री दृष्टि और वहाँ की स्थितियों से परिचित कराया है।

यह इकाई इन चारों कविताओं के माध्यम से इस बात की ओर भी संकेत करती है कि हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श से संबंधित कविताएँ पचास–साठ के दशक से लिखी जाती रही हैं और आज इक्कीसवीं सदी में भी लिखी जा रही हैं। सोचने की बात है कि स्त्रियों की स्थितियों में कितना परिवर्तन आया है और ये कविताएँ हमें क्या सिखाती हैं? उपर्युक्त चारों कवयित्रियों ने अपने–अपने ढंग से अपने युगीन परिवेश के अनुसार स्त्रीमन के उद्वेलन को प्रश्न बनाकर प्रस्तुत किया है। इन सभी कविताओं को समझने के लिए स्त्री विमर्श को जानना आवश्यक है और स्त्री विमर्श को जानने के लिए पितृसत्ता को समझना अति आवश्यक है। हमें प्रत्येक कवयित्री और उनकी कविता को गहराई से समझने की आवश्यकता है। आगे के बिन्दुओं में आप इनका विस्तार से अध्ययन करेंगे।

8.2 कीर्ति चौधरी की कविता 'सीमा रेखा'

'तीसरा सप्तक' अज्ञेय द्वारा संपादित नई कविता के सात कवियों की कविताओं का संग्रह है। इसमें कुँवर नारायण, कीर्ति चौधरी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मदन वात्स्यायन, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, केदारनाथ सिंह और विजयदेवनारायण साही की रचनाएँ संकलित हैं। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से 1959 ई० में हुआ।

जैसा कि हम जानते हैं कि कीर्ति चौधरी तीसरे तार सप्तक की अकेली कवयित्री हैं बाकी 6 कवि हैं। तार सप्तक क्या है और इसके प्रमुख कौन से कवि रहे हैं इसके बारे में जानना भी आवश्यक है इसलिए यहाँ पर आपको संक्षिप्त में तार सप्तक की जानकारी दी जा रही है।

अब तक हिंदी साहित्य में कविता के दौर में चार तार सप्तकों की स्थापना हो चुकी है। तार सप्तक को तैयार करने की योजना मुख्यतः प्रभाकर माचवे की थी किन्तु इसके प्रवर्तन का मुख्य श्रेय अज्ञेय को प्रदान किया जाता है इसीलिए तारसप्तक के प्रमुख कवि अज्ञेय माने जाते हैं। तार सप्तक को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय कहते हैं कि – ''एक ही प्रकार की भाव चेतना के तार में पिरोए सात कवियों की रचनाओं का संकलन तार सप्तक कहलाता है।''

अज्ञेय यह भी मानते हैं कि तार सप्तक के कवियों की राहें एक नहीं है किन्तु वे सभी एक ही राहों के अलग-अलग खोजकर्ता हैं। अब तक चार सप्तक आ चुके हैं। तार सप्तक सन् 1943, दूसरा सप्तक सन् 1951, तीसरा सप्तक 1959 और चौथा सप्तक का समय सन् 1979 रहा है।

तार सप्तक की शुरुआत सन् 1943 में हुई जिसके जनक अज्ञेय रहे हैं। तार सप्तक के सात कवियों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल का नाम आता है। द्वितीय सप्तक के संपादक भी अज्ञेय रहे हैं। द्वितीय तार सप्तक के कवियों में धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर, शंकुतला माथुर, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता और भवानी प्रसाद मिश्र का नाम

शामिल है। द्वितीय सप्तक में एक कवयित्री शकुंतला माथुर और छः कवि शामिल हैं। तृतीत तार सप्तक के संपादक भी अज्ञेय हैं। प्रयाग नारायण त्रिपाठी, विजयदेव नारायण शाही, कीर्ति चौधरी, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह और मदन वात्स्यायन तृतीय सप्तक के कवि हैं। इसी तीसरे सप्तक में कीर्ति चौधरी का नाम शामिल है।

चतुर्थ सप्तक के संपादक भी अज्ञेय हैं। सुमन राजे, श्रीराम वर्मा, स्वदेश भारती, अवधेश कुमार, राजकुमार कुम्भज, नन्दकिशोर आचार्य और राजेंद्र किशोर चतुर्थ सप्तक में सम्मिलित कवि हैं।

उपर्युक्त चारों सप्तकों में कुल तीन महिलाएँ (शंकुतला माथुर, कीर्ति चौधरी और सुमन राजे) रही हैं। कीर्ति चौधरी तीसरे सप्तक में अकेली महिला हैं। इस इकाई में कीर्ति चौधरी की कविता 'सीमा रेखा' के विषय में चर्चा की जायेगी।

8.2.1 कीर्ति चौधरी का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

कीर्ति चौधरी तीसरे सप्तक की एक मात्र कवयित्री थीं। कीर्ति चौधरी का पूरा नाम कीर्ति बाला सिन्हा है किन्तु वे अपनी रचनाएँ कीर्ति चौधरी के नाम से लिखती रही हैं।

व्यक्तित्व

कीर्ति चौधरी का जन्म 1 जनवरी, सन् 1931 को नईमपुर गाँव, उन्नाव जिला, उत्तर प्रदेश के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। कीर्ति चौधरी का मूल नाम कीर्ति बाला सिन्हा था। उन्नाव में जन्म के कुछ वर्ष पश्चात् पढ़ाई के लिए वह कानपुर गईं। इनके पिताजी एक जमींदार थे किन्तु बाद में वे जमींदारी छोड़कर पुस्तक प्रकाशन की ओर अग्रसर हो गए थे। कीर्ति की माँ सुमित्रा कुमारी सिन्हा एक बड़ी कवयित्री, लेखिका और जानी–मानी गीतकार थीं। कीर्ति चौधरी के भाई अजित कुमार एक जाने माने साहित्यकार रहे हैं। कीर्ति चौधरी का लेखन कार्य उनकी माँ के प्रभाव से अलग था और रचनाओं में वे अपनी मौलिकता लिए हुए थीं। उनकी रचनाओं के पीछे अनुभवों की विविधता भी एक कारण रही होगी। कीर्ति चौधरी की रचनाओं में स्त्री विमर्श के पहलू भी दिखाई देते हैं। वे बताती हैं कि जब उनकी अपनी माताजी घरेलू कार्यों में अधिक समय देती थीं तब कीर्ति चौधरी को लगता था कि उनकी माँ चुपचाप केवल लेखन और पठन क्यों नहीं करती किन्तु उन्हें इस बात का अहसास हुआ कि एक समय में अकेले साहित्य में ध्यान करके या एकाग्रचित होकर बैठे रहना एक बनावटी बात जरूर है। दैनिक जीवन के छोटे–छोटे कार्यों में रूचि ली जाए और परिवार के भीतर इन्हीं छोटी–छोटी बातों को प्राथमिकता दी जाए तभी परिवार ठीक तरह से चलता है। एक स्त्री के लिए पारिवारिक जिम्मेदारी को पहले बताया है।

कीर्ति चौधरी इस संदर्भ में लिखती हैं –'गाँव, कस्बे और शहर के विचित्र मिले–जुले प्रभाव मेरे ऊपर पड़ते रहे हैं।'

कीर्ति चौधरी के व्यक्तित्व पर गाँव, कस्बा, शहर, महानगर और विदेश आदि का मिला-जुला प्रभाव दिखाई देता है। तार सप्तक में अपना परिचय देते हुए वे लिखती हैं–

'अमराई में बिखरती मदिर गंध और तालों में ढेर–ढेर फली कोका बेली मुझे नहीं भूलती। यंत्रों–कलों की गड़गड़ाहट और कोलाहल भरी सड़कों वाले नगर भी अपरिचित नहीं रहे। पर उन्नाव का छोटा सा कस्बा मानो अपनी नितांत सामान्यता के कारण ही अधिक आकर्षित करता रहा है।' (तार सप्तक, पृष्ठ–15)

शिक्षा : आपका बचपन अपने पैतृक स्थल और उन्नाव जिला में बीता। उसके बाद आगे की शिक्षा के लिए आप कानपुर गईं। सन् 1951 में एम.ए. की उपाधि लेने के बाद आगे की पढ़ाई और शोध कार्य के लिए 'उपन्यास के कथानक तत्व' जैसे विषय का चयन किया। आपकी विशेष रूचि कविता लेखन में रही है। इसके अतिरिक्त आप कहानी और उपन्यास भी लिखती रही हैं।

विवाह और परिवार

कीर्ति चौधरी को विरासत में साहित्य मिला और फिर जीवन साथी के साथ भी साहित्य, संप्रेषण जुड़े रहे। उनका विवाह ओंकारनाथ श्रीवास्तव से हुआ था। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ रेडियो प्रसारकों में से एक थे। ओंकारनाथ श्रीवास्तव बी.बी.सी हिंदी सेवा के साथ लंबे समय तक जुड़े रहे। ओंकारनाथ श्रीवास्तव केवल रेडियो में अपने योगदान ही नहीं, बल्कि अपनी कविताओं और कहानियों के लिए भी जाने जाते हैं। कीर्ति चौधरी की एक बेटी अंतिमा श्रीवास्तव है। अंतिमा अंग्रेजी की लेखिका है। अंतिमा के दो उपन्यास 'ट्रांसमिशन' और 'लुकिंग फॉर माया' प्रकाशित हो चुके हैं।

निधन : कीर्ति चौधरी एक जानी मानी प्रसिद्ध वरिष्ठ कवयित्री रही हैं। पिछले कुछ समय से वे अस्वस्थ चल रही थीं। कीर्ति चौधरी लंदन में रह रही थीं और वहीं उनका उपचार हो रहा था। उनका निधन शुक्रवार 13 जून, सन् 2001 को लंदन में भारतीय समयानुसार सुबह 3:15 पर हुआ था। इनके निधन से हिन्दी साहित्य जगत ने एक रत्न खो दिया है।

कृतित्व

कीर्ति चौधरी तीसरे सप्तक की एक मात्र कवयित्री थीं। नई कविता की शुरुआत आम तौर पर 'दूसरा सप्तक' (1951) से होती है और ऐसा माना जाता है कि 1959 में 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ वह अपने उत्कर्ष को पहुँच कर समाप्त हो जाती है। नई कविता के इसी उत्कर्ष काल की साक्षी और सारथी थीं कीर्ति चौधरी और उनकी रचनाएँ। उनकी कविताओं में एक मोहक प्रगीतात्मकता देखने को मिलती है। उनकी कविता में मनुष्य और उसके समग्र अनुभवों को पकड़ने का यत्न हुआ है। वास्तव में कीर्ति चौघरी की कविता नई कविता के अन्य रचनाकारों की तरह ही संपूर्ण जीवन की कविता है। उनकी कविता में प्रतीकों और बिंबों का काफी प्रयोग मिलता है।

तीसरा सप्तक' (1960) के संपादक अज्ञेय ने 60 के दशक में प्रयाग नारायण त्रिपाठी, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और मदन वात्स्यायन जैसे साहित्यकारों के साथ कीर्ति चौधरी को भी तीसरा सप्तक का हिस्सा बनाया। कीर्ति चौधरी की साहित्यिक यात्रा यों तो बहुत लंबा–चौड़ा समय और सृजन समेटे हुए नहीं है पर जितनी भी है, उसे किसी तरह से कमतर नहीं आंकी जा सकती।

साहित्यकार केदारनाथ सिंह के अनुसार– 'महादेवी वर्मा के बाद हिंदी कविता में जो एक रिक्तता आई थी, उसे कीर्ति अपने मौलिक लेखन से पाटती हैं। उनकी कविता एक नए

सांचे में थी जिसकी बनावट अलग थी। उसमें एक ताजगी थी और अपनी रचनाओं के तल में उनके पास एक खास तरह का स्त्री सुलभ संवेदनात्मक ढाँचा था जो उनके समय में किसी और के पास नहीं था।'

प्रसिद्ध रचनाएँ

साहित्य जगत में महादेवी वर्मा के बाद नई कविता के क्षेत्र में कीर्ति चौधरी ने महादेवी की कमी को पूरा करने की कोशिश की थी। इनकी कविताएँ इनसान और उसके जीवन से जुड़े अनुभवों के इर्द गिर्द घूमती हैं। नई कविताओं के अन्य रचनाकारों की तरह इन्होंने भी प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग करते हुए सम्पूर्ण जीवन की कविताएँ लिखी हैं। इनकी कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ इस प्रकार हैं।

कीर्ति चौधरी की तीसरे सप्तक की प्रमुख चर्चित रचनाएँ :

- 'दायित्व भार',
- 'लता 1, 2 और 3',
- 'एकलव्य',
- 'बदली का दिन',
- 'सीमा रेखा'।

अन्य चर्चित रचनाएँ–

- 'कम्पनी बाग',
- 'आगत का स्वागत',
- 'बरसते हैं मेघ झर झर',
- 'मुझे फिर से लुभाया', '
- 'वक्त',
- 'केवल एक बात थी'।

साहित्य जगत में कीर्ति चौधरी की साहित्यिक यात्रा बहुत लंबी तो नहीं है किन्तु उन्होंने अपने समय में अपने रचनात्मक सृजन से अपनी अमिट छाप तैयार कर ली है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता और न ही इसे उस दौर में किसी तरह से कमतर आंका जा सकता है।

8.2.2 'सीमा रेखा' कविता का वाचन

मृग तो नहीं था कहीं
बावले भरमते से इंगित पर चले गए।
तुम भी नहीं है–
बस केवल यह रेखा थी

जिसमें बँधकर मैंने दुःसह प्रतीक्षा की–
सम्भव है आओ तुम
अपने संग अंजलि में भरने को
स्वर्ण-दान लाओ
आ, चरणों से यह सीमा-रेखा बिलगाओ।
पर बीते दिन, वर्ष, मास–
मेरी इन आँखों के आगे ही
फिर-फिर मुरझाए ये निपट काँस
मर मेरे! टब रेखा लाँघो!
आए तो आए
वह वन्य
छद्मधारी
अविचारी
कर खंडित-कलंकित
ले जाए तो ले जाए।
मन्दिर में ज्योतित
उजाले का प्रण करती
कम्पित निर्धूम शिखा-सी
यह अनिमेष लगन–
कौन वहाँ आतुर है?
किसे यहाँ देनी है
ऊँचा ललाट रखने की वह अग्नि की परीक्षा?

8.2.3 'सीमा रेखा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

कीर्ति चौधरी तीसरे तार सप्तक की अकेली कवयित्री रही हैं। तीसरा सप्तक सन् 1959 में प्रकाशित हुआ था। कीर्ति चौधरी द्वारा 'सीमा रेखा' कविता तीसरे तार सप्तक में लिखी गई कविता है। यह एक ऐसा समय रहा है जब स्त्रियाँ बहुत अधिक आधुनिक सोच की नहीं थी और वे पितृसत्तात्मक व्यवस्था की तमाम रूढ़ियों और परंपराओं में बंधी हुई थीं। 'सीमा रेखा' कविता प्रश्न उठाती है कि जिस सामाजिक व्यवस्था में हम रहते हैं उसमें केवल स्त्रियों के लिए ही सीमा निर्धारित क्यों की गई है और स्त्रियों को ही इस व्यवस्था के बंधन में क्यों बाँधा गया है? पुरुषों के लिए यह सीमा–रेखा क्यों नहीं बनाई गई है? कीर्ति चौधरी ने इन्हीं सवालों को अपनी कविता के माध्यम से उठाया है। हमारा समाज केवल स्त्रियों को इसलिए सीमा रेखा में बाँधकर रखता है कि कहीं कोई कपटी या बनावटी इनसान ना आ जाये जो स्त्री के चरित्र को कलंकित करे, उसे लांछित कर दे केवल इसी डर से हम स्त्रियों को सीमा रेखा में बाँधा जाता है। रामायण काल में भी सीता माता को लक्ष्मण ने द्वार पर लक्ष्मण रेखा खींचकर उसके भीतर ही रहने को कहा था किन्तु रावण जैसे दुराचारी व्यक्ति ने उनका हरण कर लिया। यही कहानी हमें बचपन से

सुनाई और सिखाई जाती रही है किन्तु अब समय बदल रहा है। स्त्रियों में इस बंधन और इससे मिलने वाले दुःखों को लेकर जागृति आ गई है। अब वह सजग और जागरूक हो गई हैं। अपने ऊपर होने वाले अन्याय के खिलाफ वे आवाज उठाने लगी हैं। अब स्त्रियों को सीता के समान अग्नि परीक्षा देने की आवश्यकता नहीं है और स्त्री ही क्यों अग्नि परीक्षा दे? पुरुष तो कभी भी अग्नि परीक्षा नहीं देता।

तीसरे तार सप्तक के दौर में एक स्त्री का आधुनिक सोच रखना और अपनी बात को लेखन के माध्यम से पाठकों के मध्य लेकर आना एक साहस का कार्य रहा है। अपने समय में महादेवी वर्मा ने अपने लेखन में पितृसत्ता और इस सामाजिक व्यवस्था पर अनेक सवाल उठाए थे। महादेवी वर्मा के बाद कीर्ति चौधरी ने भी स्त्रियों को लेकर जो आधुनिक स्त्री की सोच को उजागर किया है वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह एक ऐसे समय की रचना है जहाँ रामायण और महाभारत को आदर्श मानकर स्त्रियों को उन्हीं बंधनों में जकड़कर रखा जाता था।

कीर्ति चौधरी ने रामायण के सीता हरण से पूर्व लक्ष्मण रेखा वाले प्रसंग को ध्यान में रखकर आधुनिक स्त्री के मन की पड़ताल करते हुए यह कविता रची है इस कविता में कवयित्री कहती है कि हिरण तो कहीं नहीं था परन्तु बावले भरमते मन का संकेत होने के कारण तुम चले गए। तुम भी नहीं थे बस, केवल यह रेखा थी। अर्थात् मेरे आस–पास कहीं कोई नहीं था फिर भी केवल भ्रम में आकर तुमने मेरे लिए घर की देहरी/चौखट पर रेखा खींच दी और तुम चले गये।

इस रेखा में बँधकर मैंने ना जाने कितने दुःखों के साथ दुःसह तुम्हारी प्रतीक्षा की, सोचा कि संभव है तुम जरूर आओगे और मुझे अपनी हथेलियों की अंजलि में भरने को तुम आओगे और अपने साथ मुझे भर लोगे। अब तुम स्वर्णदान ले कर आओगे और अपने चरणों से इस सीमा रेखा से अलगाव करोगे, इसे हटाओगे। यही सोचती रही किन्तु तुम नहीं आए। परन्तु बीते हुए दिन, वर्ष और मास ये सभी मेरी इन्हीं आँखों के आगे ही बार–बार ऐसे मुरझाए जैसे कोई काँस के फूल मुरझा जाते हैं। इतनी प्रतीक्षा के उपरांत अब मेरा मन कहने लगा, अब तो इस रेखा को लांघ जाओ, आए तो आए वह वन्य जंगली बनावटी छल कपट से परिपूर्ण अविचारी कोई भी आये और यदि मुझे खंडित या कलंकित करने के लिए मुझे कहीं भी ले जाए तो ठीक है, ले जाये।

आगे कविता में कीर्ति चौधरी कहती हैं कि मैं मंदिर में ज्योति और उजाले की कसम खाती हूँ उनका प्रण करती हूँ कि काँपती हुई धुएँ से रहित शिखा (दीपक की लौ) के समान बिना पलक झपकाए, स्थिर दृष्टि से ध्यान लगाये रखूँगी कि कहीं कोई उतावला या बैचेन आतुर व्यक्ति मेरे साथ छल करेगा। अब मैं स्वयं अपनी रक्षा करने के लिए तैयार मनुष्य हूँ। जिस प्रकार रावण ने धोखे से सीता माता का हरण कर लिया था और बाद में सीता माता को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी थी उसी प्रकार हम स्त्रियों को भी अग्नि परीक्षा देने के लिए कहा जाता है, परन्तु यहाँ किसे देनी है अग्नि परीक्षा, ऊँचा मस्तक रखने को? अर्थात् इज्जत बनाये रखने के लिए मैं उस सीमा रेखा में बँधकर रहूँ कि कहीं कोई छली कपटी, बनावटी इनसान न आ जाए और मुझे कलंकित न कर दे, तो अब मैं उस पुराने जमाने की स्त्री नहीं हूँ। मैं इस सीमा-रेखा के बाहर और भीतर रहते हुए अपनी रक्षा स्वयं करूँगी क्योंकि अग्निपरीक्षा के डर से अब मैं इस सीमा रेखा में बंधकर नहीं रह सकती हूँ। मैं

जान चुकी हूँ कि ये पितृसत्तात्मक व्यवस्था की चाल है जो हम स्त्रियों को अपनी कैद और अपने दायरे में रखने के लिए ही सीमा रेखा खींचती आ रही है।

8.2.4 'सीमा रेखा' कविता की व्याख्या

कीर्ति चौधरी तीसरे तार सप्तक की कवयित्री हैं और उनकी यह कविता 'सीमा रेखा' काव्य संग्रह में संकलित है जो सन् 1959 में तीसरे तार सप्तक में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में आधुनिक स्त्री के विचारों पर बल दिया गया है। इस कविता में हमारे समाज में प्रचलित पौराणिक मान्यताओं को मानते हुए आज भी महिलाएँ पितृसत्ता की आज्ञा का पालन करते हुए बंधनों में जकड़ी हुई हैं। पुरुषों द्वारा निर्धारित एक सीमा रेखा में रहने की जो आदत महिलाओं में हो गई थी वह आज की आधुनिक महिलाओं में नहीं है। वे अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों से परिचित हो चुकी हैं और अब वे इस सीमा-रेखा में बँधकर रहना नहीं चाहती हैं। कवयित्री इस बात पर सवाल उठाती हैं कि आखिर कब तक स्त्रियाँ इस सीमा-रेखा जैसे बंधनों में जकड़ी रहेंगी? आज की आधुनिक नारी छद्म धारी और अविचारी इनसानों को पहचानने लगी हैं और वे अपने को अब कलंकित होने से बचाने के लिए, उसका सामना करने के लिए भी तैयार हैं। वे अपनी अस्मिता और अपने स्वाभिमान को बनाये रखने के लिए किसी भी प्रकार की अग्नि परीक्षा देने के लिए तैयार नहीं है।

आइये पूरी कविता का अर्थ समझने का प्रयास करते हैं :

> मृग तो नहीं था कहीं
> बावले भरमते–से इंगित पर चले गए
> तुम भी नहीं थे
> बस केवल यह रेखा थी

प्रस्तुत काव्यांश कीर्ति चौधरी की कविता 'सीमा रेखा' से उद्धृत है।

संदर्भ : स्त्री जीवन से संबंधित सीमा रेखा निश्चित करने की विडंबनाओं का चित्रण है।

कीर्ति चौधरी कवयित्री ने रामायण के सीता हरण से पूर्व लक्ष्मण रेखा वाले प्रसंग को ध्यान में रखकर आधुनिक स्त्री के मन की पड़ताल करते हुए यह कविता रची है। इस कविता में कवयित्री कहती हैं कि (हिरण) तो कहीं नहीं था परन्तु बावले भरमते मन के संकेत मात्र के कारण तुम मुझे छोड़कर चले गए। तुम भी नहीं थे बस, केवल यह रेखा थी। कहने का भाव है कि समाज में अक्सर पुरुष वर्ग स्त्री से कहता है कि तुम घर पर ही रहना जब तक मैं वापस नहीं आ जाता, कहीं बाहर मत जाना। अर्थात् मेरे आस–पास कहीं कोई नहीं था फिर भी केवल भ्रम में आकर तुमने मेरे लिए घर की देहरी/चौखट पर रेखा खींच दी और तुम चले गये। यह भी नहीं बताया कि कब वापस लौटकर आओगे।

विशेष : (क) स्त्री-जीवन की विसंगतियाँ हैं।

(ख) भाषा सरल और सहज है।

(ग) स्त्री-जीवन के खालीपन का मार्मिक चित्रण है।

* * *

जिसमें बँधकर मैंने दुस्सह प्रतीक्षा की
संभव है आओ तुम
अपने संग अंजलि में भरने को
स्वर्णदान लाओ
इन चरणों से
यह सीमा–रेखा बिलगाओ

उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री कहती हैं कि इस रेखा में बँधकर मैंने ना जाने कितने दुःखों के साथ दुःसह तुम्हारी प्रतीक्षा की। सोचा कि तुम जरूर आओगे। अपनी हथेलियों की अंजलि में भरने को तुम आओगे और अपने साथ मुझे भर लोगे। कहने का तात्पर्य है कि स्त्री जब अपने पति या प्रेमी से दूर होती है वह उसकी प्रतीक्षा (इंतजार) में रात, दिन एक कर देती है और यह उम्मीद रखती है कि जब वह आयेगा तो प्रेम से अपनी हथेलियों में उसके चेहरे को भर लेगा और गले लगाकर उससे प्रेम पूर्वक बात करेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। कवयित्री कहती है कि तुम स्वर्णदान लेकर आओ और अपने इन चरणों से इस सीमा रेखा को अलग करो इसे हटाओ, यही सोच –सोचकर मैंने तुम्हारी प्रतीक्षा की, परन्तु तुम नहीं आए।

पर
बीते दिन, वर्ष, मास
मेरी इन आँखों के आगे ही
फिर–फिर मुरझाए ये निपट काँस
मन मेरे!
अब रेखा लाँघो
आए तो आए
वह वन्य
छद्मधारी
अविचारी
कर खंडित कलंकित
ले जाए तो ले जाए

प्रस्तुत पंक्तियों में कवयित्री कहती हैं कि तुम्हारी प्रतीक्षा में बीते हुए दिन, वर्ष और मास ये सभी मेरी इन्हीं आँखों के आगे ही बार–बार ऐसे मुरझाए जैसे काँस के फूल मुरझा जाते हैं। इतनी प्रतीक्षा के उपरांत अब मेरा मन कहने लगा है, अब तो इस रेखा को लांघ जाओ। आए तो आए वह वन्य जंगली बनावटी छल कपट से परिपूर्ण अविचारी कोई भी आये और यदि मुझे खंडित या कलंकित करने के लिए मुझे कहीं भी ले जाए तो ठीक है, ले जाये। परन्तु अब मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करते हुए थक चुकी हूँ।

मंदिर में ज्योतित
उजाले का प्रण करती
कंपित निर्धूम शिखा–सी
यह अनिमेश लगन

कौन वहाँ आतुर है!
किसे यहाँ देनी है
ऊँचा ललाट रखने को
अग्नि की परीक्षा वह!'

उपर्युक्त पंक्तियों में कीर्ति चौधरी कहती हैं कि यहाँ मैं मंदिर में ज्योति और उजाले की कसम करती हूँ (खाती हूं) कि काँपती हुई धुएँ से रहित शिखा के समान केवल स्थिर दृष्टि से ध्यान लगाये रखूँगी कि कहीं कोई उतावला या बैचेन आतुर व्यक्ति तो नहीं आ जाएगा जो मेरे साथ छल करेगा क्योंकि अब मैं स्वयं अपनी रक्षा के लिए संकल्प लेती हूँ। जिस प्रकार रावण ने धोखे से सीता माता का हरण कर लिया था और बाद में सीता माता को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी थी उसी प्रकार हम स्त्रियों को भी अग्नि परीक्षा देने के लिए कहा जाता है, परन्तु यहाँ अग्नि परीक्षा किसे देनी है, केवल ऊँचा मस्तक रखने को? अर्थात् इज्जत बनाये रखने के लिए बार-बार स्त्रियों को अग्नि परीक्षा देने के लिए बाध्य किया जाता है, जो अनुचित है। अर्थात् तुम चाहते हो कि मैं उस सीमा रेखा में इसलिए बँधकर रहूँ कि कहीं कोई छल कपट करने वाला बनावटी इनसान न जा आये और मुझे कलंकित न कर दे, तो अब मैं उस पौराणिक जमाने की स्त्री नहीं हूँ। मैं इस सीमारेखा के बाहर और भीतर रहते हुए अपनी रक्षा कर सकती हूँ और करूँगी, क्योंकि मैं अग्निपरीक्षा के डर से अब इस सीमा रेखा में बँधकर और नहीं रह सकती हूँ। मैं जान चुकी हूँ कि यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था की चाल है जो हम स्त्रियों को अपनी कैद और अपने दायरे में रखने के लिए ही सदियों से सीमा रेखा खींचती आ रही है।

यह कविता एक प्रकार से उन सामाजिक और पारिवारिक बंधनों को तोड़ने वाली है जो यह कहती है कि स्त्रियों को चारदीवारी के भीतर ही रहना चाहिए और नियमों का पालन करना चाहिए। परन्तु आज की नारी में जागृति आ गई है। वह इस पितृसत्ता के घोर षडयंत्र को समझने लगी है और अपने ऊपर हो रहे अनकहे अत्याचारों से भी अवगत हो गई है। आज आवश्यकता इस बात की है कि अब स्त्रियाँ किसी भी तरह की अग्नि परीक्षा नहीं देंगी। उन्हें यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि वे कलंकित हैं या नहीं, क्योंकि पुरुष तो कभी भी अग्निपरीक्षा देकर अपनी ललाट/इज्ज़त को सिद्ध नहीं करता तो हम स्त्रियाँ क्यों करें?

कवयित्री की यह कविता स्त्री विमर्श की दृष्टि से सार्थक कविता है, क्योंकि आज भी समाज की तमाम स्त्रियाँ सीमा रेखा में कैद हैं।

बोध प्रश्न 1

1. कीर्ति चौधरी कौन से सप्तक की कवयित्री हैं?

   क) तार सप्तक　　ख) द्वितीय सप्तक

   ग) तृतीय सप्तक　　घ) चतुर्थ सप्तक।

2. तार सप्तक के जनक कौन माने जाते हैं।

   क) कुँवर नारायण　　ख) अज्ञेय

   ग) केदारनाथ सिंह　　घ) प्रयाग नारायण त्रिपाठी,

3. 'सीमा रेखा' नामक कविता किस कविता संग्रह से ली गई है?

....

....

4. कीर्ति चौधरी के चार कविता संग्रह के नाम लिखिए।

....

....

5. 'सीमारेखा' कविता किस सप्तक में लिखी गई है?

....

....

6. कीर्ति चौधरी के साथ तृतीय तारसप्तक में कौन–कौन से कवि रहे हैं? नाम लिखिए।

....

....

....

7. कीर्ति चौधरी का जीवन परिचय लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

8. 'सीमारेखा' कविता का प्रतिपाद्य लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

अभ्यास

विशेष :

1. इस कविता में स्त्री विमर्श संबंधी प्रश्न उठाए गए हैं।
2. स्त्री की अपनी अस्मिता, अपने स्वाभिमान और अपनी मर्यादा के लिए दृढ़ संकल्प-शक्ति है।
3. पौराणिक समाजिक स्थितियों से लेकर आज की स्त्रियों की दशा ओर उनके वैचारिक परिवर्तन को दिखलाया गया है।
4. कविता की भाषा में कोमलता और बिंबों का सौंदर्य है।
5. 'कंपित निर्धूम शिखा सी' में उपमा अलंकार है।

अभ्यास

1. कीर्ति चौधरी का जीवन परिचय लिखिए।
2. 'सीमारेखा' कविता की समीक्षा लिखिए।
3. 'सीमारेखा' कविता में प्रस्तुत स्त्री विमर्श को लिखिए।
4. 'सीमारेखा' कविता के माध्यम से कवयित्री क्या कहना चाहती है? लिखिए।
5. वर्तमान समय में 'सीमारेखा' कविता की क्या प्रासंगिकता है?

कठिन शब्द

मृग	:	हिरण
बावले	:	चंचल मन / पागल मन
भरमते	:	भ्रम / शंका
इंगित	:	संकेत
प्रतीक्षा	:	इंतजार
अंजलि	:	हथेलियों पर बनाया गया गड्डा / हाथों में कुछ रखने लायक स्थान बनाना
बिलगाओ	:	अलगाव / पार्थक्य (Separation/Parting)
निपट	:	पूरा, सारा का सारा
काँस	:	ऊँची और ढलुई जमीन में उगने वाली एक प्रकार की लंबी हरी घास में लगने वाला सफेद लहराता हुआ फूल, जो शरद ऋतु में फूलती है।
छद्मधारी	:	छल / कपट / ढोंग करने वाला बनावटी (Pseudo)
कलंकित	:	कलंक से युक्त / लांछित (Disgraced/best abused)
कंपित	:	काँपता हुआ
निर्धूम	:	धुँए से रहित (Smokeless)
शिखा	:	दीपक की लौ
अनिमेष	:	स्थिर दृष्टि / जागरूक
आतुर	:	उतावला / बेचैन (Eager/restless)
लगन	:	ध्यान लगाना / लगने का भाव (Penchant)

8.3 कात्यायनी की कविता 'सात भाइयों के बीच चंपा'

हिन्दी साहित्य के नवें दशक में कात्यायनी का नाम एक कवयित्री के रूप में उल्लेखनीय है। कात्यायनी ने अपनी कविताओं के माध्यम से अनेक सवालों को नये और अद्भुत अंदाज से उठाया है। उन्होंने स्त्री के वजूद को कहीं मिटने नहीं दिया है। उन्होंने स्त्री को परंपराओं और पितृसत्ता के बीच ऊँचा उठाने के लिए अपनी कविता में अनेक तरह के प्रतीकों और बिंबों का प्रयोग भी किया है। इनके विषय में अधिक जानने के लिए आइए हम इनके परिचय से अवगत होते हैं। फिर कविता से रूबरू होंगे।

8.3.1 कात्यायनी का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

पिछले तीन दशकों से कात्यायनी की कविताओं और निबंधों ने हिंदी साहित्य को स्त्री विमर्श की दृष्टि से एक नया आयाम दिया है। कात्यायनी ने अपने लेखन की शुरुआत

सन् 1980 से की थी। 'गार्गी' इनकी पहली रचना थी। आधुनिक संदर्भों को जोड़कर उन्होंने इसमें लिखा है। कवि और लेखक की दृष्टि के साथ–साथ कात्यायनी मार्क्सवादी दृष्टि रखती हैं। कवयित्री कात्यायनी विगत 24 वर्षों से विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में राजनीतिक–सामाजिक–सांस्कृतिक विषयों पर स्वतंत्र लेखन करती रही हैं। कात्यायनी ने लगभग सात वर्षों तक 'नवभारत टाइम्स' और 'स्वतंत्र भारत' की संवाददाता के रूप में भी काम किया और वर्तमान में स्वतंत्र लेखन करती हैं। इनकी कविताएँ हिन्दी के अधिकांश पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। कुछ कविताएँ अंग्रेजी, पंजाबी, मराठी, गुजराती में भी अनूदित और प्रकाशित हुई हैं। इसके अलावा इनकी आधा दर्जन कहानियाँ भी प्रकाशित हुई हैं।

व्यक्तित्व

कात्यायनी का जन्म 7 मई 1959 में गोरखपुर उत्तर प्रदेश में हुआ है। कात्यायनी ने एम. ए. और एम. फिल. हिन्दी विषय से उत्तीर्ण किया है। कात्यायनी नाम के अर्थ में एक विशेष अर्थ और पहचान है। लाल रंग में सजी दुर्गा और पार्वती का यह एक रूप है। कात्यायनी माता पूजा (नवदुर्गा) नवरात्रि के छठवें दिन होती है। इस नाम का प्रभाव कवयित्री कात्यायनी के व्यक्तित्व में भी दिखाई देता है। कात्यायनी ने अनेक पौराणिक ग्रंथों का अध्ययन गहनतापूर्वक किया है।

स्त्री विमर्श के सदंर्भ में कात्यायनी बताती हैं कि स्त्री चिंतन की शुरुआत, आंदोलन के रूप में पश्चिम से हुई है और इसकी कई धाराएँ हैं। स्त्रियाँ जो जीवन जीती आईं हैं, भुगतती आई हैं उससे वे लड़ती रही हैं। कात्यायनी कहती हैं कि स्त्री विमर्श बहुत अलग है। इसमें प्राचीनता और संस्कृति दोनों निहित है और एक साथ दोनों चलती हैं। कात्यायनी ने उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि के संदर्भों को लिया है और उन संदर्भों को आधुनिकता के साथ जोड़कर लिखा है। वह कहती हैं कि लिखने के लिए आपको बहुत सारा पढ़ना जरूरी है। प्रगतिशील साहित्य पढ़ें, समाज में जो लोग जी रहे हैं उन्हें देखें तभी लिखना प्रारंभ करें। वे यह भी मानती हैं कि स्थिर हो जाना जीवन नहीं है, जीवन तो गति है और स्थिरता मृत्यु है।

कात्यायनी वामपंथी विचारधारा की राजनीति से जुड़ी रही हैं। इसके अलावा आप सामाजिक रूप से सक्रिय रही हैं। वे सांस्कृतिक मोर्चे व नारी मोर्चे के साथ–साथ मजदूर मोर्चे पर भी अपनी गहरी भागीदारी निभाती रही हैं। अपने जीवन में अनेक तरह से इन्होंने स्त्रियों पर विचार किया है और राजनीतिक मुद्दों के आधार पर स्त्री से संबंधित सवालों को भी उठाया है।

कृतित्व

कविता संकलन :

1. सात भाइयों के बीच चम्पा' (1994)
2. इस पौरुषपूर्ण समय में
3. चेहरों पर आँच
4. जादू नहीं कविता (2002)

5. फुटपाथ पर कुर्सी (2009)
6. राख–अँधेरे की बारिश में
7. रात के सन्तरी की कविता
8. चाहत
9. कविता की जगह,
10. आखेट
11. कुहेर की दीवार खड़ी है

निबंध संकलन :

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक (स्त्री–प्रश्न विषयक निबन्धों का संकलन),
2. षडयंत्ररत् मृतात्माओं के बीच (साम्प्रदायिक, फासीवाद, बुद्धिजीवी प्रश्न, साहित्य की सामाजिक भूमिका पर केन्द्रित निबन्धों का संकलन),
3. कुछ जीवन्त, कुछ ज्वलन्त (समाज, संस्कृति और साहित्य पर केन्द्रित निबन्धों का संकलन),
4. प्रेम, परम्परा और विद्रोह (शोधपरक निबन्ध) प्रकाशित।

कात्यायनी की कविताएँ समकालीन भारतीय कवयित्रियों पर आधारित 'इन देयर ओन वॉयस' नामक कविता संग्रह है जो पेंगुइन प्रकाशन से प्रकाशित हुई है।

8.3.2 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता का वाचन

सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।

बाँस की टहनी–सी लचक वाली
बाप की छाती पर साँप–सी लोटती
सपनों में काली छाया–सी डोलती
सात भाइयों के बीच
चम्पा सयानी हुई।

ओखल में धान के साथ
कूट दी गई
भूसी के साथ कूड़े पर
फेंक दी गई
वहाँ अमरबेल बन कर उगी।

झरबेरी के साथ कँटीली झाड़ों के बीच
चम्पा अमरबेल बन सयानी हुई
फिर से घर में आ धमकी।

सात भाइयों के बीच सयानी चम्पा
एक दिन घर की छत से
लटकती पाई गई
तालाब में जलकुम्भी के जालों के बीच
दबा दी गई
वहाँ एक नीलकमल उग आया।

जलकुम्भी के जालों से ऊपर उठकर
चम्पा फिर घर आ गई
देवता पर चढ़ाई गई
मुरझाने पर मसल कर फेंक दी गई,
जलायी गई
उसकी राख बिखेर दी गई
पूरे गाँव में।

रात को बारिश हुई झमड़कर।

अगले ही दिन
हर दरवाज़े के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय–निस्संग चम्पा
मुस्कुराती पाई गई।

8.3.3 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

कात्यायनी की यह कविता स्त्री विमर्श से संबंधित है। यह कविता सन् 1994 के दौर में लिखी गई और प्रकाशित हुई है। इस कविता में एक स्त्री के दर्द को उसके कई रूपों में दिखाया गया है। वह अपने पिता और भाई की पितृसत्ता वाली अनेक रूढ़िवादी परंपराओं और नियमों के बोझ तले दबी हुई है। उस घर में उसका अपना कोई वजूद नहीं है। स्त्री को अपना वजूद बनाने और अपने लिए खुशी पाने के लिए स्वयं मेहनत करनी पड़ती है। इसी पर आधारित यह कविता है।

सात भाइयों के बीच चम्पा सयानी हुई अर्थात् बड़ी हुई। बाँस की टहनी सी लचक वाली अर्थात् चम्पा का शरीर लंबा लचीला हो गया। बाप (पिता) की छाती पर वह साँप सी लोटती थी अर्थात् पिता को यह चिंता खाये जा रही है कि किस प्रकार उसका विवाह किया जाय। उसके पिता के सपनों में काली छाया सी वह डोलती और हिलती रहती है। 'सात भाइयों के बीच चंपा' सयानी हुई, ओखली में धान के समान कूट दी गई और भूसी के समान कूड़े पर फेंक दी गई। अर्थात् एक लड़की को पुरुष समाज के भीतर, पितृसत्तात्मक समाज में अपनी बातों से, सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं के माध्यम से इतना कूटा और दबाया जाता है, जिससे लड़की का वजूद खतरे में पड़ जाता है। लड़की झेलती रहती है। उस समय किसी को इस बात की बिल्कुल भी चिंता नहीं रहती है कि लड़की को उससे कितनी तकलीफ होती है।

चंपा जैसी लड़कियों की तकलीफों और दुखों को दरकिनार कर उसे फेंक दिया जाता है, जिस प्रकार भूसी के साथ कूड़े को फेंक दिया जाता है, क्योंकि भूसी का कोई काम नहीं होता। वह एक कचरे के समान होती है। उसी प्रकार लड़की या स्त्री का भी काम हो जाने के बाद भूसी के समान ही उसकी कोई इज़्ज़त नहीं रहती है और उसे घर से बाहर फेंक दिया जाता है। परन्तु स्त्री इतनी कमजोर नहीं है। वह हिम्मत करके दुबारा उसी कचरे की ढेर में अमरबेल बनकर उगती है। वह जागृत होकर नए रूप में अमरबेल की तरह स्वयं आत्मनिर्भर होकर उगती है। अब वह अपने लिए स्वयं सुरक्षा खोज लेती है और अपने पास के कंटीले माहौल में वह झरबेरी के सात कंटीले झाड़ों के बीच फिर से अमरबेल बनकर सयानी होती है और दुबारा से घर में आ धमकती है।

सात भाइयों के बीच चंपा सयानी हुई। एक दिन घर की छत पर वह लटकती हुई पाई गई और उसके बाद उसे तालाब की जलकुंभी के जालों के बीच दबा दिया गया। तब वहाँ एक नीलकमल उग आया। जलकुंभी के जालों से ऊपर उठकर चम्पा फिर घर आ गई। नीलकमल को देवता पर चढ़ाया गया और उसके मुरझाने पर मसलकर फेंक दिया गया, जला दिया गया और उसकी राख को पूरे गाँव में बिखेर दिया गया। फिर उसी रात को झमड़कर बारिश हुई। चंपा ने फिर भी हार नहीं मानी। बारिश के अगले दिन सुबह हर दरवाजे के बाहर नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच निर्भय–निस्संग चंपा मुस्कुराती हुई पाई गई।

कात्यायनी ने लोक कथाओं के आधार पर यह कविता लिखी है। यह कविता स्त्री विमर्श की कविता है जिसमें चंपा के जीवन की विडंबनाओं को दर्शाया गया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में चंपा स्वयं को पुनर्जीवित करने के लिए, अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अनेक कष्टों को झेलते हुए, पूरे आत्मविश्वास के साथ संघर्ष में लगी रहती है और अंततः वह कंटीले नागफनी के बीहड़ के बीच स्वयं को निर्भय–निस्संग महसूस करते हुए मुस्कुराती है।

आज की आधुनिक नारी अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों से अवगत हो रही है और वह अपनी अस्मिता और अपनी पहचान बनाने के लिए स्वयं प्रयत्नशील है।

8.3.4 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की व्याख्या

प्रस्तुत कविता में कात्यायनी स्त्री विमर्श के महत्त्वपूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। जिस घर में सात भाइयों के साथ एक बहन होती है वहाँ बहन से प्रेम अधिक होना चाहिए, किन्तु ऐसे घरों में पितृसत्ता का प्रभाव इतने चरम पर होता है कि उस बेटी, बहन या अकेली लड़की को परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं के बीच दबा दिया जाता है।

कात्यायनी की यह कविता लोक कथाओं से निकल कर आती है जहाँ चंपा जीवन की विडंबनाओं से गुजरते हुए अपनी जिजीविषा और अस्मिता को बचाने के लिए प्रतिबद्ध दिखती है। कात्यायनी का 'सात भाइयों के बीच चंपा' यह कविता संग्रह अपने भीतर छियासठ कविताएँ समेटे हुए है, जिसे छह शीर्षकों के अंतर्गत रखा गया है। पहले खंड की कविताओं के केन्द्र में स्त्री है। मनुसंहिता और ऋग्वेद के समय से लेकर आज तक का उसका समाज विज्ञान, उसकी भावनाएँ, सपने और यथार्थ जीवन के बीच की दूरी, उसकी सामर्थ्य और विवशताएँ, उसकी न पूरी होने वाली

आकांक्षाएँ इस खंड में दिखाई देती हैं। 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता महत्त्वपूर्ण है। आइए इसकी व्याख्या देखें :

'सात भाइयों के बीच चंपा'

सात भाइयों के बीच
चंपा सयानी हुई।
बाँस की टहनी–सी लचक वाली,
बाप की छाती पर साँप–सी लोटती
सपनों में
काली छाया–सी डोलती
सात भाइयों के बीच
चंपा सयानी हुई।
ओखल में धान के साथ
कूट दी गई
भूसी के साथ कूड़े पर
फेंक दी गई।

प्रस्तुत पंक्तियाँ कात्यायनी की कविता 'सात भाइयों के बीच चंपा' से उद्‌धृत हैं।

संदर्भ : कात्यायनी ने उपर्युक्त पंक्तियों में समाज में लड़कियों की करुण दशा का मार्मिक चित्र खींचा है।

प्रस्तुत कविता में कात्यायनी लिखती हैं कि जिस घर में सात भाई और एक पिता के मध्य एक चंपा जैसी लड़की होती है वहाँ प्रेम अधिक होना चाहिए, किंतु ऐसे घरों में पितृसत्ता का प्रभाव चरम पर होता है। बेटी, बहन या अकेली लड़की का कोई ख्याल नहीं रखता वह केवल उनके ऊपर बोझ के समान होती है। कात्यायनी कविता में लिखती हैं कि सात भाइयों के बीच चंपा सयानी हुई। वह बाँस के समान लचकदार और लंबी होती चली गई और इसी कारण वह अपने पिता की छाती पर साँप सी लोटती रहती थी अर्थात् पिता के लिए एक चिंता का विषय बन चुकी थी। इसी चिंता के कारण पिता के सपनों में भी वह काली छाया बनकर डोलती रहती थी, क्योंकि वह सात भाइयों के बीच जवान होती गई थी। जिस प्रकार धान पक जाने के बाद धान को काटा जाता है और चावल बनाया जाता है। उसी प्रकार चंपा को चावल बनाने की प्रक्रिया में भूसी के समान फेंक दिया जाता है। चंपा को काम हो जाने के बाद घर से बाहर कर दिया जाता है या यूं कहें कि विवाह करके उसे घर से दूर फेंक दिया जाता है।

विशेष : (क) इनमें समाज में लड़की की स्थिति का चित्रण है।

(ख) भाषा सरल और सहज है।

(ग) 'बाँस की टहनी-सी लचक वाली', 'काली छाया-सी डोलती' में उपमा अलंकार है।

(घ) भाषा बिंबात्मक है।

* * *

वहाँ अमरबेल बनकर उगी।
झरबेरी के सात कँटीले झाड़ों के बीच
चंपा अमरबेल बन सयानी हुई।
फिर से घर आ धमकी।
सात भाइयों के बीच सयानी चंपा
एक दिन घर की छत पर
लटकती पाई गई।
तालाब में जलकुंभी के जालों के बीच
दबा दी गई।

चंपा एक बार फिर भूसी की ढेर से अमरबेल बनकर दुबारा अपने घर आ पहुँची, परन्तु किसी को कोई खुशी नहीं हुई। भाइयों के न चाहने पर भी चंपा अमरबेल बनकर घर में आ गई। फिर से वह अमरबेल के रूप में सात भाइयों के बीच सयानी हुई और एक दिन घर की छत पर लटकती हुई पाई गई। अर्थात् या तो उसने भाइयों के जुल्मों से परेशान होकर फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली या उसे फाँसी पर लटका दिया गया या तालाब में जलकुंभी के जालों के बीच उसे फेंक कर दबा दिया गया।

वहाँ एक नीलकमल उग आया।
जलकुंभी के जालों से ऊपर उठकर
चंपा फिर घर आ गई,
देवता पर चढ़ाई गई
मुरझाने पर मसलकर फेंक दी गई,
जलाई गई।
उसकी राख बिखेर दी गई
पूरे गाँव में।
रात को बारिश हुई झमड़कर।
अगले ही दिन
हर दरवाजे के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय–निस्संग चंपा
मुस्कुराती पाई गई।''

जहाँ चंपा को फेंककर दबा दिया गया था, वहाँ एक नया नीलकमल उग आया और चंपा फिर जलकुंभी के जालों से ऊपर उठकर एक बार फिर अपने भाइयों के घर आ गई। उस सुंदर कोमल नीलकमल को देखकर चंपा के भाइयों ने उसे देवताओं पर चढ़ाया पर उसके मुरझा जाने पर उसे मसल कर फेंक दिया गया और जला दिया गया इतना ही नहीं उसके जल जाने के बाद उसकी राख को पूरे गाँव में बिखेर दिया गया। इतना अत्याचार केवल इसलिए कि वह एक लड़की है। फिर उसी रात को बहुत तेज झमाझम बारिश हुई। बारिश के अगले ही दिन चंपा हर दरवाजे के बाहर नागफनी के बीहड़ घेरों

के बीच निर्भय निस्संग होकर मुस्कुराती हुई पाई गई। अर्थात् चंपा को अब अपनी सुरक्षित जगह मिल चुकी थी। वह कँटीले नागफनी के बीहड़ झुंड में स्वयं को सुरक्षित महसूस कर रही थी और मुस्कुरा रही थी। अब चंपा का अस्तित्व सुरक्षित था जिससे वह खुश थी।

बोध प्रश्न 2

1. कात्यायनी किस विमर्श की कवयित्री हैं?

   क) आदिवासी विमर्श ख) स्त्री विमर्श ग) दलित विमर्श घ) इनमें से कोई नहीं।

2. कात्यायनी का जन्म......................राज्य में हुआ है।

   क) उत्तर प्रदेश ख) उत्तराखंड ग) झारखंड घ) दिल्ली

3. 'सात भाइयों के बीच चंपा' नामक कविता किस कविता संग्रह से ली है?

   ....

   ....

4. कात्यायनी के चार कविता संग्रह के नाम लिखिए।

   ....

   ....

5. कात्यायनी के चार निबंध संग्रह के नाम लिखिए।

   ....

   ....

6. कात्यायनी का जीवन परिचय लिखिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

विशेष :

1. समाज में लड़कियों के ऊपर हो रहे अत्याचार का मार्मिक चित्रण है।
2. लड़की या स्त्री की अपनी अस्मिता, अपने स्वप्न और जिजीविषा को बचाए रखने के लिए दृढ़ संकल्प-शक्ति और प्रतिबद्धता का संकेत है।
3. भाषा गद्यात्मक, चित्रात्मक और संप्रेषणीय है।
4. बाँस की टहनी-सी लचक वाली, बाप की छाती पर साँप-सी लोटती में उपमा अलंकार है।
5. 'अमरबेल बन सयानी हुई' में रूपक अलंकार है।
6. 'निर्भय-निस्संग में अनुप्रास का सौंदर्य है।

अभ्यास

1. कात्यानी का जीवन परिचय लिखिए।
2. 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की समीक्षा लिखिए।
3. 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता के माध्यम से कवयित्री क्या कहना चाहती हैं? लिखिए।
4. वर्तमान समय में 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता की क्या प्रासंगिकता है?

8.4 अनामिका की कविता 'बेजगह'

बीसवीं सदी के अंतिम दशक से अनामिका एक उत्कृष्ट कवयित्री, उपन्यासकार, कहानीकार और एक स्त्री चिंतक के रूप में प्रसिद्ध रही हैं। इनके लेखन में स्पष्टतः स्त्री विमर्श दिखाई देता है। कविता के क्षेत्र में अनामिका के छः कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें अधिकांश कविताएँ स्त्री विमर्श से जुड़ी हुई हैं। इस पाठ्यक्रम में जिस कविता को पढ़ाया जा रहा है वह भी स्त्री विमर्श की कविता है। 'बेजगह' कविता 'खुरदुरी हथेलियाँ' कविता संग्रह से ली गई है।

'खुरदुरी हथेलियाँ' अनामिका का एक उत्कृष्ट काव्य संग्रह है। इस संग्रह के लिए अनामिका को सन् 2007 में केदार सम्मान से सम्मानित भी किया गया है। इस संग्रह में समाज, जीवन और स्त्री से जुड़ी हुई कविताएँ हैं। यह संग्रह छह खंडों में विभक्त है जिसमें– अंतःपुरम् (20 कविताएँ), दुधकट्टू (10 कविताएँ), कुछ अटपटी प्रेम कविताएँ (10 कविताएँ), आजादी (7 कविताएँ), मुसलमान क्या होते हैं अम्मा! (5 कविताएँ) और तोस–भरोस (26 कविताएँ) हैं। प्रसिद्ध कवि और आलोचक प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव के अनुसार –''पहले खंड की कविता अनामिका की सोच और प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है। लगता है जैसे यह कविता इस संग्रह का प्रवेश द्वार हो। यह इस संग्रह की भी सबसे अच्छी कविताओं में है। इसको पढ़ते हुए ठेठ भारतीय स्त्री का जीवन पाठक की चेतना में उभर आता है। कवयित्री स्त्रियों की ओर से उस सच का बयान करती है, जिसे जाने अनजाने पुरुष समाज न समझ पाता है, न देख पाता है और कभी–कभी तो न देखने का

स्वांग भी करता है।'' (विचारधारा, नए विमर्श और समकालीन कविता, जितेन्द्र श्रीवास्तव, पृष्ठ–63)

कविता संग्रह के इसी प्रथम खंड 'अंतः पुरम्' की दूसरी कविता 'बेजगह' है। 'बेजगह' कविता स्त्री विमर्श से संबंधित है। स्त्री विमर्श में सम्मिलित होना और इस विषय पर लिखना अनामिका के साहित्य की पहचान है। हमारे समाज और परिवारों में परंपराओं से चली आ रही कुप्रथाएँ और कुविचारों को अनामिका बहुत ही संवेदनशील ढंग से अपनी रचनाओं में उठाती हैं जिससे पाठक उनकी बात आसानी से समझ सके और उसके भीतर एक चेतना का प्रसार भी हो सके। उन पुरानी गलतियों और चली आ रही परंपराओं और रूढ़ियों को लेकर वे सवाल भी उठाती हैं क्योंकि प्राचीन काल से स्त्रियों के लिए तरह–तरह के सामाजिक और पारिवारिक मानदंड निर्धारित कर दिए गए हैं।

अनामिका एक चिंतक भी हैं। इस नाते वे अपनी रचनाओं में ऐसी बात सरल शब्दों में कह जाती हैं जिसका अर्थ बहुत गहराई में होता है। वे केवल स्त्री के मन को ही नहीं टटोलती बल्कि स्त्री की हर भूमिका को समझती हैं और उनके मन को समझते हुए सवाल उठाती हैं। ये सवाल उस व्यवस्था से होते हैं जो स्त्रियों को दयनीय बना रही है, उनको अपनी जगह नहीं दे रही है। अनामिका को स्त्रियों के सपने उनकी आकांक्षाएँ, अस्मिता और उनकी पहचान को बचाए रखने के लिए इस पितृसत्ता से सवाल पूछने पड़ रहे हैं।

अनामिका की कविता 'बेजगह' स्त्री के जीवन संबंधी सवालों को उठाती है। यह कविता गहरी संवेदना के साथ व्यापक परिप्रेक्ष्य में परंपरा से चली आ रही स्त्रियों की नियति और स्त्री मन में पैदा हुए सवालों को भाषिक संरचना की दृष्टि से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्त्रीवादी कविता बनाती है। वर्तमान युग में स्त्री सदैव अपने आप से प्रश्न करती है कि आखिर उसकी जगह कहाँ है? पितृसत्तात्मक व्यवस्था और इस समाज के साथ जोड़कर अपने चुनौती भरे सवालों को वह उठाती है जिससे यह प्रतीत होता है कि उनकी यह कविता एक स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता की सोच को प्रस्तुत करती है। हालांकि इनकी कविताओं में अनेक विषयों का समावेश होता है, किन्तु स्त्री की दृष्टि को एक नए आयाम के साथ वे प्रस्तुत करती हैं। इसी कारण साहित्य में इनकी एक अलग और विशिष्ट पहचान है।

8.4.1 अनामिका का जीवन :संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

हिन्दी साहित्य में अनामिका एक प्रसिद्ध कवयित्री, कहानीकार, उपन्यासकार और चिंतक के रूप में प्रसिद्ध हैं। अनामिका की कविताओं को समझने के लिए इनके व्यक्तित्व और कृतित्व को जानना आवश्यक है।

व्यक्तित्व

अनामिका का जन्म 17 अगस्त सन् 1961 को बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में हुआ है। इनके पिता का नाम श्री श्यामनंदन किशोर और माता का नाम आशा किशोर है। इनके पिता हिन्दी के विद्वान और प्रसिद्ध कवि थे। वे बिहार विश्वविद्यालय के आचार्य और कुलपति रह चुके हैं। इन्हें हिन्दी, अंग्रेजी, इटालियन, रूसी, आदि अनेक भाषाएँ आती थीं। ये कई बार विदेशों में भाषण देने भी जा चुके हैं। इनके प्रमुख काव्य संग्रह– शेफालिका, विभावरी, सूरजमुखी तथा कविश्री हैं। इनको पद्मश्री अलंकरण (1972) तथा नेहरू

फेलोशिप सम्मान भी प्राप्त हुए थे। इनकी माताजी भी पढ़ी–लिखी और सांस्कारिक महिला रही हैं।

बचपन – अनामिका की बाल्यावस्था सुख–सुविधाओं से सम्पन्न रही है। इन्हें अपने माता–पिता का स्नेह और लाड़–प्यार सदैव मिलता रहा है। इनके घर पढ़ने–लिखने का माहौल रहा है। इनके पिता पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के शिष्य थे। चूंकि पिता हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य के विद्वान और एक कवि भी रहे हैं इसलिए इनके घर पर साहित्यकारों का आना–जाना लगा ही रहता था। अनामिका को बचपन से ही साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक चर्चाएँ सुनने को मिलती रहीं हैं, क्योंकि इनके पिता से जो विद्वान मिलने आते थे वे चर्चा किया करते थे। इनके माता–पिता ने इन्हें अच्छी परवरिश के साथ अच्छे संस्कार और गुण भी सिखाए। पिता श्यामनंदन किशोर जी ने अपनी पुत्री अनामिका को सरस्वती के दो बीज मंत्र भी सिखाए थे। वे कहते थे– 'जो ब्रह्ममुहूर्त में उठकर नहा–धोकर मंत्र पढ़कर पढ़ने की मेज पर बैठ जाता है। सरस्वती माँ उसकी बुद्धि के सारे कपाट खोल देती है। वह जो पढ़ता है उसके नए–नए अर्थ खुलने लगते हैं। वह महाज्ञानी हो जाता है। (एक ठो शहर : एक गो लड़की, पृ. 25)

अनामिका को अपने माता–पिता और भाई से साहित्यिक योगदान प्राप्त होता रहा। अनामिका अपने साक्षात्कार में बताती हैं कि वे अपने पिता के साथ कविताओं की अंत्याक्षरी खेलती थीं और इसी वजह से बचपन से ही वे कविता करना सीख गईं। अनामिका के भाई उन्हें नई–नई किताबें लाकर देते थे और उन किताबों पर चर्चा किया करते थे। अनामिका के पिता की मृत्यु लगभग पचास साल की उम्र में ही हो गई। इसके बाद इनके पिता के परम मित्र केदारनाथ सिंह (प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार) से अनामिका को कविता और साहित्य के क्षेत्र में मार्गदर्शन मिला। अनामिका का दार्शनिक नजरिया बचपन से ही विकसित होता रहा है, क्योंकि उन्हें ऐसा माहौल अपने घर पर ही मिलता रहा है। पिता के साहित्यिक मित्र घर आते और चर्चा किया करते और अनामिका उन्हें सुना करती।

शिक्षा – अनामिका की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा सेंट फ्रांसिस जेवियर्स एकेडेमी तथा चैयमैन कन्या स्कूल, मुजफ्फरपुर में सम्पन्न हुई। अनामिका की उच्च शिक्षा दिल्ली में सम्पन्न हुई। इन्होंने अंग्रेजी विषय लेकर अपनी शिक्षा पूरी की। आपने हिन्दी और अंग्रेजी दोनों विषयों से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद आपने डी. लिट. की उपाधि भी प्राप्त की।

कार्यक्षेत्र – अनामिका की प्रथम नियुक्ति दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में अंग्रेजी के लेक्चरार के पद पर हुई। वे अब प्रोफेसर हैं। इसके अतिरिक्त उनका कार्यक्षेत्र लेखन का है। वे एक लेखिका, कवयित्री, अनुवादक और चिंतक भी हैं।

विवाह – अनामिका का विवाह सन् 1985 में 25 वर्ष की उम्र में डॉ. बिंदु अमिताभ के साथ हुआ था। डॉ. बिंदु अमिताभ सफदरजंग अस्पताल, दिल्ली में नेफ्रालॉजी विभाग में अध्यक्ष हैं। वे बहुत अच्छे और निपुण चिकित्सक के साथ ही साथ एक मेडिसन शिक्षक के रूप में भी जाने जाते हैं। स्वभाव से नेक, ईमानदार और पारदर्शी व्यवहार के वे धनी हैं। अनामिका के दो बेटे हैं। बड़ा बेटा इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी कर नौकरी कर रहा है और दूसरा बेटा अभी उच्च शिक्षा में अध्ययनरत है।

स्वभाव – अनामिका के स्वभाव में सरलता, मधुरता और सौम्यता है। इनमें अहंकार का भाव नहीं है। इसी वजह से छात्र, साहित्यकार, मित्र, परिवार और पाठक सभी इनके प्रति आकर्षित होते हैं। वे सहज भाव और मधुर वाणी की धनी हैं। अनामिका के भीतर अनेक गुण विद्यमान हैं। अनामिका की पकड़ भाषा और भाव दोनों पर बहुत अच्छी है। वे अपनी बात साहित्य में सरल और स्पष्ट शब्दों के साथ अभिव्यक्त करती हैं। इनकी रचनाओं में प्रतीकों और बिम्बों का भी प्रयोग होता है। अनामिका की रुचि लेखन कार्य और चिंतन–मनन में अधिक है।

कृतित्व

अनामिका एक प्रतिष्ठित कवयित्री, उपन्यासकार और स्त्रीवादी चिंतक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। इनके साहित्य का क्षेत्र व्यापक फलक को प्रस्तुत करता है। अनामिका दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती महाविद्यालय में अंग्रेजी विषय की वरिष्ठ प्राध्यापिका हैं। इन्हें अंग्रेजी और हिंदी के साहित्य का अच्छा ज्ञान है। हिंदी साहित्य के बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों से 21वीं सदी के दो दशकों तक यानी अब तक इनके साहित्य की चर्चा बराबर बनी हुई है। इन्होंने अपनी कविताओं और अन्य गद्य विधाओं में अनेक विषयों को उठाया है। मुख्य रूप से इनकी कविताओं और उपन्यासों में स्त्री विमर्श दिखाई देता है।

अनामिका ने 17 साल की उम्र में ही इंटरमीडिएट की पढ़ाई करते हुए एक आंदोलन की पृष्ठभूमि तथा कम्युनिष्ट पार्टी की होल टाइमरी पर दो कहानियाँ लिखीं। पहली 'इमारत की पायदारी' नाम से जो कि सारिका पत्रिका के महिला विशेषांक में प्रकाशित हुई थी। उस समय सारिका पत्रिका के संपादक कमलेश्वर (प्रसिद्ध साहित्यकार) थे। अनामिका की दूसरी कहानी 'हरी ठूंठ' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसके बाद उन्होंने उस दौर के बेरोजगार युवाओं की राजनीतिक उठा–पटक पर 'अवांतर कथा' नाम से एक उपन्यास लिख डाला।

अनामिका की रचनाएँ

अनामिका ने कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आलोचना, विमर्श, अनुवाद आदि गद्य विधाओं में उत्कृष्ट लेखन कार्य किया है।

कविता संग्रह :

- गलत पते की चिट्ठी (1978),
- समय के शहर में (1994),
- बीजाक्षर (1995),
- खुरदुरी हथेलियाँ (1998),
- अनुष्टुप (1998),
- कविता में औरत (2002)
- दूब–धान (2007)

- कवि ने कहा (चुनी हुई कविताएँ) (2011)
- एक क़स्बाई लड़की की डायरी, (2019)
- पानी को सब याद था, 2019 (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)

उपन्यास :

- पर कौन सुनेगा (1982)
- अवांतर कथा (2000)
- दस द्वारे का पिंजरा (2007)
- तिनका तिनके पास (2007)
- लालटेन बाज़ार (2019)
- आईना साज़ (2020) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

कहानी संग्रह :

- प्रतिनायक

संस्मरण :

- एक ठो शहर : एक गो लड़की,
- एक थे शेक्सपीयर,
- एक थे चार्ल्स डिकेंस

आलोचना :

- पोस्ट एलियट पोएट्रीः अ वॉएज फ्रॉम कांप्लिक्ट टु आइसोलेशन,
- डन क्रिटिसिज्म डाउन दि एजेज,
- ट्रीटमेंट ऑव लव ऐंड डेथ इन पोस्ट वार अमेरिकन पोएट्स,
- ट्रांसलेटिंग रेशियल मेमरी।

विमर्श :

- स्त्रीत्व का मानचित्र ,
- मन माँजने की जरूरत है (2004)
- पानी जो पत्थर पीता है, (2005)
- त्रियाचरित्रं : उत्तरकाण्ड,
- स्वाधीनता का स्त्री–पक्ष (2012)
- स्त्री–मुक्ति : साझा चूल्हा, (2014)
- स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, (2016)

अनुवाद :

- औरतों की मेज का कवि– रिल्के,
- अब भी वसंत को तुम्हारी जरूरत है– रिल्के की कविताएँ (2004) कविता संग्रह
- कहती हैं औरतें (विश्व साहित्य की स्त्रीवादी कविताएँ)
- नागमंडल (गिरीश कर्नाड),
- अटलांत के आर–पार (समकालीन अंग्रेजी कविता)

पुरस्कार और सम्मान :

- राज भाषा परिषद पुरस्कार–1987
- भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार–1995
- गिरिजा कुमार माथुर सम्मान– 1998
- साहित्यकार सम्मान–1997
- परंपरा सम्मान–2001
- साहित्य सेतु सम्मान–2004
- ऋतुराज सम्मान
- द्विजदेव सम्मान
- केदार सम्मान–2007
- शमशेर सम्मान–2014
- मुक्तिबोध सम्मान–2015
- वाणी फ़ाउंडेशन डिस्टिंग्विश्ड ट्रांसलेटर अवार्ड–2017
- साहित्य अकादमी पुरस्कार–2020 (टोकरी में दिगंत मेरी गाथा)

स्पष्ट है कि अनामिका के साहित्य लेखन का दायरा बहुत विस्तृत है। अनामिका का लेखन कार्य स्त्री विमर्श की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आगे हम इनकी कविता 'बेजगह' पर चर्चा करेंगे–

8.4.2 'बेजगह' कविता का वाचन

अपनी जगह से गिर कर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाखून" –
अन्वय करते थे किसी श्लोक को ऐसे
हमारे संस्कृत टीचर।
और मारे डर के जम जाती थीं
हम लड़कियाँ अपनी जगह पर।

जगह? जगह क्या होती है?
यह वैसे जान लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में ही।

याद था हमें एक–एक क्षण
आरंभिक पाठों का
राम, पाठशाला जा !
राधा, खाना पका !
राम, आ बताशा खा !
राधा, झाड़ू लगा !
भैया अब सोएगा
जाकर बिस्तर बिछा !
अहा, नया घर है !
राम, देख यह तेरा कमरा है !
'और मेरा ?'
'ओ पगली,
लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता।"

जिनका कोई घर नहीं होता
उनकी होती है भला कौन–सी जगह ?
कौन–सी जगह होती है ऐसी
जो छूट जाने पर औरत हो जाती है।

कटे हुए नाखूनों,
कंघी में फँस कर बाहर आए केशों–सी
एकदम से बुहार दी जाने वाली?

घर छूटे, दर छूटे, छूट गए लोग–बाग
कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी छूटे!
छूटती गई जगहें
लेकिन, कभी भी तो नेलकटर या कंघियों में
फँसे पड़े होने का एहसास नहीं हुआ!

परंपरा से छूट कर बस यह लगता है
किसी बड़े क्लासिक से
पासकोर्स बी.ए. के प्रश्नपत्र पर छिटकी
छोटी–सी पंक्ति हूँ
चाहती नहीं लेकिन
कोई करने बैठे
मेरी व्याख्या सप्रसंग।

सारे संदर्भों के पार
मुश्किल से उड़ कर पहुँची हूँ
ऐसी ही समझी–पढ़ी जाऊँ
जैसे तुकाराम का कोई
अधूरा अंभग!

8.4.3 'बेजगह' कविता की अंतर्वस्तु एवं मूल संवेदना

'बेजगह' शब्द का अर्थ होता है जिसकी कोई जगह न हो। जगह के कई मायने हो सकते हैं जैसे घर–परिवार में जगह, हृदय में जगह और अपने वजूद की जगह।

अनामिका की 'बेजगह' कविता का उद्देश्य बहुत ही स्पष्ट है वह समाज को यह स्पष्ट समझाना चाहती हैं कि स्त्रियों के लिए कोई जगह निर्धारित नहीं है। उसे रुढ़िवादी समाज में जब चाहा अपने घर से दूसरे घर भेज दिया जाता है और वह दूसरा घर भी उसका अपना नहीं होता, क्योंकि वहाँ भी पितृसत्ता का वर्चस्व रहता है। स्त्री विमर्श की दृष्टि से हम जान सकते हैं कि स्त्रियों की वास्तव में कोई जगह नहीं होती है, क्योंकि उन्हें मनुष्य समझा ही नहीं जाता है। स्त्रियों को तो केवल एक वस्तु या फिर कटे हुए नाखून या फँसे हुए केश के समान बुहार कर फेंक दिया जाता है।

शिक्षा की दृष्टि से देखें तो यह कविता शिक्षा व्यवस्था के आरंभिक पाठों पर कटाक्ष करती है। प्रारंभ से ही हमें ऐसी शिक्षा दी जा रही है जहाँ लड़की और लड़के में भेद को दिखाया जाता रहा है। बचपन में बच्चों के कोमल मन को जैसा गढ़ा जाता है वह वैसा बनता चला जाता है। ये पाठ आज के दौर में हम पढ़कर आगे बढ़ चुके हैं किन्तु अनामिका हमें आज स्त्री विमर्श के दौर में यह पाठ दुबारा याद दिलाती हैं कि ये हमारी पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही है जिसने हमें बचपन से ही इस बात का अहसास दिलवा दिया था कि हम लड़कियों की कोई जगह नहीं होती है। हम बेजगह ही रहती हैं।

अनामिका की 'बेजगह' कविता 'खुरदुरी हथेलियाँ' नामक कविता संग्रह से ली गई है। इस कविता में स्त्री विमर्श के कई बिंदु दिखाई देते हैं। 'बेजगह' कविता के माध्यम से कवयित्री अनामिका यह बताना चाहती हैं कि हमारे समाज में बचपन से ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पुरानी परंपराओं के कारण लड़के और लड़की में भेदभाव किया जाता रहा है जिसके कारण समाज और घर में स्त्रियों की अपनी कोई जगह ही नहीं रहती।

कविता में बताया गया है कि लड़कियाँ जब छोटी थीं और पहली कक्षा में पढ़ती थीं उसी समय से उनके संस्कृत के टीचर ने उन्हें किसी श्लोक के माध्यम से समझाया था कि केश, नाखून और औरतें अपनी जगह से गिरकर कहीं की नहीं रहती हैं। उसी दिन से लड़कियाँ डर के मारे अपनी ही जगह पर जम जाती थीं। फिर लड़कियों के मन में प्रश्न उठता था कि 'जगह' क्या होती है? वैसे जगह क्या होती है यह उन्होंने अपने अनुभव से ही समझ लिया था। कवयित्री कहती हैं कि उन्हें याद था वह एक–एक पाठ जो उन्हें आरंभ से ही पढ़ाया जाता था। जैसे –राम पाठशाला जा, राधा खाना पका, राम आ बताशा खा, राधा झाड़ू लगा, भैया अब सोएगा, जाकर बिस्तर बिछा, अहा नया घर है! राम देख यह तेरा कमरा है। लड़कियों ने आरंभिक पाठों में ही यह सब पढ़ लिया कि जो लड़का होता है अर्थात् पुरुष वर्ग उसे घर में मान–सम्मान के साथ पाठशाला भेजा जाता

है, उसके खाने के लिए बताशा, मिठाई आदि दिए जाते हैं और उसके आराम करने अर्थात् सोने के लिए बिस्तर भी बिछवाया जाता है। जब नया घर बनता है तो उसे अलग से कमरा भी दिया जाता है किन्तु लड़कियों को बचपन से ही भाई की खातिरदारी और घर के कामों को करना सिखाया जाता है जैसे राधा खाना पका, झाड़ू लगा, बिस्तर बिछा आदि। जब नया घर बनता है तो लड़कियों के लिए कोई कमरा नहीं होता, न ही उनकी कोई जगह होती है। जब माँ से पूछा जाता है कि उनका कमरा कहाँ है तो वह जवाब देती है कि ''ओ पगली! लड़कियाँ हवा, धूप और मिट्टी होती हैं। उनका कोई घर नहीं होता''। अर्थात् लड़कियों को इस पितृसत्ता समाज में केवल हवा, धूप और मिट्टी ही समझा जाता है जिसका न कोई घर और न ही स्थान होता है। केवल उससे काम करवाये जाते हैं। माँ के इस उत्तर पर राधा पूछती है जिनका कोई घर नहीं होता उनकी कौन सी जगह होती है? जो छूट जाने पर औरत हो जाती है। अर्थात् हम लड़कियाँ जिन्हें अपना घर बोलती हैं वह भी उनका घर नहीं होता और जब लड़कियों से अपनी माँ का घर छूट जाता है तब लड़कियाँ औरत हो जाती हैं। जिस प्रकार कटे हुए नाखून या कंघी में फँसकर बाहर आए केश जो अपनी जगह से काट दिये जाते हैं उन्हें एकदम से झाड़ू द्वारा बुहार कर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार औरत की स्थिति होती है।

जब लड़की का घर छूटता है, दर छूटता है और अपने आस-पास के लोग-बाग भी छूट जाते हैं, तभी वे कुछ प्रश्न जो हृदय में आते थे वे भी घर और दर के साथ छूट जाते हैं। स्त्रियों के जीवन में जगहें छूटती जाती हैं फिर भी उन्हें कभी इस बात का एहसास नहीं हुआ कि वे भी अपने ही घर में उस नेलकटर और कंघी में फँसे केश और नाखून के समान ही थीं।

कवयित्री कहती हैं कि अब परंपरा से छूटकर या निकलकर मुझे यह लगता है कि किसी विशिष्ट खंड से निकलकर बी.ए. के पासकोर्स के प्रश्नपत्र पर छपी एक छोटी सी पंक्ति हूँ लेकिन आज मैं यह नहीं चाहती कि कोई इसकी सप्रसंग व्याख्या करने बैठे। कवयित्री लिखती हैं कि इन सारे पुराने संदर्भों को पार करके आज बहुत मुश्किल से उड़ कर यहाँ पहुँची हूँ और मैं चाहती हूँ कि मैं ऐसी ही पढ़ी–समझी जाऊँ जैसे तुकाराम का कोई अधूरा अभंग! अर्थात् मैं तुकाराम की कोई अधूरी काव्यात्मक रचना के रूप में पढ़ी–समझी जाऊँ।

इस तरह अनामिका की 'बेजगह' कविता स्त्री के अस्तित्व और वजूद पर प्रश्न खड़ा करती है। आखिर स्त्री बेजगह क्यों होती है? उसका अपना घर क्यों नहीं होता है? ये समाजशास्त्र के प्रश्न हैं, जो बेचैन करने लगते हैं। इस कविता का शीर्षक अपने आपमें बहुत ही सार्थक है।

8.4.4 कविता की व्याख्या

अनामिका की यह कविता 'खुरदुरी हथेलियाँ' कविता संग्रह से ली गई है। यह कविता स्त्री विमर्श की कविता है। इस कविता में अनामिका ने स्त्री की जगह क्या है जैसे प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है और स्त्री को प्राचीन काल से किस नजरिये से देखा जाता रहा है, इसे एक नये अंदाज ने इस कविता में अभिव्यक्त किया है।

"अपनी जगह से गिर कर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाख़ून" –

अन्वय करते थे किसी श्लोक को ऐसे
हमारे संस्कृत टीचर।
और मारे डर के जम जाती थीं
हम लड़कियाँ अपनी जगह पर।

जगह ? जगह क्या होती है?
यह वैसे जान लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में ही।

उपर्युक्त पंक्तियाँ अनामिका की कविता 'बेजगह' से उद्धृत हैं।

संदर्भ : प्रस्तुत पंक्तियों में अनामिका ने समाज में स्त्री की दशा का मार्मिक चित्रण किया हैं। प्रगतिशील युग में भी लड़की रुढ़िवादी वर्जनाओं को नहीं तोड़ सकती है। समाज उसके जीवन की दिशा को निर्धारित करता है।

व्याख्याः अनामिका अपनी कविता 'बेजगह' के माध्यम से बताना चाहती हैं कि स्त्री की अपनी कोई इच्छित जगह नहीं होती है। वह समाज द्वारा निश्चित जगह से यदि हटी तो वह कहीं की नहीं रहती, जिस प्रकार हमारे केश (बाल) और नाखून कटने के बाद कहीं के नहीं रहते। जब तक हमारे सिर पर केश रहते हैं तब तक हम उसकी बहुत देखभाल करते हैं, उसे धोते हैं, तेल लगाते हैं, संवारते और बार–बार आईने के सामने जाकर स्वयं को देखते हैं। उससे प्रेम करते हैं। परन्तु जैसे ही उस केश को हम काट देते हैं या कटवा देते हैं उसकी कोई कीमत नहीं रह जाती और फिर वे हमारे लिए बेकार हो जाते हैं। हमारे शरीर और जीवन में उसकी कोई जगह नहीं रहती है। ठीक उसी प्रकार हमारे नाखून जब तक हमारे हाथों और पैरों में रहते हैं हम उसका ध्यान रखते हैं परन्तु जैसे ही उसे हम नेलकटर से काट देते हैं, उसकी कोई जगह नहीं रह जाती है हमारे शरीर में। अनामिका कहती हैं ठीक उसी प्रकार हम औरतें हैं हमारी भी कोई जगह नहीं है। हम भी एक जगह से दूसरी जगह कट–कट कर गिरती रहती हैं। कवयित्री कहती हैं कि हमारे संस्कृत के टीचर (शिक्षक) कभी–कभी हमें ऐसे श्लोक पढ़ाते थे और तब हम लड़कियाँ डर के कारण जमकर अपनी ही जगह पर बैठी रह जाती थीं।

कवयित्री आगे लिखती हैं कि जगह? जगह क्या होती है? हमने उस संस्कृत के श्लोक की तरह अपनी पहली कक्षा में ही जान लिया था।

विशेष : (क) समाज में पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता का चित्रण है।

(ख) भाषा गद्यात्मक है।

(ग) प्रश्न सूचक चिह्न मौन प्रतिरोध को दर्शाते हैं।

(घ) स्त्री-मुक्ति की बेचैनी है।

याद था हमें एक–एक क्षण
आरंभिक पाठों का–
राम पाठशाला जा!
राधा खाना पका!

राम आ बताशा खा!
राधा झाड़ू लगा!
भैया अब सोएगा
जाकर बिस्तर बिछा!
अहा, नया घर है!
राम, देख यह तेरा कमरा है!
'और मेरा ?'
'ओ पगली,
लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता।''

उपर्युक्त पंक्तियों में अनामिका कहती हैं कि हमें अपने आरंभिक पाठों का वह एक–एक क्षण याद है जिसमें हमें पढ़ाया जाता था – राम पाठशाला जा, राधा खाना पका, राम आ बताशा खा, राधा झाड़ू लगा, भैया अब सोएगा, जाकर बिस्तर बिछा। कवयित्री यह बता रही हैं कि हम लड़कियों (स्त्रियों) को परंपरा से घर के ही काम करने की आज्ञा दी जाती रही है और लड़कों को पढ़ने, खाने, आराम करने, सोने आदि के लिए कहा जाता रहा है। हम बचपन से ही यह सब देखती आ रही हैं कि हम लड़कियों को घरेलू काम दो–तीन साल की उम्र से ही करने के लिए कहा जाता है। हमें कहा जाता है – घर में पानी ला, ये गिलास उठा। लड़कों को पढ़ने, खेलने, खाने और आराम करने के लिए ही कहा जाता रहा है। इसी बात को लेकर अनामिका कह रही हैं कि हम स्त्रियाँ बचपन से ही रूढ़ियों और भेदभाव के तले दबी आ रही हैं।

आगे कवयित्री कहती हैं कि भाई बहन के बीच जब माता–पिता भेदभाव करते हैं तब लड़कियों के लिए अपना कुछ भी नहीं रहता है। इसी बात को कविता में बताया जा रहा है– अहा नया घर! राम यह देख तेरा कमरा 'और मेरा'? बच्ची अपने भाई राम से कहती है कि यह हमारा नया घर है और राम यह तुम्हारा कमरा है। वह अपनी माँ से पूछती है कि मेरा कमरा कहाँ है? तब माँ जवाब देती है, ''ओ पगली! लड़कियाँ हवा, धूप और मिट्टी होती हैं। उनका कोई घर नहीं होता।'' माँ की यह बात विचार करने लायक है कि क्या लड़कियाँ वास्तव में हवा, धूप और मिट्टी होती हैं? हवा, धूप और मिट्टी तीनों ऐसी हैं जो कभी एक स्थान पर नहीं रहतीं। वे जगह बदलती रहती हैं। हवा हर समय तेज नहीं रहती, न ही हर समय बहती है, कभी–कभी शांत रहती है, उसी प्रकार धूप सुबह से शाम तक एक समान नहीं रहती और मिट्टी का क्या है उसे तो कभी भी कुछ भी बना दो। मिटा दो, दबा दो, या फेंक दो उसके साथ तो जो मर्जी चाहे कर लो उसका अपना अस्तित्व कुछ नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार लड़की का भी अपना कोई अस्तित्व नहीं होता वह तो परंपराओं और बंधनों के दबाव में ढलती चली जाती है। उसका अपना कोई घर और कमरा होता ही नहीं है।

जिनका कोई घर नहीं होता–
उनकी होती है भला कौन–सी जगह?
कौन–सी जगह होती है ऐसी
जो छूट जाने पर औरत हो जाती है।

अनामिका यहाँ पर एक बड़ा सवाल खड़ा कर रही हैं कि आखिर जिन लड़कियों का कोई घर नहीं होता, उनकी कौन सी जगह होती है? ऐसी कौन सी जगह होती है जो छूट जाने पर वह औरत हो जाती है?

> कटे हुए नाख़ूनों
> कंघी में फँस कर बाहर आए केशों–सी
> एकदम से बुहार दी जाने वाली?

अनामिका आगे कहती हैं जिस प्रकार कटे हुए नाखून और कंघी में फँस कर केश(बाल) आते हैं और उन्हें झाडू से बुहार कर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार हम लड़कियाँ होती हैं, जिसकी कोई, कीमत नहीं होती। अर्थात् स्त्रियों की कोई जगह नहीं होती है और उनको कभी भी बुहार कर घर से बाहर फेंका या कहीं भेजा जा सकता है।

> घर छूटे, दर छूटे, छूट गए लोग–बाग
> कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी छूटे!
> छूटती गई जगहें
> लेकिन, कभी भी तो नेलकटर या कंघियों में
> फँसे पड़े होने का एहसास नहीं हुआ!

अनामिका आगे कहती हैं कि घर छूटे, दर छूटे और छूट गए लोग–बाग अर्थात् लड़कियों की कोई जगह नहीं होती है। जिस घर और दर को वह अपना समझती हैं, वे भी उनसे छूट जाते हैं और उनके अपने लोग भी उनसे दूर होकर छूट जाते हैं। कवयित्री कहती हैं कि इतने वर्षों से कुछ प्रश्न पीछे पड़े थे, वे भी अब छूट गए हैं। अर्थात् जिन प्रश्नों को हम स्त्रियाँ सोचती हैं, पूछती हैं वे भी एक समय के बाद छूट जाते हैं, क्योंकि वह जगह ही छूट जाती है, जहाँ वे रहती हैं। वह यह भी कहती हैं कि हम स्त्रियों को इस बात का अहसास कभी भी नहीं हुआ कि हम अपने ही घर में नेलकटर और कंघियों में फँसे पड़े नाखून और बाल के समान हैं। अर्थात् हम स्त्रियों की कोई पहचान और स्थान नहीं है।

> परंपरा से छूट कर बस यह लगता है–
> किसी बड़े क्लासिक से
> पासकोर्स बी.ए. के प्रश्नपत्र पर छिटकी
> छोटी–सी पंक्ति हूँ–
> चाहती नहीं लेकिन
> कोई करने बैठे
> मेरी व्याख्या सप्रसंग।

अनामिका लिखती हैं कि स्त्रियाँ स्वयं को परंपरा से छूटा हुआ महसूस करती हैं तो उन्हें ऐसा लगता है कि वे बड़े क्लासिक(उत्कृष्ट) रूप से पासकोर्स बी.ए. के प्रश्नपत्र की एक छोटी सी पंक्ति हैं। वह भी ऐसी पंक्ति जिसकी कोई सप्रसंग व्याख्या करने बैठे। परंपरा से ऐसा होता आया है कि जो भी परंपरा से छूटता है उसे विशिष्ट और उत्कृष्ट स्थान

दिया जाता है। स्त्रियाँ भी उस परंपरा से छूटी हैं लेकिन हम स्त्रियाँ यह कदापि नहीं चाहतीं कि कोई हमारी सप्रसंग व्याख्या करे। अर्थात् मेरी जो स्थिति है उसकी समाज में लोग परंपरा से छूट जाने पर हमारी सप्रसंग व्याख्या करते हैं। इस व्याख्या में हर व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है और उनके अपने विचार होते हैं। विस्तार से कोई व्याख्या करे ऐसा हम नहीं चाहतीं।

सारे संदर्भों के पार
मुश्किल से उड़ कर पहुँची हूँ
ऐसी ही समझी–पढ़ी जाऊँ
जैसे तुकाराम का कोई
अधूरा अंभग!
'तुकाराम के 'अभंग' मन में थे।

कवयित्री कविता में लिखती हैं कि सारे संदर्भों को पार करके आज मैं बहुत मुश्किल से उड़कर पहुँची हूँ इसलिए मैं ऐसी ही समझी पढ़ी जाऊँ जैसे तुकाराम का कोई अधूरा अभंग।

कविता का शीर्षक 'बेजगह' अपने आप में सार्थक है। इसमें स्त्री की बेचैनी दबी हुई आकांक्षाएँ, स्वाभिमान, मर्यादाबोध आदि के भावों का काफ़ी मार्मिक चित्रण है।

बोध प्रश्न 3

1. अनामिका की कविता बेजगह किस कविता संग्रह से है?

   (क) दूब धान (ख) खुरदुरी हथेलियाँ (ग) गलत पते की चिट्ठी (घ) कविता में औरत

2. निम्नलिखित में से कौन अनामिका का उपन्यास नहीं है?

   (क) लाला टीन की छत (ख) दस द्वारे का पिंजरा (ग) तिनका तिनके पास
   (घ) लालटेन बाजार

3. अनामिका के कहानी संग्रह के नाम लिखिए।

   ....

   ....

4. अनामिका के तीन कविता संग्रह के नाम लिखिए।

   ....

   ....

5. अनामिका के स्त्री संबंधी विचारों को किन पुस्तकों में लिखा गया है?

   ....

   ....

6. अनामिका का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

7. 'बेजगह' कविता की मूल संवेदना लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

अभ्यास

1. 'बेजगह' कविता की समीक्षा लिखिए।
2. 'बेजगह' कविता में प्रस्तुत स्त्री विमर्श को लिखिए।
3. 'बेजगह' कविता के माध्यम से कवयित्री क्या कहना चाहती हैं? लिखिए।
4. अनामिका ने अपनी कविताओं में किस विमर्श को एक नया आयाम दिया है? उदाहरण देकर समझाइए।
5. वर्तमान समय में 'बेजगह' कविता की क्या प्रासंगिकता है?
6. 'बेजगह' कविता में किस सुनियोजित साजिश का वर्णन है? लिखिए।

8.5 निर्मला पुतुल की कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!'

निर्मला पुतुल की कविता **'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!'** आदिवासी कविता के रूप में गहरी संवेदना, व्यापक परिप्रेक्ष्य, स्त्री से जुड़े सवाल और भाषिक संरचना की दृष्टि से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण कविता है। वर्तमान युग के सवालों को निर्मला पुतुल अपने आदिवासी क्षेत्र के साथ जोड़कर नये अंदाज से चुनौती भरे प्रश्न उठाती हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि उनकी ये कविताएँ एक स्त्रीवादी अस्मिता की सोच को आगे बढ़ाती हैं। हालांकि इनकी कविताएँ आदिवासी क्षेत्र से एवं वहाँ की समस्याओं से जुड़ी हुई हैं, किन्तु एक स्त्री की दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि अधिकांश ग्रामीण स्त्रियों और गाँव से पलायन या विस्थापन के उपरांत जो स्त्रियाँ हैं उन सभी की इसी प्रकार की स्थितियाँ रही होंगी।

आज आदिवासी स्त्री भी वर्षों से स्त्रियों के खिलाफ होने वाले आंतरिक या बाहरी साजिश को जानने और समझने लगी हैं इसलिए वह अपने पिता से करुण निवेदन कर रही है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता लिखती हैं– 'वह इस छदम् को पहचान गई है। आज वह घर, परिवार, पुरुष का सुरक्षात्मक छाता, रिश्तों की भावनात्मक बेड़ियाँ, सभी को नकार के अपनी अस्मिता के निर्माण के लिए जूझने लगी है।' (युद्धरत आम आदमी पत्रिका विशेषांक (स्त्री–मुक्ति आंदोलन पर केन्द्रित कविता विशेषांक, भाग–1) के संपादकीय, खरी–खरी बात में)

आगे हम कवयित्री निर्मला पुतुल की कविता **'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!'** को व्यापक संदर्भों में समझाने का प्रयास करेंगे।

8.5.1 निर्मला पुतुल का जीवन : संक्षिप्त परिचय (व्यक्तित्व और कृतित्व)

हिन्दी साहित्य में निर्मला पुतुल एक आदिवासी कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनका पूरा नाम निर्मला पुतुल मुर्मू है, किन्तु साहित्य जगत में वे निर्मल पुतुल के नाम से चर्चित है। मूलतः वे संथाली भाषा की कवयित्री हैं। इनकी रचनाओं में संथाल–परगना, झारखंड के सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन मूल्य दिखाई देते हैं। महिलाओं और आदिवासी संस्कृति के नष्ट होने से जो तकलीफ है, उन तमाम शोषणों, उत्पीड़नों के साथ ऐतिहासिक विस्थापन की पीड़ा और विडंबना को निर्मला पुतुल ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। वे

अपनी कविताओं में झारखंड के सामाजिक–सांस्कृतिक और समकालीन जीवन के क्षेत्र में उपस्थित स्त्री संवेदना, आदिवासी अस्मिता, नारी सशक्तीकरण के स्वर और संघर्ष को व्यापक रूप सें प्रस्तुत करती हुई दिखाई देती हैं।

व्यक्तित्व

जन्म और शिक्षा –निर्मला पुतुल का जन्म 6 मार्च, सन् 1972 को दुधनी करूवा गाँव, जिला दुमका (संथाल परगना, झारखंड) में हुआ है। इनके पिता का नाम स्वर्गीय सिरील मुर्मू और माता का नाम श्रीमती कांदिनी हांसदा है। निर्मला ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा दुधनी कुरूवा गाँव से और दुमका जिला से स्नातक की पढ़ाई राजनीतिशास्त्र विषय में पूर्ण की है। आपने स्नातक की पढ़ाई करने के बाद नर्सिंग में डिप्लोमा भी किया है। इन्हें संताली, हिन्दी, अंग्रेजी, भोजपुरी, नागपुरी, बांग्ला, खोरठा आदि भाषाओं का भी ज्ञान है।

सामाजिक कार्य एवं भागीदारी

निर्मला पुतुल लगभग 15–16 वर्षों से शिक्षा, सामाजिक विकास, मानवाधिकार और आदिवासी महिलाओं के समग्र उत्थान के लिए व्यक्तिगत, सामूहिक और संस्थागत स्तर पर अपनी सहभागिता निभाती आई हैं। वे अनेक राज्य स्तरीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ जुड़ी हुई हैं अनेक संगठनों तथा संस्थाओं की संस्थापक सदस्या भी हैं।

निर्मला पुतुल ने आदिवासी महिलाओं के उत्थान के लिए विभिन्न मुद्दों पर कार्य भी किया है जैसे विस्थापन और पलायन की समस्या, महिलाओं के स्वास्थ्य, शिक्षा, शोषण–उत्पीड़न, जेंडर संवेदनशीलता, अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना, मानवाधिकार और संपत्ति पर अधिकार आदि। शिक्षा के क्षेत्र में भी इन्होंने ग्रामीण, दलित, आदिवासी और आदिम जनजाति महिलाओं के बीच शिक्षा और जागरूकता का कार्य किया है। सामाजिक क्षेत्र में जैसे जीवन रेखा ट्रस्ट, संताल परगना की संस्थापक सचिव, झारखंड नेशनल एलायंस ऑफ वीमेन, झारखंडी भाषा, साहित्य, संस्कृति अखाड़ा, जन संस्कृति मंच (उपाध्यक्ष), केन्द्रीय समिति, दिल्ली से वे संबद्ध हैं। इसके अलावा निर्मला पुतुल स्वास्थ्य परिचायिका के रूप में संताल परगना के ग्रामीण इलाकों में भी कार्य करती हैं। वर्तमान में दुधनी करूवा गाँव, झारखंड की पंचायत स्तर की मुखिया (सरपंच) हैं।

निर्मला पुतुल की रचनाएँ

हिन्दी में प्रकाशित इनके तीन कविता–संग्रह और एक संताली भाषा में कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं :

1. 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,
2. 'अपने घर की तलाश में' रमणिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली,
3. 'बेघर सपने', आधार प्रकाशन,
4. ओसेंड़हें – संताली भाषा में लिखित काव्य संग्रह।

इनके चर्चित कविता संग्रहों के भीतर कुछ प्रमुख कविताएँ हैं जो सोशल मीडिया पर भी छायी हुई हैं, जिनमें –'मर के भी अमर रहते हैं सच्चाई के लिए लड़ने वाले', 'बाँस', 'मैंने अपने आंगन में गुलाब लगाए', 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!', 'एक बार फिर', 'क्या तुम

जानते हो', 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए...', 'जगमगाती रोशनियों से दूर अँधेरों से घिरा आदमी', 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री', 'आदिवासी स्त्रियाँ', 'बाहामुनी', 'बिटिया मुर्मू के लिए–1', 'बिटिया मुर्मू के लिए–2', 'बिटिया मुर्मू के लिए–3', 'आदिवासी लड़कियों के बारे में', 'चुड़का सोरेन से', 'कुछ मत कहो सजोनी किस्कू!', 'तुम्हें आपत्ति है', 'कुछ भी तो बचा नहीं सके तुम', 'अगर तुम मेरी जगह होते', 'मिटा पाओगे सब कुछ', 'आख़रि कहें तो किससे कहें', 'जब टेबुल पर गुलदस्ते की जगह बेसलरी की बोतलें सजती हैं', 'पिलचू बूढ़ी से', 'गजरा बेचने वाली स्त्री', 'वह जो अक्सर तुम्हारी पकड़ से छूट जाता है', 'अखबार बेचती लड़की', 'स्वर्गवासी पिता के नाम पाती' आदि महत्त्वपूर्ण कविताएँ (संकलित) हैं।

पत्र–पत्रिकाओं में इनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन, रांची, भागलपुर एवं दिल्ली से इनकी अनेक कहानियाँ, कविताओं और आलेखों का प्रसारण भी हो चुका है। इनकी कविताएँ अनेक विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की पाठ्य पुस्तकों में पढ़ाई जाती हैं। इनकी कविताओं का अनुवाद पंजाबी, अंग्रेजी, उर्दू, कन्नड़, मराठी, नागपुरी तथा नेपाली भाषाओं में भी हुआ है। इन्होंने समय समय पर स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्तर की अनेक पत्रिकाओं के संपादन और सह संपादन का कार्य भी किया है।

पुरस्कार और सम्मान

- साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा साहित्य सम्मान सन् 2001 में प्राप्त हुआ।
- झारखंड सरकार द्वारा राजकीय सम्मान सन् 2006 में तथा कला– संस्कृति, खेलकूद एवं युवा कार्य विभाग द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत भी किया गया हैं।
- मुकुट बिहारी सरोज स्मृति सम्मान, ग्वालियर द्वारा सन् 2006 में प्राप्त हुआ।
- भारत आदिवासी सम्मान, मिजोरम सरकार द्वारा सन् 2006 में प्राप्त हुआ।
- हिन्दी साहित्य परिषद, मैथन द्वारा सम्मान सन् 2006 में प्राप्त हुआ।
- बनारसी प्रसाद भोजपुरी सम्मान, बिहार द्वारा सन् 2007 में प्राप्त हुआ।
- महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा सम्मान सन् 2008 में प्राप्त हुआ।
- राष्ट्रीय युवा पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद कोलकाता द्वारा सन् 2009 में प्राप्त हुआ।
- शैलप्रिया स्मृति न्यास की ओर से शैलप्रिया सम्मान, सन् 2013 में प्राप्त हुआ।

अतः निर्मला पुतुल के जीवन परिचय के आधार पर स्पष्ट है कि आदिवासी कविता के क्षेत्र में इनकी रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

8.5.2 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता का वाचन

बाबा!
मुझे उतनी दूर मत ब्याहना
जहाँ मुझसे मिलने जाने ख़ातिर
घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें

मत ब्याहना उस देश में
जहाँ आदमी से ज़्यादा
ईश्वर बसते हों

जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन

वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मान से भी ज़्यादा तेज़ दौड़ती हों मोटर–गाडियाँ
ऊँचे–ऊँचे मकान
और दुकानें हों बड़ी–बड़ी

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता
जिस घर में बड़ा–सा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर जहाँ होती ना हो सुबह
और शाम पिछवाड़े से जहाँ
पहाडी़ पर डूबता सूरज ना दिखे ।

मत चुनना ऐसा वर
जो पोचाई (1) और हंडिया में
डूबा रहता हो अक्सर

काहिल निकम्मा हो
माहिर हो मेले से लड़कियाँ उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना मेरी ख़ातिर

कोई थारी लोटा तो नहीं
कि बाद में जब चाहूँगी बदल लूँगी
अच्छा–ख़राब होने पर

जो बात–बात में
बात करे लाठी–डंडे की
निकाले तीर–धनुष कुल्हाडी़
जब चाहे चला जाए बंगाल, आसाम, कश्मीर
ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे
और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ
जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया
फसलें नहीं उगाई जिन हाथों ने

जिन हाथों ने नहीं दिया कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नहीं उठाया

और तो और
जो हाथ लिखना नहीं जानता हो "ह" से हाथ
उसके हाथ में मत देना कभी मेरा हाथ

ब्याहना तो वहाँ ब्याहना
जहाँ सुबह जाकर
शाम को लौट सको पैदल

मैं कभी दुःख में रोऊँ इस घाट
तो उस घाट नदी में स्नान करते तुम
सुनकर आ सको मेरा करुण विलाप.......

महुआ का लट और
खजूर का गुड़ बनाकर भेज सकूँ सन्देश
तुम्हारी ख़ातिर
उधर से आते–जाते किसी के हाथ
भेज सकूँ कद्दू–कोहडा, खेखसा (2) बरबट्टी (3)
समय–समय पर गोगो के लिए भी

मेला हाट जाते–जाते
मिल सके कोई अपना जो
बता सके घर–गाँव का हाल–चाल
चितकबरी गैया के ब्याने की ख़बर
दे सके जो कोई उधर से गुजरते
ऐसी जगह में ब्याहना मुझे

उस देश ब्याहना
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज़्यादा रहते हों
बकरी और शेर
एक घाट पर पानी पीते हों जहाँ
वहीं ब्याहना मुझे!

उसी के संग ब्याहना जो
कबूतर के जोड़ और पंडुक (4) पक्षी की तरह
रहे हरदम साथ
घर–बाहर खेतों में काम करने से लेकर
रात सुख–दुःख बाँटने तक

चुनना वर ऐसा
जो बजाता हों बाँसुरी सुरीली
और ढोल–माँदर बजाने में हो पारंगत

बसंत के दिनों में ला सके जो रोज़
मेरे जूड़े की ख़ातिर पलाश के फूल

जिससे खाया नहीं जाए
मेरे भूखे रहने पर
उसी से ब्याहना मुझे।

शब्दार्थ

1. आदिवासियों की देशी शराब जिसे चावल से बनाते हैं
2. सब्जियों के प्रकार
3. बीन्स जैसी एक सब्जी
4. जोड़े में रहने के लिए प्रसिद्ध

8.5.3 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता की अंतर्वस्तु और मूल संवेदना

निर्मला पुतुल एक आदिवासी कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। निर्मला पुतुल मूलतः संताली भाषा की कवयित्री हैं। इनके तीनों कविता संग्रह बहुत चर्चित रहे हैं। यह कविता इनके पहले कविता संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' से ली गई है। कविता के शीर्षक से ही यह अर्थ ध्वनित होता है कि एक आदिवासी बाला (स्त्री) अपने बाबा से विवाह पूर्व करुण आह्वान कर रही है कि बाबा मुझे अपनी संस्कृति, नदी, पहाड़, जंगल और अपने से अधिक दूर मत भेजना, क्योंकि यही वह जगह है जहाँ मेरी अपनी अस्मिता है।

निर्मला पुतुल का कविता संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' की एक चर्चित कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' में विस्थापन की समस्या, स्त्री अस्मिता का सवाल, चेतना का सवाल, निर्णय का अधिकार न होना, आदिवासी संस्कृति और सौन्दर्य से दूर होने की समस्या का वर्णन है। इनकी कविता एक चेतना भी पैदा करती है और सोचने पर मजबूर भी करती है कि एक कवयित्री ने ऐसी रचना क्यों की है? इस कविता में स्त्री जीवन के प्रश्न, आदिवासियों से जुड़े प्रश्न और इस व्यवस्था से जुड़े प्रश्न भी हैं, जो पाठकों को बेचैन करते हैं और सोचने पर मजबूर करते हैं।

उपर्युक्त कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं कि बाबा (पिता) मेरा विवाह उतनी दूर में मत करना, जहाँ मुझसे मिलने आने के लिए तुमको अपनी बकरियाँ बेचनी पड़े। मेरा विवाह उस देश में मत करना जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर बसते हों और जहाँ जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हो। वहाँ मेरा लगन (रिश्ता) मत कर आना। उस जगह तो बिल्कुल भी मेरा विवाह मत करना जहाँ सड़कों पर मान–सम्मान से ज्यादा तेज दौड़ती हो मोटर–गाड़ियाँ। जहाँ बड़े ऊँचे–ऊँचे मकान और बड़ी–बड़ी दुकानें हों। कहने का तात्पर्य है कि बड़े शहरों में व्यक्ति के मान–सम्मान से अधिक महत्त्व पैसे वालों को दिया जाता है। जिसके पास अधिक धन, मोटर–गाड़ियाँ, बड़े और ऊँचे मकान तथा बड़ी दुकानें होती हैं उन्हें ही सबसे बड़ा मानकर महत्त्व दिया जाता है। जहाँ गाड़ियों की रफ्तार तेज होती है वहाँ व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाए, तो लोगों को फर्क नहीं पड़ता।

कवयित्री यहाँ पर शहरी संस्कृति की ओर इशारा करते हुए लिख रही हैं कि जहाँ पर लोग ऊँचे–ऊँचे मकान और बंद कमरे वाला घर बनवा लेते हैं, जहाँ कोई खुली जगह नहीं होती है वहाँ जीवन घुटन भरा हो जाता है। बड़ी जगहों पर कोई भी अपने घरों पर

मुर्गे–मुर्गी नहीं पालते, जिससे सुबह मुर्गे की बांग की आवाज भी नहीं आती है। कवयित्री अपने आदिवासी जीवन शैली के उस अभिन्न अंश को बता रही हैं जिससे दिन का शुभारंभ मुर्गों की बांग से और शाम पहाड़ी पर डूबते सूरज के साथ होती है इसीलिए वह कहती हैं कि मेरा रिश्ता उस घर में मत कर आना, जिस घर में बड़ा खुला आंगन न हो। सुबह मुर्गे की बांग सुनाई न दे और शाम में जहाँ पहाड़ी पर डूबता सूरज न दिखाई दे, उस जगह या घर से मेरा रिश्ता मत जोड़ना।

उपर्युक्त कविता में कवयित्री आगे लिखती हैं कि बाबा मेरे लिए ऐसा वर भी मत चुनना जो हमेशा शराब के नशे और हड़िया में डूबा हुआ हो। बाबा मेरे लिए ऐसा वर भी मत चुनना जो व्यक्ति कोई काम–धाम ना करता हो और केवल शराब पीता हो और मेले से लड़कियाँ भगाता हो, ऐसा वर मेरे लिए मत चुनना क्योंकि वह कोई थारी–लोटा (पीतल, कांस या स्टील का बर्तन) तो नहीं है जिसे अच्छा या खराब लगने पर दुकान जाकर बदला जा सके और जो छोटी–छोटी सी बात पर मारने के लिए लाठी–डंडे का उपयोग करता हो और जब चाहे तीर–धनुष और कुल्हाड़ी निकालकर मुझे छोड़कर कहीं भी बंगाल, आसाम और कश्मीर भाग जाये ऐसा वर मेरे लिए मत चुनाना।

कवयित्री आगे लिखती हैं कि बाबा, मुझे ऐसा वर नहीं चाहिए और मेरा हाथ किसी ऐसे आदमी के हाथ में नहीं देना, जिसने कभी अपने हाथों से पेड़–पौधे नहीं लगाये हों, न ही कभी फसलें उगाई हों, न ही उसके हाथों ने कभी किसी की सहायता की हो, न ही उसने कभी किसी का बोझ उठाया हो और तो और उसे 'ह' से हाथ लिखना भी नहीं आता हो, ऐसे आदमी के हाथ में मेरा हाथ मत देना बाबा। अर्थात् जिस आदमी को पेड़–पौधे या फसल लगानी नहीं आती और न ही उसने कभी किसी के बोझ को उठाने में सहायता की हो, न ही वह ठीक ढंग से पढ़ा-लिखा हो ऐसा आदमी मेरे जीवन को कभी खुशहाल नहीं बना सकता क्योंकि न तो वह कभी मेरी मदद करेगा और न ही जीवन को समझ पायेगा इसलिए बाबा मुझे ऐसा वर नहीं चाहिए।

कवयित्री आगे लिखती हैं कि उसे कैसा वर चाहिए। वह लिखती हैं कि यदि ब्याहना हो तो मुझे ऐसे घर में ब्याहना जहाँ तुम सुबह जाकर शाम तक पैदल लौट सको। यदि कभी मैं दुख के कारण नदी की घाट पर बैठ कर रोऊँ तो तुम उस घाट स्नान करते हुए मेरी करुण विलाप सुन सको। मैं अपना संदेशा तुम्हारे लिए जब भी भेजूँ तो साथ में महुआ का लट और खजूर का गुड़ बनाकर भेज सकूँ। उधर आते–जाते किसी व्यक्ति के हाथ तुम्हारे लिए अपने घर में उगने वाली सब्जी जैसे कद्दू (कुम्हड़ा), कोहड़ा (रखिया), खेखसी और बरबट्टी भेज सकूँ। समय–समय पर गोगो (माँ) के लिए भी कुछ भेजने में मैं सक्षम रहूँ। जब भी मेला–बाजार आते–जाते यदि कोई अपना मिल जाए तो वह मुझे अपने गाँव और घर का हाल–चाल बता सके। चितकबरी गाय के ब्याहने की खबर उधर से गुजरते हुए जो बता सके, ऐसी जगह पर मेरा विवाह करना। ऐसे देश या ऐसी जगह विवाह करना जहाँ भगवान नहीं आदमी ज्यादा रहते हों और जहाँ शेर और बकरी दोनों नदी के एक ही घाट का पानी पीते हों। कवयित्री के कहने का मतलब है कि जहाँ समानता हो, ऊँच–नीच, जाति–पांति का भेद भाव न हो वहीं अपनी बेटी का विवाह करना उचित है।

निर्मला पुतुल आगे कहती हैं कि उसी के साथ मेरा विवाह करना जो हमेशा मेरे साथ रहे, घर और बाहर, खेतों में काम करने से लेकर रात को सुख–दुःख बाँटने तक जो मेरा साथ

दे, जैसे कबूतर का जोड़ा और पंडुक पक्षी का जोड़ा सदैव साथ रहता है। वैसे ही वह मेरे साथ रहे। कवयित्री कहती हैं कि ऐसा वर चुनना जो सुरीली बाँसुरी और ढोल–माँदर बजाने में निपुण (पारंगत) हो। जब भी बसंत ऋतु आये तो वह मेरे जूड़े में सजाने के लिए पलाश के फूल लेकर आए और मैं यदि भूखी हूँ तो उससे भी खाया न जा सके अर्थात् वर ऐसा चुनना जो प्रेम करने वाला हो, मेरे श्रृंगार का भी ख्याल रखने वाला हो। मैं भूखी रहूँ तो उससे भी खाया न जाये, ऐसा ही वर चुनना।

अतः कहा जा सकता है कि यह कविता आदिवासी अविवाहित स्त्री की करुण पुकार है। वह अपने वर का चुनाव स्वयं नहीं कर सकती है इसलिए वह अपने बाबा से अपने मन की इच्छा को संवेदनशील तरीके से व्यक्त कर रही है ताकि उसके साथ किसी तरह का अन्याय न हो सके और वह अपनी संस्कृति, जल, जंगल और पहाड़ के आस–पास किसी सुयोग्य वर के साथ खुशहाली भरा जीवन-यापन कर सके।

पूरी कविता में आदिवासी भूमि और समाज की वास्तविकता को कवयित्री ने प्रस्तुत किया है। एक अविवाहित आदिवासी स्त्री के लिए भूमि, उसका समुदाय और प्रकृति का सौंदर्य काफी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः यह कविता आदिवासी क्षेत्र में रहने वाली युवती का यथार्थ चित्र मात्र न होकर समूची भारतीय आदिवासी स्त्री की करुण पुकार है। स्त्री चाहे शहरी, महानगरीय, ग्रामीण या आदिवासी इलाके की हो वह यही चाहती है कि उसका जो परिवेश है, उसके आस–पास की जो संस्कृति है जो जीवन शैली है वह सब कुछ विवाह के बाद न छूटे इसलिए वह स्त्री अपने पिता से अपनी इच्छा को करुण पुकार के रूप में पहले ही बता देना चाहती है। यह कविता उन तमाम बेटियों की ओर से है जो विवाह से पूर्व अपने पिता से अपने मन की बात बोलकर यह बताती है कि उसको कैसा वर चाहिए और कैसा वर नहीं चाहिए।

8.5.4 कविता की व्याख्या

निर्मला पुतुल झारखंड की रहने वाली हैं और वे जिस इलाके से आती हैं वह आदिवासी इलाका है इसलिए उनकी कविताओं में आदिवासी जीवन शैली की झलक अधिक देखने को मिलती है। आदिवासियों के लिए आर्थिक आधार जल, जंगल और जमीन ही होते हैं। ये लोग जमीन को अपनी मातृभूमि मानते हैं। इन्होंने अपने पुरखों से चली आ रही परंपराओं का निर्वहन किया है। इन्होंने अपनी इसी धरती के अलग–अलग हिस्सों में जीवन की तलाश की है इसीलिए वे अपने जल, जंगल, जमीन और अपनी संस्कृति से बहुत प्रेम करते हैं। सदैव वे इससे जुड़े रहना चाहते हैं। पुराने समय में आदिवासी समुदाय की स्त्रियों को अपना वर (जीवनसाथी) चुनने का पूरा अधिकार होता था। परन्तु जब स्त्रियों से ये अधिकार छीन लिए गए, तब स्त्रियों को अपने घर में अपने पिता या बड़े–बुजुर्गों से अच्छे वर की खातिर पुकार लगानी पड़ रही है। कविता में हम देख सकते हैं कि पुत्री करुण पुकार के साथ विनम्र निवेदन कर रही है कि बाबा मेरा विवाह ऐसी जगह मत कर देना जहाँ जल, जंगल और जमीन मुझसे दूर हो जाए।

निर्मला पुतुल की कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' कविता संग्रह से ली गई है। यह एक चर्चित कविता है। इसमें स्त्री अस्मिता का सवाल, चेतना का सवाल, निर्णय का अधिकार न होना, आदिवासी संस्कृति, विस्थापन की समस्या और आदिवासी के जीवन सौन्दर्य से दूर होने की समस्या है।

निर्मला पुतुल की यह कविता इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि आदिवासी बाला (स्त्री) आज अपना वर स्वयं नहीं चुन पा रही है इसलिए वह अपने बाबा (पिता) से कहती है :

(1)
बाबा!
मुझे उतनी दूर मत ब्याहना
जहाँ मुझसे मिलने जाने खातिर
घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हे

मत ब्याहना उस देश में
जहाँ आदमी से ज्यादा
ईश्वर बसते हों

जंगल नदी पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन

उपर्युक्त पंक्तियाँ निर्मला पुतुल की कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' से ली गई है।

प्रस्तुत काव्यांश में कवयित्री ने आदिवासी लड़की की ब्याह संबंधी इच्छा का काफी मार्मिक चित्रण किया है।

कवयित्री कहती हैं कि बाबा (पिता) मेरा विवाह उतनी दूर मत करना, जहाँ मुझसे मिलने आने के लिए तुमको अपनी बकरियाँ बेचनी पड़े। पुत्री अपने पिता की आर्थिक हालत से भी परिचित है। वह जानती है कि यदि पिता ने उसका विवाह बहुत दूर किसी शहर या दूसरी जगह में कर दिया तो उससे मिलने आने के लिए उसके पास पैसे नहीं होंगे और पिता को अपनी बकरियाँ बेचनी पड़ेंगी। आगे वह कहती हैं कि मेरा विवाह उस देश में मत करना जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर बसते हों और जहाँ जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हो। यहाँ पुत्री अपने पिता से कहती है कि मेरा विवाह उस देश या दूसरे शहर में मत करना जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर बसते हैं, अर्थात् जहाँ सामंती या पूंजीवादी मानसिकता के लोग स्वयं को भगवान और दूसरों से उच्च समझते हैं। ऐसे लोग जहाँ बसते हैं, वहाँ भेद–भाव और ऊँच–नीच का फर्क करते हैं। यहाँ कवयित्री एक आदिवासी लड़की के माध्यम से कहती हैं कि वहाँ मुझे मत ब्याहना, जहाँ जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हों।

विशेष : (क) आदिवासी संस्कृति का चित्रण है

(ख) शहरी संस्कृति का चित्रण है

(ग) आदिवासी जीवन का करुण चित्रण है

(घ) भाषा सरल और सहज है

(ङ) 'आदमी' और 'ईश्वर' प्रतीकात्मक शब्द है।

* * *

(2)
वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मान से भी ज्यादा तेज दौड़ती हों मोटर–गाड़ियाँ
ऊँचे–ऊँचे मकान
और दुकानें हों बड़ी–बड़ी

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता
जिस घर में बड़ा–सा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर जहाँ होती ना हो सुबह
और शाम पिछवाडे से जहाँ
पहाडी पर डूबता सूरज ना दिखे।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री कहती हैं कि वहाँ उस जगह तो बिल्कुल ही मेरा विवाह मत करना जहाँ सड़कों पर मान–सम्मान से ज्यादा तेज दौड़ती हों मोटर–गाड़ियाँ। जहाँ बड़े ऊँचे–ऊँचे मकान और बड़ी–बड़ी दुकानें हों। कहने का तात्पर्य है कि बड़े शहरों में व्यक्ति के मान–सम्मान से अधिक महत्त्व ज्यादा पैसों वालों को दिया जाता है, जिनके पास अधिक धन, मोटर–गाड़ियाँ, बड़े और ऊँचे मकान तथा बड़ी दुकानें होती हैं। वहाँ गाड़ियों की रफ्तार तेज होती है। व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाए तो वहाँ लोगों को फर्क नहीं पड़ता।

कवयित्री यहाँ पर शहरी संस्कृति की ओर इशारा करते हुए लिख रही हैं कि जहाँ पर लोग ऊँचे–ऊँचे मकान और बंद कमरे वाला घर बनवा लेते हैं, जहाँ कोई खुली जगह नहीं होती है वहाँ जीवन घुटन भरा हो जाता है। बड़ी जगहों पर कोई भी अपने घरों पर मुर्गे–मुर्गी नहीं पालते, जिससे सुबह मुर्गे की बांग की आवाज भी नहीं आती है। कवयित्री अपने आदिवासी जीवन शैली के उस अभिन्न अंश को बता रही हैं जिससे दिन का शुभारंभ मुर्गे की बांग से और शाम पहाड़ी पर डूबते सूरज के साथ होती है इसीलिए वह कहती है कि मेरा रिश्ता उस घर में मत कर आना, जिस घर में बड़ा खुला आंगन न हो। सुबह मुर्गे की बांग सुनाई न दे और शाम में जहाँ पहाड़ी पर डूबता सूरज न दिखाई दे, उस जगह या घर से मेरा रिश्ता मत जोड़ना।

विशेष :

1. यहाँ कवयित्री ने आदिवासी लड़कियों की इच्छा को अभिव्यक्ति दी है।
2. आदिवासी संस्कृति की यहाँ झलक मिलती है।
3. भाषा काफी सरल और सहज है।

(3)
मत चुनना ऐसा वर
जो पोचाई, और हंडिया में
डूबा रहता हो अक्सर

काहिल निकम्मा हो
माहिर हो मेले से लड़कियाँ उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना मेरी खातिर
कोई थारी लोटा तो नहीं
कि बाद में जब चाहूँगी बदल लूँगी
अच्छा–खराब होने पर
जो बात–बात में
बात करे लाठी–डंडे की
निकाले तीर–धनुष कुल्हाडी
जब चाहे चला जाए बंगाल, आसाम, कश्मीर

उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री लिखती हैं कि बाबा मेरे लिए ऐसा वर भी मत चुनना जो हमेशा शराब के नशे और हड़िया में डूबा हुआ हो अर्थात् जो केवल शराब पीने और खाने में डूबा रहे, कोई काम–धाम न करता हो और माहिर (उस्ताद) हो, धूर्त हो। जो मेले (उत्सव वाला हाट–बाजार)से लड़कियाँ को फंसाकर अपने साथ ले जाता हो, ऐसा वर मेरे लिए मत चुनना। वह कोई थारी–लोटा तो नहीं है जो अच्छा या खराब हो तो, मैं जब चाहे बदल लूँगी। जो बात–बात में लाठी–डंडे निकालकर मारने लगे और तीर–धनुष और कुल्हाड़ी निकालकर जब चाहे बंगाल, असम और कश्मीर भाग जाये अर्थात् जो व्यक्ति कोई काम–धाम ना करता हो और केवल शराब पीता हो और मेले से लड़कियाँ भगाता हो, ऐसा वर मेरे लिए मत चुनना क्योंकि वह कोई थारी–लोटा (पीतल, कांस या स्टील का बर्तन) तो नहीं है जिसे अच्छा या खराब लगने पर दुकान जाकर बदला जा सके और जो छोटी–छोटी सी बात पर मारने के लिए लाठी–डंडे का उपयोग करता हो और जब चाहता हो तीर–धनुष और कुल्हाड़ी निकालकर मुझे छोड़कर कहीं भी बंगाल, असम और कश्मीर भाग जाये ऐसा वर मेरे लिए मत चुनाना।

(4)
ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे
और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ
जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया
फसलें नहीं उगाई जिन हाथों ने
जिन हाथों ने नहीं दिया कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नही उठाया

और तो और
जो हाथ लिखना नहीं जानता हो 'ह' से हाथ
उसके हाथ में मत देना कभी मेरा हाथ

उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री कहती हैं कि बाबा, मुझे ऐसा वर नहीं चाहिए और मेरा हाथ किसी ऐसे आदमी के हाथ में नहीं देना, जिसने कभी अपने हाथों से पेड़–पौधे नहीं लगाए हों, न ही कभी फसलें उगाई हों, न ही उसके हाथों ने कभी किसी की सहायता की हो, न ही उसने कभी किसी का बोझ उठाया हो और तो और उसे 'ह' से हाथ लिखना भी

नहीं आता हो, ऐसे आदमी के हाथ में मेरा हाथ मत देना बाबा। अर्थात् जिस आदमी को पेड़–पौधे या फसल लगानी नहीं आती और न ही उसने कभी किसी के बोझ को उठाने में सहायता की हो, न ही वह ठीक ढंग से पढ़ा लिखा हो, ऐसा आदमी मेरे जीवन को कभी खुशहाल नहीं बना सकता, क्योंकि न ही वह कभी मेरी मदद करेगा और न ही जीवन को समझ पायेगा इसलिए बाबा मुझे ऐसा वर नहीं चाहिए।

(5)
ब्याहना तो वहाँ ब्याहना
जहाँ सुबह जाकर
शाम को लौट सको पैदल

मैं कभी दुःख में रोऊँ इस घाट
तो उस घाट नदी में स्नान करते तुम
सुनकर आ सको मेरा करुण विलाप......

महुआ का लट और
खजूर का गुड़ बनाकर भेज सकूँ सन्देश
तुम्हारी खातिर
उधर से आते–जाते किसी के हाथ
भेज सकूँ कद्दू–कोहडा, खेखसा, बरबट्टी,
समय–समय पर गोगो के लिए भी
मेला हाट जाते–जाते
मिल सके कोई अपना जो
बता सके घर–गाँव का हाल–चाल
चितकबरी गैया के ब्याने की खबर
दे सके जो कोई उधर से गुजरते
ऐसी जगह में ब्याहना मुझे

अभी तक कवयित्री ने लिखा कि बाबा मेरे लिए ऐसा वर मत चुनना। अब वह अपनी इच्छा बताती हैं कि उसे किस जगह पर जाना है और उसको कैसा वर चाहिए। वह लिखती हैं कि यदि ब्याहना हो तो मुझे ऐसे घर में ब्याहना जहाँ तुम सुबह जाकर शाम तक पैदल लौट सको। यदि कभी मैं दुख के कारण नदी की घाट पर बैठ कर रोऊँ तो तुम उस घाट स्नान करते हुए मेरी करुण विलाप सुन सको। अर्थात् मेरा विवाह ऐसी जगह पर करना जहाँ सुबह जाकर शाम को पैदल लौटा जा सके और दोनों स्थानों के बीच में नदी हो। जब कभी दुख के कारण मैं नदी की घाट पर रोऊँ तो तुम अपनी उस तरफ के घाट में नहाते हुए मेरे दुख और रोने को जान जाओ।

आगे कवयित्री कहती हैं कि मैं अपना संदेशा तुम्हारे लिए जब भी भेजूँ तो साथ में महुआ का लट और खजूर का गुड़ बनाकर भेज सकूँ। उधर आते जाते किसी व्यक्ति के हाथ तुम्हारे लिए अपने घर में उगने वाली सब्जी जैसे कद्दू (कुम्हड़ा), कोहड़ा (रखिया), खेखसी और बरबट्टी, भेज सकूँ। समय–समय पर गोगो (माँ) के लिए भी मैं कुछ भेज पाने

में समर्थ रहूँ। जब भी मेला–बाजार आते–जाते यदि कोई अपना मिल जाए तो वह मुझे अपने गाँव और घर का हाल–चाल बता सके। चितकबरी गाय के ब्याहने की खबर उधर से गुज़रते हुए जो बता सके, ऐसी जगह पर मेरा विवाह करना।

(6)
उस देश ब्याहना
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज्यादा रहते हों
बकरी और शेर
एक घाट पर पानी पीते हों जहाँ
वहीं ब्याहना मुझे!

उसी के संग ब्याहना जो
कबूतर के जोड़ और पंडुक, पक्षी की तरह
रहे हरदम साथ
घर–बाहर खेतों में काम करने से लेकर
रात सुख–दुःख बाँटने तक

उपर्युक्त पंक्तियों में कवयित्री कहती हैं कि ऐसे देश या ऐसी जगह मेरा विवाह करना, जहाँ भगवान कम और आदमी ज्यादा रहते हों और जहाँ शेर और बकरी दोनों नदी के एक ही घाट का पानी पीते हों। कवयित्री के कहने का मतलब है कि जहाँ समानता हो, ऊँच–नीच, जाति–पाँति का भेद भाव न हो, वहीं आदिवासी लड़की विवाह करना चाहती है।

कवयित्री कहती हैं उसी के साथ मेरा विवाह करना जो हमेशा मेरे साथ रहे, घर और बाहर, खेतों में काम करने से लेकर रात को सुख–दुःख बाँटने तक जो मेरा साथ दे, उसी तरह जैसे कबूतर का जोड़ा और पंडुक पक्षी का जोड़ा सदैव साथ रहता है, उसी से मेरा विवाह करना।

(7)
चुनना वर ऐसा
जो बजाता हों बाँसुरी सुरीली
और ढोल–माँदर बजाने में हो पारंगत

बसंत के दिनों में ला सके जो रोज
मेरे जूड़े की खातिर पलाश के फूल

जिससे खाया नहीं जाए
मेरे भूखे रहने पर
उसी से ब्याहना मुझे।

उपर्युक्त पद्यांश में कवयित्री कहती हैं कि हे बाबा! मेरे लिए ऐसा वर चुनना जो सुरीली बाँसुरी और ढोल–माँदर बजाने में निपुण (पारंगत) हो। जब भी बसंत ऋतु आये तो वह मेरे जूड़े में सजाने के लिए पलाश के फूल लेकर आए। मैं यदि भूखी रहूँ तो उससे भी खाया न जा सके अर्थात् वर ऐसा चुनना जो प्रेम करने वाला हो, मेरे श्रृंगार का भी वह

ख्याल रखने वाला हो। मैं भूखी रहूँ तो उससे भी खाया ना जाये, हे बाबा मेरे लिए ऐसा ही वर चुनाना।

अतः कहा जा सकता है कि यह कविता आदिवासी अविवाहित स्त्री की करुण पुकार है। वह अपने वर का चुनाव स्वयं नहीं कर सकती है इसलिए वह अपने बाबा से अपने मन की इच्छा संवेदनशील तरीके से कह रही है ताकि उसके साथ किसी तरह का अन्याय न हो सके और वह अपनी संस्कृति, जल, जंगल और पहाड़ के आस–पास किसी सुयोग्य वर के साथ खुशहाली भरा जीवन-यापन कर सके।

बोध प्रश्न 4

1. निर्मला पुतुल मूलतः किस भाषा की कवयित्री हैं?

   क) हिंदी ख) संथाली ग) भोजपुरी घ) नागपुरी

2. निर्मला पुतुल किस राज्य की .... है?

   क) छत्तीसगढ़ ख) उत्तराखंड ग) झारखंड घ) हरियाणा

3. इनमें से कौन आदिवासी कवयित्री नहीं है?

   क) रोज केरकेट्टा ख) ग्रेस कुजूर ग) अनामिका घ) पुष्पा टेटे,

4. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में कवयित्री कैसा वर चाहती है?

   क) तबला बजाने में पारंगत हो। ख) ढोल और माँदर बजाने में पारंगत हो।

   ग) नृत्य में पारंगत हो। घ) इनमें से कोई नहीं।

5. निर्मला पुतुल को साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा साहित्य सम्मान किस सन् में प्राप्त हुआ।

   क) 2008 ख) 2006 ग) 2013 घ) 2001

6. संताली भाषा में लिखित निर्मला पुतुल के काव्य संग्रह का नाम क्या है?

   ....

   ....

7. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता किस कविता संग्रह से ली गई है?

   ....

   ....

8. निर्मला पुतुल के कोई दो कविता संग्रह के नाम लिखिए।

   ....

   ....

9. आदिवासी कवयित्रियों के नाम लिखिए।

....

....

10. निर्मला पुतुल के अन्य स्त्रीवादी कविताओं के नाम लिखिए।

....

....

....

....

11. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में कवयित्री क्या कहना चाहती है?

....

....

....

....

....

....

12. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में कवयित्री कैसा वर नहीं चाहती है?

....

....

13. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में कवयित्री कैसा वर चाहती है?

....

....

....

....

....

....

अभ्यास

6. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' के द्वारा निर्मला पुतुल ने क्या कहना चाहा है?

7. निर्मला पुतुल अपनी कविता के माध्यम से आदिवासियों के कौन–कौन से मुद्दों को उठाती है?

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

8. निर्मला पुतुल का जीवन परिचय लिखिए।

9. निम्नलिखित पद्‌याशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :

(क) चुनना वर ऐसा
जो बजाता हो बांसुरी सुरीली
और ढोल–माँदल बजाने में हो पारंगत।

(ख) ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे
और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ
जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया
फसलें नहीं उगाई जिन हाथों ने
जिन हाथों ने नहीं दिया कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नहीं उठाया।

कठिन शब्द

ब्याहना : विवाह

माहिर : उस्ताद, विशेष काम करने में आगे रहना, निपुण

काहिल निकम्मा : जो बिल्कुल कुछ काम नहीं करता।

पोचाई : चावल से बनने वाला शराब

हंडिया : वह बर्तन जिसमें शराब, खाना बनाया जाता है।

कद्‌दू : कोहड़ा खेखसा बरबट्‌टी (एक प्रकार की सब्ज़ी)

गोगो : माँ / माता

थारी : थाली, थाल, प्लेट जिसमें खाना खाया जाता है। (पीतल, कांस या स्टील का बर्तन)

लोटा : पानी के लिए पात्र (पीतल, कांस या स्टील का बर्तन)

पंडुक : पक्षी, चिड़िया

चितकबरी : काले और सफेद रंग का मिक्स रंग

गैया : गाय

मेला : ऐसा बाजार जो त्योहार के दौरान ही लगता है।

हाट : बाज़ार

8.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में चार कवयित्रियों की स्त्रीवादी कविताओं पर प्रकाश डाला गया है। चारों कविताएँ अलग–अलग समय पर लिखी गई हैं। ये सभी कविताएँ स्त्री जीवन के मुद्‌दों को अलग अंदाज में उठाती हैं। इन मुद्‌दों में स्त्री जीवन का अस्तित्व, वजूद और उनकी

अस्मिता की पुकार छिपी हुई है। यह इकाई आप के लिए स्त्री विमर्श के सवालों को नये अंदाज में प्रस्तुत करती है और नये प्रश्न उठाती है कि पितृसत्ता प्रारंभ से ही हम स्त्रियों के साथ क्यों षड़यंत्र करता आया है?

प्रस्तुत इकाई में पहली कविता कीर्ति चौधरी की 'सीमारेखा' है जो कि तीसरे तारसप्तक में लिखी गई है। यह कविता स्त्री के घर से बाहर निकलने पर जो सीमा रेखा खिंचती आई है, उसी सीमारेखा के माध्यम से सवाल खड़ा करती है कि अग्निपरीक्षा औरत को ही क्यों देनी पड़ती है? पुरुष क्यों अग्निपरीक्षा नहीं देता? हम स्त्रियों के लिए ही सीमारेखा क्यों निर्धारित कर दी गई है, पुरुषों के लिए यह सीमारेखा क्यों नहीं होती है? इस इकाई में कीर्ति चौघरी का जीवन परिचय और कविता का सारांश और पूरी कविता की व्याख्या भी दी गई है।

दूसरी कविता कात्यायनी की 'सात भाइयों के बीच चंपा' है। इस इकाई में कात्यायनी का संक्षिप्त परिचय व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से दिया गया है। कविता का सारांश और पूरी कविता की व्याख्या भी दी गई है। यह कविता नवें दशक में लिखी गई है। इसमें भी स्त्री के पुनर्जीवित होने और जिजीविषा के कारण आत्मसंघर्ष को दिखाया गया है। कवयित्री लोककथाओं के आधार पर स्त्री जीवन की विडंबनाओं पर प्रकाश डालते हुए बताती है कि पितृसत्ता स्त्रियों के वजूद को बार–बार नष्ट करता रहता है फिर भी एक स्त्री अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए विभिन्न विडंबनाओं को झेलती हुई अपने जीवन को बचाने के लिए पूरे आत्मविश्वास के साथ संघर्षरत रहती है और अंततः वह अपने लिए एक ऐसी जगह तलाश लेती है जहाँ वह सुरक्षित रहकर मुस्कुराती है।

इस इकाई की तीसरी कविता अनामिका की 'बेजगह' कविता है। यह कविता स्त्री विमर्श से संबंधित है। इस इकाई में कवयित्री अनामिका का संक्षिप्त परिचय व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से दिया गया है। बेजगह' कविता के अर्थ और उद्देश्य के बाद इसकी मूल संदेना और अंतर्वस्तु बताई गई है। फिर अगले बिंदु में 'बेजगह' कविता की व्याख्या की गई है। स्त्री के लिए कौन सी जगह होती है, इस प्रश्न को यह कविता उठाती है।

प्रस्तुत इकाई में चौथी कविता आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल की 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' है। इस इकाई में कवयित्री के समूचे व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ उनकी आदिवासी वैचारिकी को भी बताया गया है। 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता में आदिवासी स्त्री के विस्थापन की पीड़ा, स्वयं जीवनसाथी न चुन पाने की करुणा, आदिवासी अस्मिता की तलाश और आदिवासी क्षेत्र जल, जंगल और जमीन से जुड़े होने के भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक आदिवासी स्त्री के लिए इन प्राकृतिक चीजों के क्या मायने हैं। वह इन्हें किस दृष्टि से देखती है और क्या चाहती है। इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया है और इसी आधार पर कविता की व्याख्या की गई है।

अंत में इकाई की सभी कविताओं को हमने उनकी क्षमताओं और सीमाओं के अनुरूप रेखांकित करने का प्रयास किया है। आपके लिए महत्त्वपूर्ण अभ्यास संबंधी भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु दिये गए हैं। साथ ही अंत में चारों कविताओं से संबंधित बोध प्रश्न और उनके उत्तर भी दिये गए हैं।

8.7 उपयोगी पुस्तकें

1. तीसरा सप्तक, संपादक—अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण—1959

2. 'सात भाइयों के बीच चंपा' कविता संग्रह, कात्यायनी

3. खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पहला संस्करण—2005

4. आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा, वीरभारत तलवार, तद्भव—34, नवंबर 2016

5. संपादक की कलम से, आदिवासी साहित्य विमर्श — गंगा सहाय मीणा (सं.), अनामिका प्रकाशन, दिल्ली।

6. निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी जीवन (आदिवासी साहित्य : विविध आयाम) — संतोष तुकाराम टेलकीकर।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. (ग) तृतीय तार सप्तक
2. (ख) अज्ञेय
3. सीमा रेखा
4. सीमा रेखा, एकलव्य, दायित्व भार, लता 1, 2 और 3
5. तृतीय तार सप्तक
6. प्रयाग नारायण त्रिपाठी, केदारनाथ सिंह,कुंवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और मदन वात्स्यायन जैसे साहित्यकारों के साथ कीर्ति चौधरी को भी तीसरा सप्तक का हिस्सा बनाया। कीर्ति चौधरी की साहित्यिक यात्रा यों तो बहुत लंबा—चौड़ा समय और सृजन समेटे हुए नहीं है पर जितना भी है, उसे किसी तरह से कमतर नहीं आंका जा सकता।
7. देखिए 8.2.1
8. देखिए 8.2.2

बोध प्रश्न 2

1. (ख) स्त्री विमर्श
2. (क) उत्तर प्रदेश
3. सात भाइयों के बीच चम्पा

4. सात भाइयों के बीच चम्पा', (1994), इस पौरुषपूर्ण समय में, चेहरों पर आँच, जादू नहीं कविता (2002), फुटपाथ पर कुर्सी (2009)

5. षडयंत्ररत् मृतात्माओं के बीच (साम्प्रदायिक, फासीवाद, बुद्धिजीवी प्रश्न साहित्य की सामाजिक भूमिका पर केन्द्रित निबन्धों का संकलन), कुछ जीवन्त, कुछ ज्वलन्त (समाज, संस्कृति और साहित्य पर केन्द्रित निबन्धों का संकलन), प्रेम, परम्परा और विद्रोह (शोधपरक निबन्ध) प्रकाशित।

6. देखिए 8.3.3

बोध प्रश्न 3

1. (ख) खुरदुरी हथेलियाँ
2. (क) लाला टिन की छत
3. प्रतिनायक
4. बीजाक्षर, दूब–धान, समय के शहर में, खुरदुरी हथेलियाँ, कविता में औरत।
5. मन माँजने की जरूरत, स्त्रीत्व का मानचित्र, स्त्री विमर्श का लोकपक्ष।
6. उत्तर देखिए 8.4.1
7. उत्तर देखिए 8.4.3

बोध प्रश्न 4

1. (ख) संथाली
2. (ग) झारखंड
3. (ग) अनामिका
4. (ख) ढोल और माँदर बजाने में पारंगत हो।
5. (घ) 2001
6. ओसेंड़हें –संताली भाषा में लिखित काव्य संग्रह।
7. 'नगाड़े की तरह बजते शब्द'
8. 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' और 'अपने घर की तलाश में'।
9. निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा, ग्रेस कुजूर, वंदना टेटे, पुष्पा टेटे, ममंग दई, वासवी किड़ो, रमणिका गुप्ता और सरिता बड़ाइक आदि प्रमुख हैं।
10. बहामुनी, बिटिया मुर्मू के लिए, क्या कहूं मैं तुम्हारे लिए, मेरे एकांत का प्रवेश द्वार आदि।
11. कविता की व्याख्या 8.5.4 में देखें।
12. कविता की व्याख्या 8.5.4 में देखें।
13. कविता की व्याख्या 8.5.4 में देखें।

इकाई 9 'अन्या से अनन्या' (प्रभा खेतान): अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 हिन्दी साहित्य में स्त्री आत्मकथा और प्रभा खेतान

9.3 प्रभा खेतान का संक्षिप्त परिचय

 9.3.1 व्यक्तित्व

 9.3.2 कृतित्व

 9.3.3 सामाजिक गतिविधियाँ में सहभागिता और पुरस्कार

9.4 अन्या से अनन्या (पृष्ठ 28 से 42) : वाचन

9.5 'अन्या से अनन्या' की अंतर्वस्तु

 9.5.1 'अन्या से अनन्या' का सारांश

 9.5.2 'अन्या से अनन्या' की अंतर्वस्तु

9.6 'अन्या से अनन्या' का पाठालोचन

 9.6.1 मनोविज्ञान

 9.6.2 सामाजिक और पारिवारिक संदर्भ

 9.6.3 स्त्री विमर्श

9.7 प्रभा खेतान की वैचारिकी और जीवन दृष्टि

9.8 'अन्या से अनन्या' की प्रासंगिकता

9.9 सारांश

9.10 शब्दावली

9.11 उपयोगी पुस्तकें

9.12 बोध प्रश्नों/अभ्यासों का उत्तर

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

9.0 उद्देश्य

यह इकाई **'प्रभा खेतान : अन्या से अनन्या (पृष्ठ 28–42 तक)'** पर आधारित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिन्दी साहित्य में स्त्री आत्मकथा के अंतर्गत प्रभा खेतान को रेखांकित कर सकेंगे,
- प्रभा खेतान का व्यक्तित्व, कृतित्व और उनके पुरस्कार– सम्मान से परिचित हो सकेंगे,

- 'अन्या से अनन्या' का सारांश और अंतर्वस्तु जान सकेंगे,
- 'अन्या से अनन्या' के पाठालोचन को मनोविज्ञान, सामाजिक–पारिवारिक, आर्थिक परिस्थिति और स्त्री विमर्श के बिंदुओं के आधार पर समझ सकेंगे,
- प्रभा खेतान की स्त्रीवादी वैचारिक दृष्टि के सशक्त स्वर को जान सकेंगे,
- 'अन्या से अनन्या' की प्रासंगिकता को जान सकेंगे,
- अंत में पूरी इकाई का सारांश जान सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

यह इकाई प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' के 28 से 42 पृष्ठ पर केन्द्रित है। 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा स्त्रीविमर्श के रूप में गहरी संवेदना, ईमानदारी से बेबाक प्रस्तुति, व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्त्री से जुड़े सवाल और भाषिक संरचना की दृष्टि से एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रभा खेतान स्त्री के सवालों को पारंपरिक और आधुनिक दृष्टिकोण से वर्तमान युग के साथ जोड़कर देखती हैं और स्त्री संबंधी चुनौतियों को सवालों के माध्यम से उठाती हैं।

हिन्दी साहित्य में प्रभा खेतान की पहचान प्रतिष्ठित उद्यमी, कथाकार और स्त्रीवादी विचारक के रूप में है। प्रभा खेतान की आत्मकथा को पढ़ने से यही लगता है कि जीवन की सच्चाई को उन्होंने जितनी ईमानदारी और साहसपूर्ण ढंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया शायद ही कोई अन्य महिला लेखिका कर पाएगी। जब 'अन्या से अनन्या' का 'तद्भव' पत्रिका में एक अंश प्रकाशित हुआ था, तब इनकी सम्पूर्ण आत्मकथा को पढ़ने के लिए हिन्दी साहित्य जगत में उत्सुकता फैल गई थी। तत्पश्चात् 'हंस' मासिक पत्रिका में यह आत्मकथा मार्च 2006 से दिसम्बर 2006 तक कुल नौ अंकों में धारावाहिक के रूप में प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा बहुत रोचक और अनूठी है। बाद में यह पुस्तक (287 पृष्ठ) के रूप में सन् 2008 में प्रकाशित हुई। लेकिन यदि यह पुस्तक उपन्यास के रूप में लिखी गई होती तब भी क्या असर वैसा ही होता जैसा आत्मकथा के रूप में हुआ है? कदापि नहीं। सवाल उठता है आखिर क्यों? वह इसलिए कि तब हम इस कहानी को काल्पनिक मानते, तब हम यह महसूस नहीं कर पाते कि इसे लिखने वाली जो औरत है उसे अपनी जिंदगी में किस तरह के मानसिक आघातों से गुजरना पड़ा।

व्यक्ति अपनी आत्मकथा क्यों लिखता है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उसे क्या जरूरत है आत्मकथा लिखने की? लिख भी लिया तो उसे प्रकाशित करवाने की क्या आवश्यकता है पाठकों के समक्ष स्वयं को खोल कर प्रस्तुत करने से क्या लाभ? परन्तु जो व्यक्ति जितनी ईमानदारी और साहसपूर्ण ढंग से अपनी आत्मकथा लिखता है, वह निश्चित रूप से सच्चाई और लोकमंगलकारी भावना से प्रेरित रहता है। अपनी आत्मकथा के संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं कि "आत्मकथा लिखना तो स्ट्रीप्टीस का नाच है। आप चौराहे पर एक–एक कर कपड़े उतारते जाते हैं लिखने वाले के मन में आत्मप्रदर्शन का भाव किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है, मन के किसी कोने में हल्की सी चाहत रहती है कि लोग उसे गलत नहीं समझें कि जो कुछ भी वह लिख रहा है उसे सही परिप्रेक्ष्य में लिया जाए, पर दर्शक वृन्द अपना–अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र है। उनका मन, वे इस नाच को देखें या फिर पलट कर चले जाए।" (अन्या से अनन्या)

इस आत्मकथा की चर्चा का मुख्य कारण रहा है कि एक सामान्य मारवाड़ी परिवार की पारंपरिक स्त्री ने किस प्रकार विद्रोह करके, लीक से हटकर संघर्ष करते हुए अपनी एक विशिष्ट जगह बनाई है। एक स्त्री भावनाओं में बहकर अपने से 18 वर्ष बड़े एक विवाहित पुरुष पाँच बच्चे के पिता से प्रेम करती है। इस संबंध को 28 वर्षों तक बनाए रखती है और आजीवन अविवाहित रह कर उपेक्षिता का जीवन जीती रहती है।

यह सम्पूर्ण आत्मकथा 287 पृष्ठों की है जिसमें अनेकों मुद्दे हैं जिन पर प्रकाश डाला जा सकता है किन्तु आपके पाठ्यक्रम के अनुसार 'अन्या से अनन्या' पुस्तक के पृष्ठ 28 से 42 तक पर ही हमें चर्चा करनी है। इन पृष्ठों में आत्मकथा का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें हम कुछ मुख्य बिंदुओं पर जैसे बाल्यावस्था में अनाथ जीवन, शिक्षा, आर्थिक परिस्थितियाँ, जीवन और व्यवसाय, पूंजीवादी शक्तियाँ, स्त्री जीवन की समस्या, अकेलापन, मानसिक स्थिति, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, आर्थिक स्वतंत्रता और आंतरिक द्वन्द्व आदि का अवलोकन कर सकते हैं।

आगे इस इकाई में हम प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' पृष्ठ 28–42 को व्यापक संदर्भों में समझने का प्रयास करेंगे।

9.2 हिन्दी साहित्य में स्त्री आत्मकथा और प्रभा खेतान

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में अनेक गद्य विधाओं की चर्चा रही है। इन गद्य विधाओं में आत्मकथा वह भी महिला की आत्मकथा बीसवीं सदी के अंतिम दशक से लेकर इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में अधिक चर्चा और विमर्श का मुद्दा रही है। बींसवीं सदी का अंतिम दशक और इक्कीसवीं सदी का प्रथम दशक अनेक राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित रहा है। इस दौर को हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ युग और विमर्शों का युग माना जा सकता है। इस युग में साहित्य के गद्य और पद्य के साथ आलोचना, विमर्श, विचारधारा और पत्रकारिता मीडिया का विकास तेजी से होता रहा है।

आत्मकथा के अर्थ की बात करें तो अंग्रेजी भाषा में आत्मकथा के लिए 'आटोबायोग्राफी' शब्द का प्रयोग होता है। हिन्दी में इसका अर्थ जीवन चरित्र, आपबीती, आत्मकहानी के रूप में जाना जाता है। आत्मकथा एक ऐसी कथा होती है जिसमें लेखक स्वयं अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को क्रमबद्ध तरीके से विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखता है। आत्मकथा में स्वयं की अनुभूति होती है। आत्मकथा में लेखक अपने अन्तर्जगत को बहिर्जगत के सामने आत्मविश्लेषण करते हुए प्रस्तुत करता है। आत्मकथा लेखन में लेखक को तटस्थ और ईमानदार होकर लिखना होता है। इसमें आत्म–तत्व सर्व प्रमुख होता है।

आत्मकथा गद्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। आत्मकथा में रचनाकार जितनी ईमानदारी से जीवन की सत्य घटनाओं का उल्लेख करता है उसकी आत्मकथा उतनी ही श्रेष्ठ मानी जाती है। बहुत से रचनाकार अपनी आत्मकथा लिखते समय केवल बाहरी जीवन की कुछ विशेष बातों को ही लिखना पसंद करते हैं। अंतरंग जीवन की घटनाओं को वे नहीं लिखते जिसकी वजह से आत्मकथा की रोचकता कम हो जाती है।

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा विधा में बनारसीदास जैन कृत 'अर्धकथानक' हिन्दी की पहली आत्मकथा मानी गई है। साहित्य में कुछ महिला रचनाकारों ने ही अपनी आत्मकथा

लिखी है। हिंदी की पहली महिला आत्मकथाकार जानकी देवी बजाज मानी जाती है। सन् 1956 में इनकी आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' के नाम से प्रकाशित हुई थी। एक लम्बे अंतराल के बाद साहित्य में महत्त्वपूर्ण महिला आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईं जो चर्चा का विषय भी बनीं। प्रमुख महिला रचनाकारों की आत्मकथाएँ निम्नलिखित हैं :

- जानकी देवी बजाज – मेरी जीवन यात्रा (1956)
- अमृता प्रीतम – रसीदी टिकट (1976), अक्षरों के साये (1997)
- प्रतिभा अग्रवाल – दस्तक जिंदगी की (1990), मोड़ जिंदगी का (1996)
- कुसुम अंसल – जो कहा नहीं गया (1996)
- कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं दिल मेरा (1997), और...................... और औरत (2010)
- पद्मा सचदेव – बूंद बावरी (1999),
- शिवानी – सुनहुँ तात यह अमर कहानी (1999), सोने दे (1997) एक थी रामरती
- कौशल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप (प्रथम दलित महिला आत्मकथा) (1999)
- शीला झुनझुनवाला – कुछ कही कुछ अनकही (2000)
- मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुंडल बसै (2002), गुड़िया भीतर गुड़िया (2008)
- रमणिका गुप्ता – हादसे (2005, आपहुदरी (2016)
- सुनीता जैन – शब्दकाया (2005)
- मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी (2007)
- प्रभा खेतान – अन्या से अनन्या (2007)
- मष्दुला गर्ग – राजपथ से लोकपथ पर (2008)
- चंद्र किरण सौनरेक्सा – पिंजरे की मैना (2008)
- ममता कालिया – कितने शहरों में कितनी बार (2011)
- सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द (दलित महिला आत्मकथा) (2011)
- चंद्रकांता – हासिये की इबारतें (2012)
- इस्मत चुगताई – कागजी है पैरहन
- निर्मला जैन – जमाने में हम (2015)

अभी तक उपर्युक्त सभी आत्मकथाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठक वर्ग महिला आत्मकथाओं में स्त्री को मात्र देह मानकर सौंदर्य और मुक्ति कामना की तलाश करती हुई स्त्री को ही देखता है। लेखक वर्ग मानते हैं कि– ''स्त्री की हर आत्मकथा अपनी आत्मकथाओं की ऐसी दास्तान है जो घर–घर में घटित होती है। पुरुषों की आत्मकथाएँ उनके निजी संघर्षों

की विजय गाथाएँ हैं.... मगर स्त्री की आत्मकथा समाज और परिवार की उन भीतरी सच्चाइयों से साक्षात्कार है जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहनने वाला ही जानता है।'' (देहरि भई विदेश, संपादक राजेन्द्र यादव, पृष्ठ–18)

आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री ने अपने विचारों के द्वारा जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं को समाज के सामने लाने का साहस दिखाया है। लेखिकाओं ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था के भीतर स्त्री के सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, सांस्कृतिक जीवन की पड़ताल करते हुए, बेबाक प्रस्तुति की है। लेखिकाओं ने स्त्री के अस्तित्व, अस्मिता, स्वतंत्रता, अधिकार और मुक्ति के लिए पहल की है।

सभी महिला आत्मकथाओं में जीवन की विसंगतियाँ, संघर्ष, आत्मनिर्णय, मुक्ति कामना, जीवन के निर्णायक पल, परिस्थितियाँ और आज वे जिस मुकाम पर हैं उसके पीछे के कारण हैं। इनकी आत्मकथाएँ स्त्रियों के लिए एक सीख और प्रेरणा देने का कार्य भी करती हैं। समाज और पितृसत्ता के आतंक से भी वे अवगत करवाती हैं। सभी आत्मकथाओं में परिवार, जीवन, संघर्ष और कुछ घटनाओं का समावेश रहता है। इन घटनाओं का जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और यदि ये नहीं हुई होतीं तो क्या आज का समाज ऐसा होता? क्या कारण है कि रचनाकार आत्मकथा लिखता है, और अपने और अपने परिवार को सबके सामने प्रस्तुत कर देता है? इन महिला आत्मकथाओं की तुलना में प्रभा खेतान की आत्मकथा अधिक चर्चित क्यों रही?

प्रभा खेतान जब लेखन कार्य कर रही थीं उस समय पुरुष रचनाकारों की तुलना में महिला रचनाकारों का कृतित्व किसी विशेष आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सका था। प्रभा खेतान ने कहा था कि स्त्री और दलित शायद ही कभी साहित्य की मुख्य धारा में सम्मिलित हो पाएँगे। प्रभा खेतान ने साहित्य को कभी 'केरियर' नहीं माना केरियर के लिए तो उनके पास व्यापार और सामाजिक मंच था। उन्होंने सदा ही साहित्य को रचना-प्रक्रिया का एक अंग समझा। प्रभा खेतान के लिए व्यापार करते हुए भी, लेखन कार्य प्राथमिक था। उनके लिए लिखना और लिखते रहना आंनद का स्रोत था। इन्होंने अपने जीवनानुभवों को अपने शब्दों में उकेरा है।

'अन्या से अनन्या' आत्मकथा स्त्री विमर्श की दृष्टि और आत्मकथा लेखन की विशेषताओं के कारण आज भी चर्चा का विषय बनी हुई है। यह आत्मकथा एक पारंपरिक मारवाड़ी स्त्री के स्वाभिमान, संघर्ष, अस्तित्व और निर्धारित सीमा-रेखा से हटकर काम करने की लड़ाई है। एक स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्री की आत्मकथा है जो प्रेरणा देती है कि एक स्त्री को अपनी अस्मिता, आत्मनिर्णय, मुक्ति और आर्थिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है। इस आत्मकथा में एक प्रेम कथा भी है जिसे पाठकों ने आनंद लेते हुए रोचकता से पढ़ा और आलोचना भी प्रस्तुत की। प्रेम कथा में एक स्त्री जिसने अपने से अठारह वर्ष बड़े और पाँच बच्चों के पिता से प्रेम किया और 28 वर्षों तक इस संबंध को निभाती रहीं। अपने प्रेम के लिए वे आजीवन अविवाहित रहीं। लेखिका का वजूद पत्नीत्व को कायम रखने वाली संस्था के लिए खुली चुनौती के रूप में रहा है।

समकालीन महिला लेखन में प्रभा खेतान का विशेष स्थान रहा है। वे एक बौद्धिक विचारक होने के साथ एक स्त्रीवादी साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध रही हैं। भारतीय समाज और पाश्चात्य समाज के सभी वर्ग की स्त्रियों के अस्तित्व, अस्मिता, मुक्ति और स्वतंत्रता को उन्होंने अपने कथा साहित्य में अभिव्यक्त किया है। प्रभा खेतान ने तमाम

स्त्रियों के दर्द को पारिवारिक, सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं मानवीय संवेदनाओं के साथ व्यक्त किया है। स्त्री अस्मिता और मुक्ति को भी उन्होंने अपने साहित्य में महत्त्व दिया है।

अतः कहा जा सकता है कि स्त्री लेखन आज इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि नारी आज समय, परिवेश, समाज और चुनौतियों के मध्य सजग और सचेत है। आज जहाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था और देह के प्रति मुक्ति की आवाज़ उठी है वहीं स्त्री–पुरुष संबंधों की भी गहराई से पड़ताल भी हुई है। स्त्री शोषण, ग्रामीण–शहरी स्त्रियों की समस्याएँ, बाल्यावस्था में यौन शोषण, बलात्कार की समस्या, रूढ़ियों और परंपराओं की बेड़ियों में जकड़ी हुई स्त्रियों के मध्य समकालीन लेखिकाओं ने अपनी दृष्टि विकसित की है और अपने साहित्यिक लेखन के माध्यम से अमूल्य और सार्थक योगदान दिया है।

9.3 प्रभा खेतान का संक्षिप्त परिचय

प्रभा खेतान एक प्रसिद्ध कवयित्री, उपन्यासकार, व्यावसायी, बौद्धिक विचारक, स्त्रीवादी चिंतक, समाज सेविका, संपादक, अनुवादक और साहित्यकार के रूप में जानी जाती रही हैं। इन सभी क्षेत्रों में प्रभा खेतान की अपनी विशिष्ट भूमिका रही है। कोई भी साहित्यकार समाज, व्यक्ति और परिवेश से भिन्न नहीं हो सकता है। किसी भी व्यक्ति का जीवन उसके आस–पास के परिवेश और उसके समाज से निर्मित होता है। साहित्य को समझने से पहले साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशिष्ट गुण अवश्य विद्यमान होते हैं, जो उस व्यक्ति की उसके कार्य के माध्यम से एक भिन्न पहचान बनाने में मदद करते हैं। कुछ व्यक्ति बहुमुखी प्रतिभा संपन्न होते हैं। ऐसे ही कुछ विशिष्ट गुण प्रभा खेतान में रहे हैं, जो उन्हें बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वाली स्त्री बनाते हैं।

9.3.1 व्यक्तित्व

प्रभा खेतान का जन्म 1 नवम्बर सन् 1942 में कलकत्ता के एक सम्पन्न मारवाड़ी परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज राजस्थान में चुरू जिले के सुजानगढ़ कस्बे के मूल निवासी थे। व्यापार के सिलसिले में खेतान परिवार कोलकाता गया और वहीं बस गया। प्रभा खेतान के पिताजी का नाम लादूराम खेतान था। वे एक बड़े उद्योगपति तथा गाँधीवादी विचारधारा के व्यक्ति थे। इनकी माता का नाम पुरनो देवी खेतान था। प्रभा खेतान आजीवन अविवाहित रही थी। उन्होंने एक विवाहित पुरुष और पाँच बच्चों के पिता से प्रेम किया था। प्रभा खेतान की मृत्यु 19 सितंबर सन् 2008 में कोलकाता में हुई।

प्रभा खेतान ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। बालीगंज शिक्षा सदन कोलकाता से ग्यारहवीं कक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के पश्चात् इन्होंने प्रेसीडेंसी कालेज, कोलकाता में प्रवेश लिया। प्रभा खेतान की रुचि दर्शनशास्त्र विषय में थी। प्रभा खेतान ने दर्शनशास्त्र विषय में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। प्रभा खेतान ने पीएच.डी. की उपाधि कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इनके पीएच.डी का विषय 'ज्याँ पाल सार्त्र का अस्तित्ववाद' था। इसके अतिरिक्त प्रभा खेतान ने लॉस एंजेल्स अमेरिका से ब्यूटी थैरापी के पाठ्यक्रम (कोर्स) में डिप्लोमा भी किया।

नौकरी एवं व्यवसाय के क्षेत्र में प्रभा खेतान ने ब्यूटी थैरेपी का पार्लर खोला और सन् 1966 में फिगरेट नामक महिला स्वास्थ्य केंद्र की स्थापना की। उन्होंने सन् 1976 से चमड़े तथा सिले सिलाए वस्त्रों के निर्माण एवम् निर्यात का कार्य आरंभ किया। यह कार्य दिन–प्रतिदिन बढ़ता चला गया। वे अपनी ही कंपनी न्यू होराईजेन लिमिटेड की प्रबंध निदेशिका रही हैं। वे 138 वर्ष पुरानी प्रतिष्ठित संस्था 'कलकत्ता चेंबर ऑफ कॉमर्स' की प्रथम महिला अध्यक्ष बनीं। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक संघर्षों के उपरांत ही उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

9.3.2 कृतित्व

प्रभा खेतान आधुनिक युग की एक उत्कृष्ट लेखिका रही हैं। प्रभा खेतान ने साहित्य जगत में एक कवयित्री के रूप में प्रवेश किया था। साहित्य और व्यवसाय प्रभा खेतान के जीवन रूपी सिक्के के दो पहलू रहे हैं। प्रभा खेतान ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में जैसे कविता, कहानी, उपन्यास, उपन्यासिका, चिंतन, अनुवाद, संपादन, आत्मकथा, कथा रिपोर्ताज और वैचारिक स्तर के लेखन आदि के माध्यम से अपना साहित्यिक योगदान दिया है। प्रभा खेतान के लिए लिखना सहज रहा है क्योंकि प्रारंभ से ही उनकी रुचि लेखन कार्य में रही है। प्रभा खेतान की बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कविता संग्रह के क्षेत्र में :

प्रभा खेतान ने कविता लेखन का आरंभ बारह वर्ष की अवस्था से ही कर दिया था। इन्होंने अपने अकेलेपन को कविता के साथ बाँटा था। इन्होंने अपने लेखन की शुरुआत कविता से की थी। प्रभा खेतान की कविताओं की मूल संवेदना प्रेम और जीवन की छोटी–छोटी बातें और छोटी–छोटी परिस्थितियाँ रही हैं। इनके निम्नलिखित छः कविता संग्रह प्रकाशित हैं :

1. 'अपरिचित उजाले'– सन् 1981,
2. 'सीढ़ियाँ चढ़ती हुई मैं'– सन् 1982,
3. 'एक और आकाश की खोज में' –सन् 1985,
4. 'कृष्ण धर्मा मैं' –सन् 1986 (उड़िया भाषा में अनूदित),
5. 'हुस्नबानो और अन्य कविताएँ' –सन् 1987,
6. 'अहल्या' –सन् 1988 (उड़िया भाषा में अनूदित)

उपन्यास के क्षेत्र में :

प्रभा खेतान के कुल छः उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं तथा दो उपन्यासिका पत्रिका में प्रकाशित हुई है :

1. आओ पेपे घर चलें – 1990 (अंग्रेजी और उड़िया भाषा में अनुवाद)
2. तालाबंदी – 1991 (बांग्ला भाषा में अनुवाद)
3. अग्निसंभवा – 1992

4. छिन्नमस्ता – 1993
5. अपने अपने चेहरे – 1994
6. पीली आंधी –1996 (बांग्ला भाषा में अनुवाद)
7. स्त्री–पक्ष – यह कथा उपन्यासिका के रूप में सबरंग पत्रिका, जनसत्ता के 14 फरवरी से 1 अगस्त 1999 में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई।
8. एड्स – यह भी एक उपन्यासिका है। यह पूजा पत्रिकांक, कलकत्ता से प्रकाशित हुई।

प्रभा खेतान के सभी उपन्यास स्त्री विमर्श से संबंधित हैं। उन्होंने जो जीवन जीया या जो अनुभव किया उसका हुबहू वर्णन कथा रूप में ढाल कर अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री अस्मिता, अस्तित्व, आत्मनिर्भरता तथा आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इन्होंने अपने उपन्यासों में पाश्चात्य समाज और भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति का चित्रण किया है। इनके उपन्यासों के स्त्री पात्र भी भिन्न–भिन्न रूपों में दिखाई देते हैं। उनके सामाजिक संदर्भों में भी बदलाव दिखाई देता है।

आत्मकथा :

प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' लिखी जो कि 2007 में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा का अंग्रेजी में अनुवाद इरा पांडे ने 'ए लाईफ अपार्ट' (सन् 2013) के नाम से किया है।

बौद्धिक चिन्तन के क्षेत्र में :

प्रभा खेतान की बौद्धिक चिंतन के क्षेत्र में निम्नलिखित पुस्तकें है।

1. सार्त्र के अस्तित्ववाद का प्रभाव – 1984
2. शब्दों का मसीहा सार्त्र – 1985
3. वह पहला आदमी–अल्बेयर कामू– 1993
4. उपनिवेश में स्त्री–मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ– 2003
5. बाजार के बीच :बाजार के खिलाफ (भूमंडलीकरण और स्त्री के प्रश्न)– 2004
6. भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र – 2007
7. सोफिया टॉलस्टॉय की डायरी– 2008

अनुवाद के क्षेत्र में कार्य

प्रभा खेतान ने अनुवाद के क्षेत्र में भी योगदान दिया है। उनके द्वारा किये गए अनुवाद चर्चित और साहित्य के क्षेत्र में उपयोगी भी रहे हैं।

1. 'साँकलों में कैद क्षितिज' (सन् 1988)–प्रभा खेतान ने 'सांकलों में कैद क्षितिज' के अंतर्गत 18 अफ्रीकी कवियों की कुछ कविताओं का अनुवाद किया है।

2. 'स्त्री उपेक्षिता' (सन् 1999)—यह पुस्तक विश्वविख्यात फ्रैंच लेखिका सीमोन द बोउवार की विश्वचर्चित कृति The Second Sex का भारत में पहली बार हिन्दी रूपांतर डॉ. प्रभा खेतान ने सन् 1999 में किया। दुनिया में पहली बार पीड़ित स्त्री के इतिहास का मार्मिक विवरण प्रस्तुत करने वाली तथा मानव समाज को एक क्रांतिकारी दिशा देने वाली कृति है।

संपादन के क्षेत्र में कार्य

प्रभा खेतान ने संपादन के क्षेत्र में भी योगदान दिया है। **एक और पहचान**—सन् 1986 (संपादित काव्य संग्रह है)

अन्य लेखन के क्षेत्र में कार्य

प्रभा खेतान ने अपने साहित्य के अंतर्गत उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विधाओं का भी लेखन कार्य किया है, जिनमें कहानी, कथा–रिपोर्ताज, आलेख, साक्षात्कार आदि हैं:

कहानी – 'प्रतिद्वंद्वी', 'मैं अब नहीं लौटूँगा', 'आम का मौसम', 'मिस मारिया'।

रिपोर्ताज– 'भूकंप' एक कथा–रिपोर्ताज है, जो हंस पत्रिका में जनवरी 2003 में प्रकाशित हुई।

इसके अतिरिक्त प्रभा खेतान के स्त्री विमर्श संबंधी, उपनिवेशवाद और भूमंडलीकरण से संबंधित कई लेख–आलेख हंस पत्रिका और अन्य पत्र–पत्रिकाओं में लगातार छपते रहे हैं जैसे : 'स्त्री–विमर्श के अंतर्विरोध', 'स्त्री–विमर्श', 'स्त्री : अंतिम उपनिवेश आदि'।

9.3.3 सामाजिक गतिविधियों में सहभागिता और पुरस्कार

प्रभा खेतान समाज में दुखी, असहाय, बेसहारा स्त्रियों की सेवा के लिए सदैव आगे रहीं एवं सामाजिक सेवा के कार्यों से बराबर जुड़ी रहीं। वे सदैव दूसरों की मदद के लिए तैयार रहती थीं। इन्होंने अनेक स्थलों में समाजसेवा का कार्य किया है। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में अपनी महत्त्वपूर्ण सहभागिता भी निभाई है, जैसे :

- नारी विषयक कार्यों में सक्रिय रूप से भागीदार रहीं।
- दातव्य न्यासों से जुड़े रहकर पूरे भारत में सक्रिय रहीं।
- रेडक्रॉस के कल्याण शाखा की भूतपूर्व अध्यक्ष रहीं।
- भूतपूर्व निर्वाचन आयुक्त श्री टी.एन. शेषन के साथ देशभक्त ट्रस्ट में न्यासी रहीं।
- प्रभा खेतान फाउन्डेशन की संस्थापक अध्यक्षा रहीं।
- जिला सैनिक बोर्ड, कलकत्ता की मानक सदस्या रहीं।
- कलकत्ता चेंबर ऑफ कामर्स की भूतपूर्व अध्यक्षा (प्रथम महिला अध्यक्ष, एक 136 वर्ष पुरानी प्रतिष्ठित संस्था तथा एशिया में सबसे पुराना) रहीं।

- अंतर्राष्ट्रीय मारवाड़ी सम्मेलन के युवा शाखा तथा प्रभा खेतान फाउन्डेशन के सांझा कार्यक्रम ('सभी के लिए शिक्षा' कार्यक्रम के तहत एक वृहत्तर कार्यक्रम का संचालन जिसमें गरीब एवं मेघावी छात्र–छात्राओं) के लिए विशेष व्यवस्था।
- प्रभा खेतान प्रतिभा पुरस्कार। इसमें राजस्थान की छात्राओं की साहित्यिक प्रतिभा को पुरस्कृत किया जाता है।
- केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार) के शासी परिषद (गवर्निन बॉडी) की सदस्या रही हैं।
- वे अपने जीवन में सामाजिक संस्थाओं से जुड़ी रहीं। इनके नाम से प्रभा खेतान फांउडेशन भी चलता है और इस फांउडेशन की ओर से प्रत्येक वर्ष कला, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में 'प्रभा खेतान पुरस्कार' भी दिया जाता है।

पुरस्कार और सम्मान

प्रभा खेतान ने जो कार्य सामाजिक, साहित्यिक और व्यापारिक क्षेत्र में किये हैं उसके कारण इनको भी समाज की विभिन्न संस्थाओं ने सम्मानित एवं पुरस्कृत किया है। प्रभा खेतान के सम्मान एवं पुरस्कारों की सूची में रत्न शिरोमणि, इंडिया इन्टरनेशनल सोसाइटी फॉर यूनिटी द्वारा प्रदान किया गया, इन्दिरा गाँधी सॉलिडियरिटी एवार्ड, इन्डियन सॉलिडियरिटी काउन्सिल द्वारा प्रदान किया गया, टॉप पर्सनैल्टी एवार्ड (उद्योग) लायन्स क्लब द्वारा प्रदान किया गया, उद्योग विशारद, उद्योग टेक्नोलॉजी फाउन्डेशन द्वारा प्रदान किया गया, प्रतिभाशाली महिला पुरस्कार, भारत निर्माण संस्था द्वारा प्रदान किया गया, महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन पुरस्कार, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा राष्ट्रपति के हाथों से सन् 1996 में प्रदान किया गया तथा 'बिहारी पुरस्कार' के. के. बिड़ला फाउन्डेशन द्वारा सन् 1997 में 'पीली आंधी' उपन्यास के लिए प्रदान किया गया।

9.4 'अन्या से अनन्या' (पृष्ठ 28 से 42) : वाचन

"चमेलिया! तू कहती तो ठीक है। मुझे सोचना चाहिए था। अब क्या करूँ? एक बार हाँ करके ना नहीं करना चाहिए ना?"

"अच्छा, ठीक है, तोहार बेटी का भाग।"

और चमेलिया ने सच में गुड़िया बनाकर दी थी। जरी का घाघरा, चोली पहने, घुघट निकाले मेरी गुड़िया खड़ी थी। बिलकुल सीधी। घाघरे का फैला हुआ घेरा कितना सुन्दर लग रहा था ! पतली कमर में मोतियों की करधनी लटक रही थी। मैं तो बस उसे देखती ही रह गई। फिर चमेलिया से लिपट गई, "चमेलिया! तू कितनी अच्छी है!

''दाई माँ, मैं जाती हूँ, खेदरवा को न्योता देने, वह अपना बेटा लेकर आए। हाँ, और आज ही हमलोग सगाई कर देते हैं।"

मैं दाई माँ का हाथ पकड़े–पकड़े सीढ़ियाँ उतरी। उसके साथ सड़क पार करके खेदरवा की माँ के पास गई। दाई माँ बैठकर बतियाने लगी। खेदरवा गुल्ली–डंडा खेल रहा था। मैंने आवाज दी, "ए खेदरवा !'' वह भागा–भागा आया...

"मेरी गुड्डी रानी से अपने बबुए की सगाई करेगा?" खेदरवा के पास एक विलायती प्लास्टिक का बबुआ था। कहीं कूड़े से उठाकर लाया था। मैं जब भी जाती वह हमेशा अपने गुड्डे के ब्याह की बात करता। आज मेरी गुड़िया सज–धजकर तैयार थी। खेदरवा ने उत्सुक होकर पूछा, "कब?"

"अभी, इसी वक्त। क्यों दाई माँ?"

"अरे बिटिया ! तनिक साँस तो लेने दो।"

दाई माँ फिर बातों में मशगूल हो गई। खेदरवा की माँ ने अपना हुक्का दाई माँ को थमा दिया था। मैंने खेदरवा से कहा, "तू चल, पहले मेरी गुड़िया को देखकर तो आ।"

खेदरवा मेरे साथ हो लिया। दबे पाँव सीढ़ियाँ चढ़कर हमलोग छत पर गए। गुड़िया वैसे ही सजी–धजी खड़ी थी। खेदरवा भी मुग्ध हो गया।

''बहुत अच्छी है, इसको हम बहुत अच्छे से रखेंगे।" तब तक छत पर किशन चला आया। मैंने गुड़िया को अपनी गोद में छिपा लिया।

"दिखा मुझेकृदिखाकृ" किशन की छीना–झपटी देख चमेलिया ने कहा–"अरे दिखा दो परभा बाई, नाहीं तो कहाँ से लोग बारात में अइहें ? आउर इ तो तोहार बिटिया का मामा भइलें !" मैंने किशन को गुड़िया दिखाई। तब तक गीता और पुष्पा भी ऊपर आ गई थीं।

"इतनी अच्छी गुड़िया ! अरे यह खड़ी कैसे है !" कहते हुए किशन ने गुड़िया का घाघरा उलटा।

"किशन! बेशरम कहीं का...." मैं चीखी, पर वह भला कहाँ मानने वाला.................

"अरे देख गीता ! देख, यह गुड़िया बाँस को चीरकर बनाई गई है। दो के बदले चार टाँग और बीच में पत्थर अटका दिया है। है... है... प्रभा की गति भाटा माई, प्रभा की गुड़िया भाटा माई।"

किशन ने टिकोजी षेप की गुड़िया हथेलियों पर रखी और जोरों से नाम लगाया, "भाटा माई की जय! भाटा माई की जय !" किशन के पीछे गीता और पुष्पा। तीनों नीचे उतर गए थे। "मेरी गुड़िया...मेरी गुड़िया...दाई माँ मेरी गुड़िया..." मैं जमीन पर लोट रही थी। तब तक खेदरवा भाटा माई के लिए ना कहके जा चुका था। गीता, किशन और पुष्पा के जुलूस में अब शाम को खेलनेवाले अन्य और बच्चे भी शामिल थे।

अब छोटे भैया तथा जीजी लोगों की बारी थी। रात को खाना खाते वक्त सल्लो जीजी ने बात छेडी, "अम्मा! अपनी प्रभा की सगाई खेदरवा से कर दें।"

"उपले पाथा करेगी।" छोटे भैया ने चिकोटी ली। बाबूजी की प्रश्न पूछती आँखें। अम्मा ने कहा, "मुझे तो ये बच्चे रात–दिन नोंचते रहते हैं। क्या मजाल कि शान्ति से कोई दोपहर को भी आराम कर ले।"

हरिया ने सारी कहानी बाबूजी के सामने सुनाई, "हरिया ! चमेलिया की माँ से कहना–बच्ची को हर कहीं न ले जाया करे।"

उस रात मैं और दाई माँ, दोनों गले लगकर रोती रहीं। वह मेरे आँसू पोंछ रही थीं, मैं उनके। "गरीबी बहुत बुरी चीज है बिटिया !..." "हाँ, दाई माँ ! सच कहती हूँ दाई माँ, अब मैं कभी भी गुड़िया के ब्याह का सपना नहीं देगूंगी।"

मैं स्मृतियों की पगडंडी पर सँभाल–सँभालकर कदम रख रही हूँ। कभी आँचल झाड़ियों में उलझता है, कभी पैरों में नुकीले पत्थर चुभते हैं...कभी सामने काहर के बादल...सामने कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता...और कभी पैरों के नीचे ठंडी आस की बूंदें, मुझे मेरे आँसुओं की याद दिलाती हुईं।

कहीं दूर पीछे छूटा हुआ अतीत ठंडी साँसें भर रहा है। दो, बड़े–बड़े काले के फडफडाते हुए सर के ऊपर से निकल गए। अचानक एक खामोशी चुपचाप नों पर ठहर गई। मेरी आँखें चौंककर कौवों का पीछा करती हैं। धूप की सुनहरी किरणें ओस की बूंदों को सुखाने लगी हैं।

एक छोटी लड़की शाम से जंगले पर चुपचाप बैठी हुई है। आज वह खेलने श्री नीचे नहीं उतरी। सहेलियाँ आईं, उसने झिड़क दिया। खामोश निगाहें दीवार पर बड़ी होती छायाओं को चुपचाप देख रही हैं। सूरज डूब गया। वह वहीं बैठी ई है। हवा में ठंडक बढ़ गई है। दाई माँ स्वेटर पहना गई। उसने पहन लिया। खाने के लिए पूछा तो फिर मना कर दिया। सामनेवाले मकान में अपनी दोस्त चित्रा के घर भी खेलने नहीं गई।

कौन है यह लड़की?

हाँ, यह मैं हूँ। मैं...!

मेरे साथ मेरा अकेलापन हमेशा रहा है, पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ भी समझाता रहा है। मैंने अपने–आपको बचाया है, अपने मूल्यों को जीवन में सँजोया। हाँ, टूटी हूँ, बार–बार टूटी हूँ...पर कहीं तो चोट के निशान नहीं... दुनिया के पैरों तले रौंदी गई, पर मैं मिट्टी के लोंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई। इस उम्र में भी एक पूरी–की–पूरी साबुत औरत हूँ, जो जिन्दगी को झेल नहीं रही बल्कि हँसते हुए जी रही है, जिसे अपनी उपलब्धियों पर नाज है। दोस्ती का हाथ बढ़ाकर जिसकी गर्म हथेलियाँ हर किसी को अपने करीब खींच लेती हैं।

मेरी स्मृतियों में दाई माँ की ममता भरी हथेलियाँ तैर जाती हैं। पाड़वाली सफेद साड़ी, ढीला कुर्ते जैसा ब्लाउज, सीधे पल्ले की गाँठ में बँधी हुई खैनी और कभी–कभी अधजली बीड़ी के टुकड़े। सुबह दाई माँ के कमरे में आते ही मेरी जिन्दगी शुरू हो जाती, "उठो, जल्दी करो ह मोर बचवा, सात बज गईल...अभी स्कूल का टैम हो जाईल..." और दाई माँ के हाथ से दूध का गिलास लेकर गट–गट पी लेना, फिर दौड़–भाग । फ्रॉक का बटन खुल हौ, चोटी का फीता नहीं मिल रहा। मेरी बेल्ट कहाँ ? "दाई माँ ! मेरा मोजा ? मेरा नयावाला मोजा कहाँ...? दाई माँ ! गीता ने मेरा नया जूता पहन लिया। गीता ! निकाल मेरा नया जूता। मैं पहनूँगी।"

"नहीं देती, जा, जो करना है कर ले।"

"दाई माँ ?" मैं रोने बैठ जाती। "पुराना जूता पहन ले बिटिया ! का फरक ?" गीता, अम्मा की लाडली। क्योंकि उसकी चोटियाँ ठीक से गूंथी हई होती, फीते का फूल सुघड़ तरीके

से बुना हुआ होता। मेरी चोटियाँ एक ऊपर एक नीचे। जीजी लोगों के पास जाने की हिम्मत नहीं। अभी मार पड़ेगी... और दाई

माँ को चोटी ठीक से गूंथना नहीं आता। साटन का फीता तुड़ा–मुड़ा रहता। बालों में दाई माँ ढेर–सा तेल चुपड़ देती और आँखों में मोटा–सा काजल । स्कूल में विध चिढ़ाती, "तू बिलकुल मिसरानी लगती है !" स्कूल खाना खाकर जाना पड़ता वही दाल, चावल, आलू की सूखी सब्जी...जल्दी करो लड़कियो बस आ गई। गीता और पुष्पा हमेशा सबसे पहले तैयार रहतीं। लेकिन सारी गड़बड़ी मेरे ही साथ क्यों होती थी ? सफेद फ्रॉक पर बचाते–बचाते भी दाल–चावल गिर गए। दाग छडाने में दाई माँ ने फ्रॉक और गीला कर दिया। कल जूतों पर पॉलिश करना भूल गई थी। दाई माँ का कहना था, "अईसे ही पहने जाओ।" और नीचे दौड़ते–दौडते यह लो, बस हॉर्न बजाती हुई निकल गई। मैं रुआंसी ऊपर लौट आई थी। मझे देखते ही अम्मा का पारा सातवें आसमान पर था– "फिर बस छूट गई ना ? पडी रह घर में, अब कौन छोड़कर आएगा स्कूल तक?"

"तनी दरबानजी से कह दो ना बहूजी ! अभ्भी टैक्सी में छोड़ अइहैं।"

"पैसे नहीं लगते क्या टैक्सी के ?"

दाई माँ की चिरौरी, मेरा उदास चेहरा, खैर, किसी तरह स्कूल पहुँच जाती।

बचपन से ही मुझे बरामदे में बैठे–बैठे चिड़ियों से संवाद या एकालाप करना अच्छा लगता था। मैं खुद ही प्रश्न करती, खुद ही उसका उत्तर देती। रेलिंग पर बैठी गौरेया से मैं न जाने क्या–क्या बातें किए जा रही थी। मैं गौरेया से बतिया रही थी, 'अले अले गौलेया ! बता तो, तू आज कहाँ–कहाँ होकर आई? और उस कौवे को देखकर क्यों डल गई थी? कुछ खाया तूने? क्या खाती ह तू? बोल न मेली चिड़िया, मेली अच्छी–सी गौलेया? अले बोल न भाई? तू भा नहीं बोलती...' और इतने में जोरों का ठहाका–हो–हो–ही–ही! पीछे छोटे भया, गीता, पुष्पा और किशन।

"देखो–देखो, इस पागल को!" छोटे भैया सबसे बदमाश, किसी की नकल करने में नम्बर एक। हो–हो करते हुए मुझे चिढ़ाते हए बोले, 'अले अले बालन मेली चिड़िया! मेली दन्तोलानी.....इसीलिए तो तेले भी दाँत बाहल निकले हुए है। चिड़िया के चोंच जैसे!

मैं फफक–फफक रो पड़ी। मैं रोए जा रही थी और मेरे भाई–बहन पेट पकडकर हँसे जा रहे थे। तब तक भगवती बाई आ गईं, मझे रोता देख उनका मन पिघला। आगे बढ़कर पुचकारा, फुसलाया। मैं जरा–से स्नेह से तुरंत चुप भी हो जाती थी। जीजी कितनी अच्छी हैं।

मेरी स्मृतियों में दाई माँ की यादें और यह उभरती हुई पीली शाम, साथ–साथ घुलकर नीली होती जा रही है। अभी, बस अभी कुछ ही क्षणों में सूरज डूब जाएगा और यह सारा दृश्य काला हो जाएगा।

कैसा अनाथ बचपन था। अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला लें। शायद...हाँ, शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच। अम्मा मेरी बातों को समझ नहीं पाती थीं।

स्कूल में पार्वती बहनजी को, मारवाड़ी लड़कियों से बेहद चिढ़ थी। अधिकतर टीचर बंगाली थीं, बड़ी बहनजी तो अच्छी–खासी हिन्दी बोल लेतीं। लेकिन संगीत की टीचर, सेवा बहनजी और गणित की टीचर पार्वती बहनजी मुझसे बहुत चिढ़तीं। मैंने एलान किया–"मैं गाना नहीं सीलूँगी, मैं गा नहीं सकती।"

"सीखो।"

"मेरा गला खराब है।"

"गधी भी तो रेंकते हुए स्वर निकालती है।"

"मैं गधी नहीं।"

और मैं कभी गा नहीं सकी।

वन्दना, स्वर्णलता, उषा के साथ मैं घूमती रहती। स्कूल से लेक, लेक से वापस घर, कभी निर्मला विहार दोसा खाने, कभी झाल मुड़ी, ये गैर बंगाली लड़कियाँ थीं, मेरे जैसी...स्वाति अकेली बंगाली लड़की थी, क्लास में प्रथम, विधु द्वितीय, मैं तृतीय, तीसरे नम्बर पर होने का अपना सुख है, किसी की आर ज्यादा अपेक्षा नहीं रहती।

स्कूल में हमें सलवार–कमीज पहनना पड़ता। घर लौटकर मेरी अन्य सहेलि भी स्कर्ट–ब्लाउज या सलवार–कमीज ही पहनतीं। मगर अम्मा का कहना था घर आकर कपड़े बदल साड़ी पहनो। लेकिन क्यों...?

इसलिए कि अब बड़ी हो गई हो।

पर मैं तो कुल नौ साल की हूँ, बड़ी कहाँ हुई?

धापी मिसरानी, तीज–सन्धारे में मेहँदी लगा जाती। गणगौर के दिनों में गौरा की पूजा करवाती, और कानों के पास हाथ रखकर फटे बेसुरे गले से चीख चीखकर गाती–'इसरजी तो पेचों बाँध गोरा बाई... ऊ...फ...।' "अम्मा धापी बाई को चुप कराइए ना, भला यह कैसी पूजा हुई?" लेकिन अम्मा की कुछ कहने की हिम्मत नहीं होती। धापी बाई आँखें बन्द कर गला फाड़े गा रही है। पर इसी बीच हड़बड़ी में इसरजी का पेंचा खुल गया। तीलियों से अटकाया गया गौरा का सर लुढ़क गया। "अरे बाप रे। प्रभा ! तू ने यह क्या किया?" गीता चीखी। अम्मा की खड़ाऊँ की आवाज़ सुनाई दे रही है। मेरा कलेजा मुँह को... जल्दी–जल्दी मैं गौरा का सर उनके धड़ से चिपकाने की कोशिश करती हूँ। चलो कोई बात नहीं सब कुछ ठीक हो गया, जान बची, अम्मा आकर पीढ़े पर बैठ गईं, "ए छोरियो हाथों में दूब लो और गौर माता को छींटे दो सात बार। हाँ अब हाथ जोड़ लो, और प्रार्थना करोकृहे गणगौर माता जैसा वर तुमको मिला..." अचानक अम्मा की नजर गणगौर पर.. "हैं...यह क्या ? किसने किया यह सब?'

"के होयो बहूजी ?...' धापी बाई ने घबराकर पूछा।

"धापी बाई थान सूझ कोनी ? गणगौर को मूंडो (चेहरा) उलटो कईयाँ है, किसने किया ये करम ?" गीता उठकर भाग चुकी थी, और मैं वहाँ सँआसी, भय–कातर। वैसे अम्मा कभी मार नहीं पाती थीं। बहुत नाजुक थीं मेरी माँ...उस दिन भी मेरी पीठ पर धौल जमाते हुए उन्होंने थककर कहा–"इसका कुछ नहीं बिगड़ेगा, भाट्टो पथ्थर पड़ी है, इसे मारने से

मेरे हाथ और दुखने लगे।" उस दिन के बाद मैंने कभी गणगौर की पूजा नहीं की। पाथर पूजै हरि मिले तो म पूजु पहाड़। वैसे गौरा जरूर मुझ पर नाराज हुई होगी, गलती मेरी थी कि मैंने माटा की मूरत का सर उलट दिया था। सम्भव है गौरा की नाराजी से ही मुझे अच्छा घर–वर नहीं मिला। खैर, बड़ी हो रही थी और अपने में सीमित होती चली जा रही थी। नहीं खेलना इन लड़कियों से, नहीं जाऊँगी लीली पुल और झूला पार्क, एक सुरक्षित जगह है मेरी कल्पना की दुनिया, आँखें बन्द किए घंटों पड़ी रहती...और कल्पना करती रहती। मेरी माँ अन्य और लड़कियों की माँओं की तरह स्मार्ट और पढ़ी–लिखी क्यों नहीं? वे तो केवल चेक पर हस्ताक्षर करती हैं, "पुरनी देवी खेतान' । बाद के दिनों में तो अम्मा वह भी नहीं कर पातीं। हाँ अपनी इस कमी के लिए उनके दिल में कसक जरूर थी। किसी भी पढ़ी–लिखी स्वावलम्बी स्त्री को देखतीं तो अम्मा यही कहा करतीं, "तुम लोग जरूर रुपया कमाना, अपने पैरों पर खड़ी होना। आखिर हमें क्या मिला ? बस बच्चे पैदा करती रही।" अम्मा ने कभी नहीं कहा मेरी तरह बनो। जन्म से वे विद्रोही थीं और विरासत में मुझे उनका विद्रोही स्वभाव मिला।

बाबूजी को व्यापार में जोरों का घाटा लगा, और उन्हें अपनी जूट मिल बेचकर, सेठिया के यहाँ वर्किंग पार्टनरशिप स्वीकारनी पड़ी। बड़े चाचा ने व्यंग्य किया, "भैया ! आप सेठ से बाबू हुए और अब बाबू से नौकरी पर उतर आए।" खैर, सेठिया के यहाँ वह बस कहने भर को ही नौकरी थी। बनवारी लालजी सेठिया ने बाबूजी के किसी निर्णय में कभी दखल नहीं दिया। उनके अनुभव का लाभ उठाकर जूट के काम में सेठिया ने कसकर पैसा बनाया, पर रुपए की हिस्सेदारी में सेठिया की नीयत डोल गई। बात गरमागरमी पर आ गई थी। जूट बाजार को भी इस आपसी वैमनस्य की खबर थी। मामा जी खुद जूट–मिलवाले थे। उन्होंने अम्मा से कहा, "बाई, जीजाजी से कहो, जल में रहकर मगरमच्छ से बैर कर रहे हैं। परिणाम अच्छा नहीं होगा।" आखिर हुआ वही। बाबूजी को उनके जिगरी दोस्त और समधी बालूरामजी और बनवारी लाल सेठिया ने जहर देकर मार डाला। दूसरे दिन अखबार में सुर्खियाँ थीं–'प्रसिद्ध उद्योगपति श्री लादूरामजी खेतान की रहस्यमयी मौत। मृत देह सोनागाछी के बाथ हाउस में मिली।' अम्मा तड़प उठीं, "जालिमो! एक तो मेरे पति का खून किया, फिर ऐसे देवता जैसे आदमी पर यह इल्जाम?' न मालूम अम्मा में कहाँ से इतनी ताकत आ गई थी ? तीज–त्यौहार या शादी–ब्याह के अवसर के अलावा हमेशा खाट पर पड़ी रहनेवाली अम्मा, जिनके लिए हर दूसरे दिन डॉ. गांगुली को चेक–अप के लिए आना पड़े, कोई बच्चा यदि गलती से भी उनके सर को हाथ लगा दे तो अम्मा बीमार हो जाएँ, दिन में चार–चार सैरिडॉन खानेवाली अम्मा, शेरनी–सी दहाड़ उठीं, "नहीं, वे मरे नहीं, उन्हें मार डाला गया। मेरा घर उजाड़नेवालो! तुम सब भी तड़प–तड़पकर मरोगे।"

शायद ऊपरवाला हिसाब ठीक ही करता है। बालूरामजी अन्धे होकर मरे और बनवारी लालजी सेठिया अपने कमरे से बीस बरस तक बाहर नहीं निकल पाए। उनको फेफड़े की कोई खतरनाक बीमारी हो गई थी। उन्हें प्रायः ऑक्सीजन पर रहना पड़ता था।

दहशत भरी वह रात कभी भूली नहीं जा सकती। अम्मा एक–एक पाँचों हीरों के गहने खोल रही थीं। पास में केवल भगवती बाई थी।

"ले, ये लौंग–अँगूठी उठाकर रख। ताई को मालूम नहीं पड जा गहना खोला था।"

मैं हक्की–बक्की अम्मा के सामने खड़ी गीता से पूछ रही थी. " गीता हार्ट फेल क्या होता है ?" उत्तर मिला, "चुप रहो अभी।" सबह बोली भी आ गए। अखबार की सुर्खियों को पढ़कर सारा मारवाड़ी समाज स्तब्ध रहमान था। जो आदमी मुँह में सुपारी भी नहीं रखता था, उसकी ऐसी मौत ! जहरी बाबजी की मौत हई थी। मँझले चाचा गरजे, "हम भाईजी की मौत का बदला लेंगे।" पर कौन बदला ले पाता है ? और किसके अपराध का ? मुझे वह दिन कभी नहीं भूलता जब बाबूजी का शव ले जाया गया। वे अपने चारों भाइयों के कन्धों पर थे। पीछे–पीछे दोनों भैया और जीजाजी लोग। इतनी भीड़ ! सैकड़ों गाड़ियाँ। मैं खिड़की की सलाखें पकड़े स्तब्ध, सब कुछ देख रही थी। हम लोगों में कुँआरी लड़कियाँ श्मशान घाट नहीं जातीं। मैं और गीता पीछे अकेली रह गईं। मैं खुद से कह रही थी, 'नहीं, यह बाबूजी नहीं, बाबूजी को नहीं ले जाया गया। यह तो और किसी की मत देह है, चेहरा भी तो ढंका हआ है।'

"दाई माँ! दाई माँ! क्या बाबूजी लौट आएँगे? दाई माँ! जरूर वे लोग किसी और की लाश ले गए हैं। झूठी खबर है दाई माँ..." दाई माँ खुद रो–रोकर बेसुध हो रही थी।

"अरे भगवान! ई का किए? हमार देवता क ले गए? ई का न्याय किए?

"दाई माँ ने मुझे और गीता को नहलाया। रोते–रोते मैं सो गई थी। फिर रुलाइ की आवाज से नींद खुली। देखा, घाट से सब लौट आए हैं। डॉ. गांगुली अम्मा की नब्ज पकड़े बैठे थे और अम्मा बोलती जा रही थीं, "मैं बोलती हूँ गागुला बाबू ! उनका खून किया गया। वे देवता थे। उन्हें मार डाला जालिमा न। कसाइयों ने मेरा सुहाग लूट लिया।"

"भाभी ! शान्ति रखिए। हम लोग बदला लेंगे।" छोटे चाचा बोले।

"क्या बदला लोगे देवरजी ? मैं अब अपने बच्चों का पेट भरूँ या । घर–द्वार बेचकर मामला–मुकदमा लडें?"

हाँ, बहुत दिनों बाद कभी बातों ही बातों में भगवती बाई ने मुझे बताया । उस दिन अम्मा की आलमारी में कुल पाँच सौ रुपए थे। बाबूजी अचानक थे। सारा रुपया तो बालू ताऊजी की गद्दी में जमा था। और न जान। रुपएँ कहाँ कहाँ पड़े थे, किसी को मालूम ही नहीं था। काफी रुपया तो बाबूजी के जिगरी दोस्त बालू ताऊजी डकार गए।

''क्या होगा ? कल क्या होगा? कैसे मेरे बच्चे पलेंगे?" अम्मा बस एक ही बात सोचती रहतीं। बड़े चाचा ने कहा, "भाभी ! अब यह रईसी नहीं चलेगी। बडे बाजार चलकर रहो। यह दाई–नौकरों का ठाठ नहीं चलेगा।"

अम्मा की जिद्द, "मैं उनकी इज्जत मिट्टी में नहीं मिलाऊँगी। सब कुछ ऐसे ही चलेगा।"

"रुपया कहाँ से आएगा?"

"देनेवाला देगा। स्वर्ग में बैठे हुए क्या वे अपने बच्चों का इतना भी ख्याल नहीं रखेंगे"

अब तुम जैसी फूहड़ औरत को कौन क्या समझाए ?" बड़े चाचा नाराज हो गए।

''मामला–मुकदमा के लिए भी तो रुपया चाहिए?" ताऊजी ने अम्मा को समझाना चाहा।

ठंडे स्वर में अम्मा ने कहा, "मैं घराने की बेटी हूँ, कोई देहातन नहीं। मुझे अपने बच्चों को पालना है। मेरा अनमोल रतन लौटेगा तो नहीं। कसाइयों से बदला लेने के लिए मुझे कोट–कचहरी में पैसा नहीं फूंकना।"

"अरे भाभी ! हम लोगों के पास सारे सबूत हैं। उस साले सेठिया को फाँसी की सजा दिलवा सकते हैं। भाईजी हमारे खानदान की नाक थे।"

"देवरजी! वे मेरे देवता थे, पर मामला–मुकदमा मैं नहीं लड़ेंगी। क्या पता मेरे बेटों पर हाथ उठा दें?"

"तुम्हारे बच्चे अकेले हैं क्या ? हमारे कुछ नहीं लगते ? ठीक है, अब मैं बीच में नहीं बोलूंगा।" ताऊजी भी चुप हो गए। मामाजी ने अम्मा को सलाह दी, "बाई, तुम्हारे मकान की बगलवाली जमीन खाली पड़ी है। तुम अपने हीरों को तो बेच दो और एक मकान खड़ा करके किराए की व्यवस्था करो ताकि महीने के महीने रोटी–खर्चे की तो तम्हें चिन्ता नहीं करनी पड़े।"

"भाया, इतना रुपया मैं कहाँ से लाऊँगी?"

"बाई, सलाह तो लाख रुपए की मैंने दी। रुपया तो मेरे पास भी नहीं। तुम तो जानती हो, मेरा सोदपुर वाला कारखाना बन्द है।" कहकर मामाजी चुप हो गए।

"भाया! मैंने आपसे रुपया माँगा थोड़े ही था।"

उस रात बड़े भैया को सपने में बाबूजी दिखे और बोले कि बड़ीवाली तिजोरी का दाहिना ड्रॉअर खोलकर देखो। भैया हड़बड़ाकर उठे। अम्मा के पास बड़ीवाली तिजोरी खोली गई। दाहिने ड्रॉअर में एक बैंक की पासबुक थी । दस लाख रुपए जमा की रसीद थी और जिसमें बड़े भैया की सही भी चल म थी। सुबह पहले भैया ने बैंक से रुपया निकालकर चुपचाप दूसरे बैंक में जमा दिया। अम्मा ने अपनी हीरे की चारों चूड़ियाँ बेचीं। लौंग, अँगूठी भी बेच दान बाबूजी के श्राद्ध और छमाही तक कोई कसर नहीं रखी गई। वह एक उटा दिवाली थी, और दिवाली के बाद ही बगलवाला मकान बनना शुरू हो गया था।

पता नहीं क्यों आज इतने वर्षों बाद, यहाँ सीढ़ियों पर बैठी मैं अपनी स्मृतियों को टटोल रही हूँ। रोशनी के इस जादुई माहौल में यह शाम कितनी खूबसूरत लग रही थी। सितारे कैसे चटख–चटखकर खिलते जा रहे थे। दूर नारंगी रोशनी की उछलती हुई लहरें ! मैं फिर आँखों से सारे दृश्य को पीने लगती हूँ। यह पीना जरूरी है क्योंकि इसी नशे में मैं अपने अतीत के छिलके उतार पा रही हूँ... जैकसन हाइट की चौड़ी सड़कों पर गाड़ियाँ फर्राटे से निकल रही हैं, लेकिन फिर भी एक शान्ति है यहाँ। मेरे ख्यालों को एक झटका लगता है। क्या सोच रही थी अब तक?

हड्डियों के भीतर तक धंसे इस दर्द के बारे में सोच रही हूँ, पर इस दर्द का कोई इलाज नहीं, लेकिन मैं चुप तो नहीं रहूँगी, अपनी बात कहूँगी जरूर, हालांकि बार–बार कोई अदृश्य वहशी पंजा मेरे मुँह को दबोच लेता है और मैं दर्द से बिलबिला उठती हूँ।

कल रात मैंने बहुत दिनों बाद फिर वही सपना देखा। एक अजीब–सा सपना था। मैंने सपने में देखा–मैं एक बड़े कमरे में बन्द हूँ। और अचानक कोई मर ओर झपटता है। मैं एक छलाँग में होटल के कमरे से बाहर लॉबी में भागती चला जा रही हूँ। मुझे एक्जिट दिखता है। मैं धड़धड़ाती हुई घुमावदार सीढ़ियाँ उतरता चली जा रही हूँ, मानो दसों मंजिलें एक मिनट में मैंने तय कर ली हों। बुरी तरह हाँफ रही हूँ। नींद में भी एक गहरी

पीड़ा का अहसास लगता है जैसे मेरे सोने को कोई रस्सियों से बाँध रहा हो...फिर एक स्वीमिंग पूल...नहीं, यह तो हरिद्वार की गंगा है। पानी के तेज बहाव में ठहरना मुश्किल । अचानक मुझे एक छोटी लडकी दिखती हैकृचार–पाँच साल की। उसे तैरना नहीं आता। वह लहरों में दबकियाँ ले रही है। अरे! यह तो डूब रही है ! कहते हुए बड़े हौले से मैं उसे अपनी दोनों हथेलियों पर उल्टा लिटा देती हूँ। और वह तैरने लगती है। पानी बडे जा रहा है...पर वह बच्ची अब खिलखिलाकर हँसती है, 'आंटी : देखो में तैर रही हैं। मुझे एक अद्‌भुत आनन्द मिलता है। सुख की साँस लेकर कहती हैं, "हाँ बेटे ! ऐसे ही तैरा जाता है, तुम पहले गलत तैर रही थीं।

सुबह नींद खुली। अपने ख्यालों में खोई हुई मैं खिड़की से बाहर दूर–दूर तक हडसन नदी का फैलाव देखती हूँ। मैं फिर रात को देखे गए सपने के बारे में सोचती हूँ। मुझे अपने भीतर के द्वन्द्व से निकलना होगा। लेकिन कैसे? क्या अर्थ हो सकता है इस सपने का? कलकत्ता लौटकर कभी झरना बीउदी से पू.गी जरूर कि तुम्हारी साइक्रियाट्री में इस सपने का कौन–सा विश्लेषण होगा? क्या अब भी मेरे भीतर अतीत की वह दहशत जमी हुई है ? या फिर मैं जीवन में तैरना सीख गई हूँ?

बाबूजी की मृत्यु के समय में साढ़े नौ साल की थी। उनके जाने के बाद घर की गिरती हुई आर्थिक अवस्था का दबाव हम सब पर था। ऊपर से दिखावे के सारे आवरणों को, झालरों को, तोरणों से सजाकर यथास्थिति बनाए रखने की जी–जान से कोशिश में लगी हुईं अम्मा। एक ओर वे बड़ी कठोर और तिक्त हो गई थीं, तो दूसरी ओर कहीं अपने बच्चों के लिए बड़ी स्नेहिल।

मैं घंटों चुपचाप बरामदे के कोने में बैठी रहती। धुएँ भरा नीला आकाश बड़ा धुंधला लगता। मैं अब भी अपनी गौरेया से चुपचाप बातें किया करती। क्या पता फिर भैया लोग सुन लें। और फिर ये बातें तो मैं किसी से कर भी नहीं सकती थी। मैं गौरेया से पूछा करती–"बोल न! मेरी गौरेया कब आएँगे मेरे बाबूजी?" कभी स्कूल से लौटकर सीढ़ियाँ चढ़ती हुई सोचती–अभी बाबूजी गद्दीवाले कमरे में कान पर टेलीफोन लगाए मिल जाएँगे। पर नहीं, छह महीने में मुझे विश्वास होने लगा था कि बाबूजी सच में चले गए।

स्वभाव से अम्मा चिड़चिड़ी थीं। वैसे अम्मा के क्रोध का शिकार सबसे अधिक में होती। मुझे लगता–स्त्री होना मात्र अम्मा की नजर में पाप है, एक हीन स्थिति है, गुलामों का जत्था है जो बिना मालिक के जी नहीं पाएगा। एक मालिक असमय चले गए। सिंहासन खाली था। युवराज, बड़े भैया को युवराज के रूप में ही सबके सामने अम्मा ने रखा हुआ था, और अम्मा की आखिरी जिम्मेदारी गीता और मैं, दो लड़कियाँ थीं, जिनके ब्याह की चिन्ता उन्हें दिन–रात खाए जा रही थी। कैसे होगा, इन छोरियों का ब्याह, कहाँ से लाऊँगी इनक दायजा? गीता सुन्दर है, उसको तो फिर भी कोई ले जाएगा, लेकिन यह परभनी यानी प्रभा यानी मैं–अम्मा को मेरा चेहरा, मेरे लम्बे–लम्बे बाल, मेरा बढ़ता है कद, षरीद पर उभार और दसवाँ लगते ही पीरियड्स का शुरू हो जाना, कछ भी तो नहीं सुहाता। "ठीक से चलो, क्या पैरों की धम–धम आवाज करती चलती हो ? शऊर से बैठ. ..कूबड़ क्यों निकाल लेती हो ? क्या खो–खो लगा रखी है, खाँस रही हो तो खाँसे ही जा रही हो..." और यदि मैं खाँसी दबाने की कोशिश करती तो, "क्या गाय की तरह गरगरा रही है...?"

मुझे आज भी याद है। अम्मा की पानी पीने की काँच की एक केटली थी. बड़ी नफीस–सी जो मेरे हाथों गिरकर टूट गई। उनका चिल्लाकर पूछना, "अरे क्या तोड़ा ?" और तब तक मैं भागकर पीछेवाले बरामदे में, एकदम रेलिंग के ऊपर चढ़ गई। रेलिंग के इस ओर एक पैर तथा दूसरा पैर उठने की तैयारी में। मैंने नीचे झाँककर देखा, पथरीली जमीन थी। मैं मर जाऊँगी? अच्छा होगा लेकिन मेरे मरने पर कौन रोएगा ? केवल दाई माँ और शायद गीता और पुष्पा... नहीं किशन भी। बाबूजी रहे नहीं और अम्मा, वे तो मेरे मरने पर बेहद खुद होंगी। बरामदे की रेलिंग पर बैठी एक पैर बाहर की ओर झुलाए हुए मैं सोचे चले जा रही थी। अच्छा, मैं जाऊँगी कहाँ ? किस लोक में, क्या बाबूजी के पास ? बाबूजी तो स्वर्ग में हैं, और दाई माँ कहती हैं कि जो आत्महत्या करके मरते हैं, वे ही प्रेत हो जाते हैं। तब तक... चले बरामदे की रेलिंग पर नहीं और अम्मा, शायद गीता और वे ही प्रेत स्वर में हैं, और दा कहाँ ? किस लोकरार झुलाए हए में

"अरी दइया री, ई का करत हो मोर बिटिया...?" दाई माँ ने दौड़ते हुए आकर मुझे खींचकर उतारा।

आज सोचती हूँ तो लगता है कि कैसा अनाथ और असहाय बचपन था। लेकिन अम्मा भी मेरी तरह असहाय और अकेली थीं। इसलिए अम्मा निरन्तर किसी–न–किसी को पास बैठाए रहतीं या फिर फोन पर बातें करती रहतीं। मुझे अम्मा की जैसी जिन्दगी नहीं चाहिए। अम्मा कहतीं, उन्हें जिन्दगी मैं क्या मिला। ज्यादा बच्चों के कारण औरत का शरीर खोखला हो जाता है। पहले बच्चों का करो, फिर उनके बच्चों का करो। अम्मा का इशारा बड़ी दीदी के लड़के–लड़का, किशन और पुष्पा की तरफ होता या फिर भगवती बाई के बच्चों की ओर। आए दिन के तीज–त्यौहार, बेटियों के ससुराल नेग भेजना...आज यह तो कल वह न खर्चे का कोई अन्त नहीं।

एक शाम मुझे याद है। वैसे बचपन में अनेक शामें इसी तरह बीतती थी छुट्टियों की हर दुपहरिया अम्मा को समर्पित करनी पड़ती थी। पास बैठो, सजग रहो। न जाने अम्मा को कब किस बात की जरूरत पड़ जाए ? हाँ, तो शाम हो रही थी। पीछेवाले बरामदे में अम्मा अपनी कुर्सी पर बैठी थीं। बगल में मोढ़े पर बैठी भगवती बाई स्वेटर बुन रही थीं। नीचे से गीता, पुष्पा और किशन की आवाजें आ रही थीं। साथ में पड़ोस के और बच्चे । हवा के झोंकों के साथ आवाजें कानों से टकरा रही थीं..."आलकी पालकी जय कन्हैया लाल की..."

"अम्मा ! मैं खेलने जाऊँ ?"

"क्या एक दिन खेले बिना जान निकल जाएगी ?"

भाटा, पत्थर, बोकी, गधी, भंगन उपाधियों से विभूषित होकर मैं कपड़े बदलने गई। समझ में आया कि पीरियड्स हो गए हैं। हाय ! अभी यदि अम्मा से कहूँगी तो वापस चार बोल और सुनने को मिलेंगे। पर एक राहत थी कि चलो आज का दिन पहला दिन कहलाएगा और परसों तीसरे दिन सर से नहा लूँगी। कुल–मिलाकर कल का ही दिन तो अलग बैठना होगा ? डरते–डरते अम्मा से कहा, "अम्मा ! मुझे पीरियड्स..."

बस, एक भयानक विस्फोट था। "मरणजोगी ! आज ही तुझे यह सब होना था... ? कल तेरे बाबूजी की बरशोदी (वार्षिकी) है। ताई–चाची सब आएँगी और ताई की गिद्ध दृष्टि

से कुछ छिप नहीं सकता–भगवती, यह तो साढ़े दस की उमर में ही चौदह की लगने लगी।" अम्मा ने असहाय भाव से भगवती बाई की ओर देखा। बाई धीमे स्वर में अम्मा से कुछ कह रही थी। उनकी बातें मेरे कानों में नहीं उतर रही थीं। मैं कुछ नहीं सुन पा रही थी। बस भीतर कुछ उमड़–उमड़कर पूछ रहा था। इसमें मेरा अपराध क्या है अम्मा ? तुम बोलो मेरा अपराध क्या है ? पर बिना अपराध के भी अपराधबोध । अपनी ही मासूमियत खोने की यह कैसी निर्मम सजा मुझे मिल रही है ? दूसरे दिन, सुबह से शाम तक पीछेवाले बरामदे में बन्द रहना पड़ा। बीच में एक बार बाई दाई माँ चुपचाप आकर खाने की थाली सरका गई, "खा ले बिटिया, अउर इ तनिक चूल्हा के राख ले, इसमें मल दियो, बाद में आऊब।"

"दाई माँ ! बाथरूम जाना है।"

"अरे मोर बिटिया, एतना लोगन के बीच हम कईसे तोहके ले जाईं ? बहूजी तो हमके चीरकर रख देइहँ। तनिक धीरज धर बिटिया। तोहर ताईजी अउर बुआजी के जाते ही हम तोहके छत पर ले जाऊब।"

वह भादों की उमस भरी दुपहरिया और चुपचाप बैठे रहना। सारा अस्तित्व हिचकोले खा रहा था। अम्मा मेरा अपराध क्या है ? क्या महीने–के–महीने टाँगों के बीच रिसता हुआ खून मुझे अच्छा लगता है ? और इसके की कैसी अजीब–सी आत्मग्लानि, अपराधबोध से मन खारा क्यों हो जाता गीता को तो अभी तक कुछ नहीं हुआ। फिर मुझे ही क्यों ? पाँच बजे शाम दाई माँ ने बरामदे का दरवाजा खोला। अम्मा ने धीरे से हिदायत दी – पूर–पल्ला धोकर फेंकना, किसी की नजर नहीं पड़े।" गीता, किशन. पण छोटे भैया मोनोपली खेल रहे थे। किशन ने मुझे देखते ही चिढ़ाया. "अछूत कन्या...अछूत कन्या !" शर्म से सारा शरीर झुक गया। तो इन लोगों को भी मालूम था ! छत पर फिर एक करमकांड। खून से सने कपडे को धोना।

"दाई माँ! यह मेरे शरीर से हर महीने खून क्यों निकलता है?"

"तू जरा जल्दी बड़ी हो गई बिटिया!''

"क्यों दाई माँ?"

"अब हम का बताईं?" दाई माँ की असहाय ठंडी साँस थी।

उस दिन की उस घटना से भी तो पैंटी में खून लगा था ? मेरा सारा शरीर थर्रा उठा। सर के ऊपर से एक झोंक कव्वों का काँव–काँव करता हुआ निकल गया। मैं खामोश, नल के नीचे रखे हुए खून से भरे हुए कपड़े को देख रही थी। पानी के साथ नाली की ओर बहता हुआ गाढ़ा खून। और अब इस कपड़े को साबुन से धोकर सुखाना होगा।

"दाई माँ ! अम्मा मुझसे चिढ़ती क्यों हैं ? क्या इसीलिए... ?"

"ई तो कहो कि शहर है, हमार गाँव में तो बियाह के पहिले कवनों लड़की का ई महीना सुरू हो जाय तो माँ–बाप का सर पर पाप का बोझ बढ़त अपराध?

पाप ? क्या हर लड़की, हर महीने पाप का बोझ बढ़ाती है? उस दिन पूरा बात समझ में नहीं आई थी। बस जीवन में कहीं कुछ बहुत गलत घट गया। अपराध? पाप? नहीं तो

अम्मा मुझसे इतनी नफरत नहीं करतीं। उन्हें मेरा कुछ भी क्यों नहीं अच्छा लगता? जरा–सी हरारत, हल्की–सी खाँसी और उनक दिन से चिनगारियाँ क्यों फटने लगती हैं। कहीं कछ शॉर्ट सर्किट हो जाता है। भगवान ! मेरी माँ मुझसे क्यों इतनी घृणा करती हैं? मेरा कद लम्बा क्या हा जा रहा ह? मेरे दाँत बाहर क्यों निकलते हुए हैं? अम्मा इतनी गोरी, बाबू इतने गोरे थे। दोनों भैया लोग, जीजी लोग भी गोरे. फिर खाली मेरा रंग साप क्यों? हाँ, बड़ी जीजी का रंग भी थोड़ा दबता हआ है, पर मुझसे वे सा बाहरवालों को चाय का कप पकडाते हए मेरे हाथ काँपने क्यों लगते हैं? पर मुझसे वे साफ हैं। अपने क्यों लगते हैं ? चलते समय पैरों की धमधम आवाज क्यों होती है ? मैं हमेशा उस परी की कल्पना करती जो अपनी जादुई छड़ी से मुझे छूकर सिंड्रेला बना देगी। मगर नहीं, याद नहीं आता कि बचपन में मैं कभी उनकी गोद में सर रखकर सोई हूँ। लेकिन आज अपनी माँ का दर्द समझती हूँ। बहुत दुख झेला था मेरी माँ ने। चालीस की उम्र में विधवा हो जाना, सफेद साड़ी में जिन्दगी बिताना क्या अम्मा को रुचिकर था ? अम्मा के वे गहने, वे बनारसी साड़ियाँ, बाबूजी के बिना तमाम सामाजिक दबावों को झेलती हुईं अम्मा ! वे तो खुद विद्रोही थीं, औरत होने की नियति को अस्वीकारती हुईं। बहुत याद आती हैं वे ! भूख लगती, पेट में दर्द होता, कहीं गिर–पड़ जाती, घुटने छिलते अम्मा की एक ही आवाज चमेलिया की माँ को पुकारती हुई, "जा, ले जा अपनी बेटी को। तू ही कर इसकी दवा–दारू।" यह दाई माँ का काम था कि मुझे खाना खिलाए, खाँसी हो तो पान का रस पिलाए। यह दाई माँ थी जो बुखार होने पर रात–रात–भर मेरे सिरहाने बैठी रहती और यदि दो–तीन दिनों में बुखार नहीं उतरे तो जाकर अम्मा के सामने रिरियाए, "ए बहूजी ! तनिक गांगुली बाबू को बुलाय देव। हमार बिटिया के लिए तोहार मन में तिनिको दरद नाहीं ? अभी गीता बाई के जरा–सी खाँसी को जहिए तो तुम मिनट–भर में डॉक्टर बुला लेत हो।"

मैं बड़ी हो रही थी। दाई माँ के पास मेरा मन उतना नहीं लगता था। मेरे पास अब किताबें थीं और थीं मेरी सहेलियाँ । दाई माँ अब साल में दो बार महीने–भर के लिए घर भी हो आती। बस रात को मेरी चोटी किए बिना और मेरे तलवों में तेल लगाए बिना दाई माँ की ममता नहीं मानती।

ग्यारहवीं कक्षा के बाद एक–एक कर मेरी सहेलियों की शादी होने लगी। सबसे पहले उषा इन्दौर चली गई। वन्दना बम्बई चली गई। विधु पढ़ने के लिए दिल्ली। और सुधा की भी शादी हो गई थी। ज्यादातर मारवाड़ी सहेलियों की षादियाँ हो गई थीं। एक मैं ही अकेली मारवाड़ी लड़की थी जिसने प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया था। नई सहेलियाँ, नया माहौल, प्रेसिडेंसी कॉलेज, जहाँ लड़के–लड़की साथ पढ़ते। विद्वान प्रोफेसर। पहली बार लगा कि बालीगंज सदन में मेरी बहनजी लोग कितना कम जानती थीं ! स्कूल तो मेरा घर था की दुनिया में तो मैंने अब कदम रखा है।

एक बार मैं फिर सड़क के दूसरी ओर देखती हूँ। वहाँ खरीदारी का षोर है। सुरज खो गया शहर के उफनते फेनिल षोर–शराबे में और शाम न्यूयॉर्क की शाम अभी तक पूरी तरह डूबी नहीं है। मैं स्तम्भित–सी अचानक सड़क पर नीले और लाल रंगों का छिड़काव देखने लगती हूँ। गोधूलि वेला और लाल बत्ती के जलते ही तेज रफ्तार से दौड़ती हुई गाड़ियों का रुकना और फिर थोड़ा दम लेकर अजाने निकलती हुई साँसों के साथ हवाओं का आँचल पकड़ क्षितिज की ओर दौड़ जाना, मुझे और अकेला कर जाता है। मेरे भीतर

एक आदिम वेदना सिसक उठती है। आखिर इतना भी क्या गुस्सा कि यों बीच बाजार में मुझे अकेला छोड़ डॉक्टर साहब चले गए। मैं वापस होटल भी नहीं लौट सकती, सारे पैसे तो उनके पास जो थे।

एक ठंडी साँस के साथ मेरी आँखें दूर अँधेरे में कुछ टटोलने लगती हैं। स्मृतियों का एक पर एक मन की सतह पर तैरना। पहले क्या सोचूँ? और किस पीछे ढकेलूँ?

ग्यारहवीं की परीक्षा हो गई थी, रिजल्ट भी अच्छा आया।

"आगे क्या पढ़ोगी?"

"दर्शन।"

"कहाँ पर?"

"प्रेसिडेंसी कॉलेज में। आज के दिन हिन्दुस्तान के अग्रणी कॉलेजों में से एक है।''

"लड़कों के साथ ?" भैया लोगों ने मेरा सारा उत्साह धाराशायी कर दिया था।

लेकिन गीता भी तो मेडिकल कॉलेज में लड़कों के साथ पढ़ रही है फिर मैं ही क्यों पीछे रहूँ ? और बड़ी बहनजी ने कल ही कहा था, "और मारवाड़ी लड़कियों की तरह शादी करके घर में मत बैठ जाना।"

"लेकिन घरवाले मानेंगे नहीं।"

"क्यों नहीं मानेंगे ? तुम उन्हें समझाओ।"

खैर, प्रेसिडेंसी कॉलेज में पहले दिन दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर, डॉ. प्रभाश जीवन चौधरी ने कहा– "इस क्लास में कभी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी पढ़ा करते थे। ' तुम लोग उस परम्परा की अगली कड़ी हो।"

"परम्परा? बंगाल में तुम मारवाड़ियों की कोई परम्परा नहीं। तुम तो बाहर से आए हो। लोटा–कम्बल लेकर आए और हमारे बंगाल को लूट–लूटकर इतनी–इतनी बड़ी मिल्कियत खड़ी कर ली।" अनिता ने मुझसे कहा।

मैंने अपने संगी–साथियों की ओर आँख उठाकर देखा। सभी तो बंगाली हैं। तब फिर मेरा देश कौन–सा है, राजस्थान? क्या होता है मेरे देश में? ज्वार–बाजरा और मोठ!

"छिः वह भी कोई खाने का अनाज है?"

"यह सब तो गाय–भैंस को खिलाने की चीज हैं।"

"तुम मारवाड़ी नहीं लगतीं।" उनमें से कुछ का कहना था। साथ पढ़नेवाले लड़के–लड़कियों में से कुछेक ने दोस्ती का हाथ बढ़ाया। हाँ, मैं मारवाड़ी हूँ कोई मिसफिट नहीं। मैंने अपने टुकड़ों को जोड़ लिया है, बिलकुल साबुत हूँ। तुम लोगों को मेरे जैसों की जरूरत है, तुम लोग मुझे मिसफिट बनाए रखना चाहते हो ताकि अपने भीतर मैं तुम्हारी दिए हुए प्रेम और घृणा झेलती रहूँ।

"तुम बुरा मान गईं ? अच्छा ! अब हम तुम्हें मेड़ो नहीं कहेंगे।"

लेकिन उनमें से एक लड़का प्रायः कहता रहता–"तुम मारवाड़ियों के कारण हमारा बंगाल खाक हो गया। एक दिन देखना गंगा का पानी लाल हो जाएगा तुम्हारे लहू से। तुमने देखा दीवारों पर क्या लिखा है ? 'आमरा बंगाली'।"

शुभा सेन के पिता भी तो बंगाली हैं मगर वे तो मुझे बहुत पसन्द करते हैं,

वे तो कहते हैं, "मेरा छोटा भाई होता तो तुम्हारी शादी उससे करता।"

"क्या बंगाली समाज मुझे स्वीकारेगा?"

"हाँ, क्यों नहीं? तुम्हें हमारे साँचे में ढलना होगा।"

पर अम्मा? वे तो किसी बंगाली को स्वीकारने से रहीं। उन्हें तो आँखों देखे नहीं सुहाते।

अम्मा नहीं चाहतीं कि मैं इन बंगालियों जैसी बनूँ। उनका कहना है सबसे शादी करना मगर किसी बंगाली से नहीं। शुभा गुड़ के सन्देश लाई अम्मा ने नाक पर कपड़ा रख लिया, "नहीं हम नहीं खाएँगे, मछली की बू आती है।''

वैसे कॉलेज में मेरे अपने बंगाली दोस्तों की आँखों में मेरे प्रति छुपी ईर्ष्या मिश्रित सम्मान था क्योंकि मैं खेतान हाउस की लड़की थी। नहीं, मैं मारवाड़ी नहीं मेड़ो थी। उन लोगों जैसी बिलकुल नहीं। मैं भरसक चेष्टा करती कि मैं मारवाडी नहीं बंगाली दिखूं। अपनी मारवाड़ी पहचान को मैं रगड़–रगड़कर मिटाने लगी थी। पर पेंसिल से खींची गई लकीरों, अक्षरों एवं तस्वीरों को ठीक से मिटाना सम्भव नहीं था। उन दिनों तो रबर की क्वालिटी भी अच्छी नहीं हुआ करती थी, धीरे से मिटाओ तो दाग रह जाता, जोर से मिटाओ तो कागज फट जाता। पर पुझे अपने आपको मारवाड़ी कहने में षरम आती थी। मुझे तो क्लास की अन्य लड़कियों जैसा होना था।

जिस मारवाड़ी को लोग पसन्द नहीं करते उसे मैं क्यों पसन्द करूँ? मैंने भी मारवाड़ी भोजन, पोशाक, बोली सबका खुलकर मजाक बनाना शुरू किया। हम मारवाड़ियों की गलती है कि बंगाल में रहकर भी, बंगाल को नहीं अपनाते। मुझ मेड़ो नहीं बनना, मेड़ो से ब्याह भी नहीं करना।

साठ के दशक तक बंगाली बुर्जुवा और जमींदारों का भद्र समाज कमजोर पड़ रहा था। स्थानीय बंगालियों का पुश्तैनी धन्धा मारवाड़ी निगलते जा रहे थे। चाय बगान, कोयले की खान, टैक्समैको, हिन्द मोटर सभी व्यावसायिक प्रतिष्ठान मारवाड़ियों के ही थे। कभी–कभी घर में भैया लोगों की आपस में बात स्वीकारेंगे।"

होती..."कितनी भी चेष्टा क्यों न करो मगर बंगाल में हम मारवाड़ियों का नहीं स्वीकारेंगे।''

दूसरी ओर बंगाली समाज की निरन्तर शिकायत थी कि हमारे सोनार बा को पहले अंग्रेजों ने लूटा और अब मारवाड़ी लूट रहे हैं। तब क्या मैं लुटरा सन्तान हूँ? लेकिन मैंने तो अपने पिता को, भाइयों को रात–दिन मेहनत देखा है। मारवाड़ियों का कहना था कि भात–मछली खाने वाले आलसी बंगाली भला इनसे बंगाल का व्यवसाय चलेगा?

हाँ, यह अलग बात है कि क्लास में बंगाली माहौल में मैं अकेली पड़ जाती है और मैं अपनी मारवाड़ी पहचान को झेलने में बिलकुल असमर्थ हो जाती। अच्छा होगा कि मैं औरों की तरह दिखू, उनके जैसी बन जाऊँ।

मैं बहुत–से मारवाड़ियों को जानती हूँ जो बंगाल से जुड़ना चाहते हैं। जो बंगाली समाज से दोस्ती का हाथ बढ़ा रहे हैं। पर मेरी नजर में उनकी भी स्थिति आदर्श नहीं थी। ये समाज सुधारक तो दोनों ओर से मार खा रहे हैं। एक ओर पारम्परिक मारवाड़ी घराने उन्हें षक की निगाहों से देखते तो दूसरी ओर मुझ जैसों को वे ज्यादा समझौता परायण लगते।

वैसें कॉलेज में मेरे लिए दुनिया खुलती जा रही थी। एक बड़ी गहरी बात मन के भीतर बैठी हुई थी। मुझे अम्मा को तरह नहीं होना, कभी नहीं। भाभी की घुटन भरी जिन्दगी की नियति मैं कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। मैं अपने जीवन को आँसुओं में नहीं बहा सकती। क्या एक बूँद आँसू में स्त्री का सारा ब्रह्मांड समा जाए? क्यों? किसलिए? रोना और केवल रोना, आँसुओं का समन्दर, आँसुओं का दरिया और तैरते रहो तुम। अम्मा, जीजी, भाभीजी, ताई, चाचियाँ क्या सभी रोने के लिए पैदा हुईं। यहाँ तक कि स्कूल की मेरी शिक्षिकाएँ, जिनकी ओर कभी मैंने बड़ी ललक से देखा था, जो मेरे जीवन में प्रेरणा स्रोत रही थीं, वे भी तो आँसुओं से इसी समन्दर को भरे चले जा रही थीं। स्कूल की हेड मिस्ट्रेस पुष्पमयी बसु को मैंने प्रायः उदास और दुखी पाया। वे अकेली थीं। लेकिन मन्नू भंडारी, जिन्होंने मुझे चौथी से ग्यारहवीं तक पढ़ाया, साहित्य की दुनिया में जिनके कदमों की छाप पर मैंने चलना चाहा वे भी कहाँ इन आँसुओं की नियति से मुक्त हो पा रही थीं ? राजेन्द्र यादव को उन्होंने जीवन साथी के रूप में स्वीकारा था लेकिन शादी के बाद एक दिन मन्नूजी ने रोते–रोते अपने पति–परमेश्वर के कारनामे सुनाए। ऐसे दगाबाज आदमी पर मुझे बेहद गुस्सा आया था। अपनी इस माँ जैसी शिक्षिका को मैंने पहली बार रोते हुए देखा था। गलत पुरुष के हाथ में पड़कर औरत कितनी असहाय (Vulnerable) हो जाती है, यह भी उसी दिन समझा था। उस दिन जब मैं मन्नूजी के सीआईटी रोड वाले घर से निकली तो राजेन्द्र यादव साथ हो लिए। सीआईटी रोड से गरियाहाट तक बस में बैठे–बैठे वे मुझे प्रतिक्रिया और क्रान्ति का फर्क समझाते रहे थे। अपने स्थायी और अस्थायी सम्बन्धों के पक्ष में दलीलें देते रहे थे। पर उन दलीलों का मेरे ऊपर कोई असर नहीं हुआ। मेरा जी दुखी था। काफी लम्बे समय के पश्चात् ही यादवजी से मेरा व्यवहार सहज हो पाया।

9.5 'अन्या से अनन्या' की अंतर्वस्तु

'अन्या से अनन्या' प्रभा खेतान की आत्मकथा है। इसमें उन्होंने अपने जीवन की कथा को ईमानदारी और साहसपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है। इस आत्मकथा को केवल मनोरंजन या एक कथा या उपन्यास की दृष्टि से पढ़ने पर लेखिका के लिए सही न्याय नहीं हो सकेगा। किसी भी आत्मकथा को एक व्यक्ति के जीवन की कथा समझकर पढ़ना और फिर उसमें न्याय की तलाश करना ही पाठक का उद्देश्य होना चाहिए।

9.5.1 'अन्या से अनन्या' का सारांश

'अन्या से अनन्या' प्रभा खेतान के जीवन संघर्ष की कहानी है। प्रभा खेतान एक पारंपरिक मारवाड़ी परिवार में जन्मी लड़की थी। अपने घर में पाँचवें नम्बर की बेटी थी। वह भी काली, उम्र से बड़ी दिखने वाली और जिसे किसी चीज का सुरुर नहीं था। वह अपने पिता की लाड़ली बेटी थी। नौ वर्ष की अवस्था में ही इनके पिता की मृत्यु हो गई। पिता

के जाने के बाद वह प्रेम के लिए तरसने लगी। बात–बात पर उनकी माता पुरनो देवी, प्रभा को डाँटा करती थीं। घर में छोटी होने के कारण उसे दाई माँ ही सम्भाला करती थी। दाई माँ की वह लाड़ली थी परन्तु अपनी माँ से उन्हें कभी प्रेम प्राप्त नहीं हो सका। इस कारण प्रभा का बचपन अकेलेपन और एकांत में अधिक बीता। बाल्यावस्था में उनके अपने भाई ने ही उनके साथ शारीरिक दुर्व्यवहार किया था, जिसका खामयाजा यह हुआ कि वह खामोश और डरी हुई रहने लगीं। जैसे–जैसे बड़ी हुई उनका मन पढ़ने में अधिक लगता गया। प्रभा उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थीं परन्तु उनके अपने भाई ने प्रभा को पढ़ाई के लिए पैसे देने से इनकार कर दिया। तब प्रभा ने बच्चों को ट्यूशन पढ़ाकर अपने कॉलेज की परीक्षा फीस जमा की। इसी दौरान उनकी आँखों में तकलीफ हुई और वे आँखों का इलाज कराने डॉ. सराफ के पास गई। वहीं से प्रेम का सिलसिला प्रारंभ हुआ। डॉ. सराफ ने प्रभा की आँखों की तारीफ की। उनकी मीठी–मीठी प्रेमभरी बातों के कारण धीरे–धीरे वे डॉक्टर के करीब आती गईं और प्रभा भी अपनी भावनाओं में बहती चली गईं। अंजाम यह हुआ कि प्रभा खेतान को डॉ. सराफ से प्रेम हो गया और वे गर्भवती भी हो गईं। जिस लड़की को बचपन से कभी प्रेम, अपनापन, तारीफ के दो शब्द और हमदर्दी नहीं मिली हो, उसे अचानक कोई मिल जाए तो उसके लिए स्वयं को रोक पाना मुश्किल हो जाता है। यही स्थिति प्रभा खेतान की रही। शिक्षा और अध्ययन के दौरान प्रभा दर्शनशास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित थीं। दर्शन का यही प्रभाव डॉ. सर्राफ के प्रति आकर्षण और प्रेम का कारण बना।

चूंकि डॉ. सराफ विवाहित और पाँच बच्चों के पिता थे। वे प्रभा खेतान से विवाह नहीं कर सकते थे। डॉ. सराफ ने प्रभा पर प्रेम एवं आकर्षण का सारा दोष मढ़ दिया। बाद में प्रभा खेतान ने अपना गर्भपात भी करवाया और यह भी स्वीकार कर लिया कि वे आजीवन डॉ. सराफ से प्रेम करती रहेंगी और अविवाहित रहेंगी। परिणाम यह हुआ कि आजीवन प्रभा खेतान को परिवार और समाज में उपेक्षा का दंश सहन करना पड़ा। किन्तु प्रभा खेतान ने सबकुछ सहन किया और अपने प्रेम को आजीवन निभाती रहीं। वे जीवन में कुछ करना चाहती थीं, कुछ बनना चाहती थीं, आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहती थीं इसलिए वे जीवन में इन सबके बावजूद आगे बढ़ीं। डॉ. सर्राफ के पैसों की कुछ मदद से वे न्यूयार्क गईं।

इस कथा में प्रभा खेतान ने अपने से अठ्ठारह वर्ष बड़े विवाहित व्यक्ति से प्रेम किया जो कि पाँच बच्चों के पिता थे। इनका यह संबंध अठ्ठाईस वर्षों का रहा। डॉ. सर्राफ ने प्रभा को अपनी पुरुष सत्ता में जकड़ रखा था। यहाँ तक कि वे प्रभा और प्रभा के द्वारा कमाए पैसों पर भी अपना अधिकार समझते थे। अपने इस संबंध से प्रभा खेतान को कभी सुख, शांति और सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। वे इस संबंध में सदैव मानसिक द्वन्द्व से जूझती रहीं। उन्होंने लांस एंजेल्स से ब्यूटी थेरापी का कोर्स किया। नौकरी तथा व्यवसाय के सिलसिले में वे दुनिया के बहुत से शहरों में गईं और इस बीच अपने भारतीय संस्कारों और अपनी स्मृतियों को उन्होंने सदैव जीवित रखा। दुनिया की अलग–अलग औरतों को देखा, समझा और उनसे सीखा भी। इनके जीवन में अन्य महत्त्वपूर्ण महिलाएँ आई.वी. युंग, आइलिन, कैथी, मिसेस डी, मिसेस सर्राफ, मरील आदि रही हैं। भारत आकर बाद में उन्होंने चमड़े के निर्यात का व्यापार प्रारंभ किया। डॉ. सर्राफ की मृत्यु के बाद वह और भी अकेली हो गईं। उन्होंने अपने जीवन में संघर्ष करते हुए आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त की। लेखन के क्षेत्र में भी वे सक्रिय रही हैं।

किसी भी आत्मकथा में पाठक को लेखक के संघर्ष और मिलने वाली उपलब्धियों से प्रेरणा लेनी चाहिए ना कि आत्मकथा में केवल लेखक के चरित्रों की पड़ताल करनी चाहिए। किसी के जीवन को, उसके अंतरंग पक्षों को समझने का प्रयास करना चाहिए। एक संवेदनशील पाठक के लिए आवश्यक है कि एक स्त्री के जीवन को उसके द्वारा लिखी हुई बातों के आधार पर समझें। अच्छी आत्मकथा व्यक्तिगत जीवन गाथा के साथ, उस समय के सामाजिक, राजनैतिक और आम आदमी के सुख–दुख को भी प्रतिबिंबित करती है।

9.5.2 'अन्या से अनन्या' (पृष्ठ 28–42 तक) की अंतर्वस्तु

प्रभा खेतान एक बड़ी उद्योगपति हैं। अपने व्यापार के सिलसिले में न्यूयार्क शहर आई हुई हैं। वह कहती हैं कि इतने वर्षों बाद न्यूयार्क शहर के जैकसन हाइट की सीढ़ियों पर बैठी अपनी स्मृतियों को टटोल रही हूँ। वहाँ इतनी रोशनी है जैसे कोई जादुई माहौल है और यह शाम बहुत ही खूबसूरत लग रही है। आसमान में सितारे एक–एक कर चमकते जा रहे हैं। दूर नारंगी रोशनी की किरणें जैसे मैं आंखों से पीने लगी हूँ। यह चकाचौंध मेरे लिए एक नशे के समान है जिसमें मैं अपनी पुरानी यादों को फिर से उतार पा रही हूँ अपने भीतर। जैकसन हाइट की चौड़ी सड़कों पर फर्राटे से गाड़ियाँ निकल रही हैं लेकिन फिर भी एक शांति है यहाँ पर। फिर मेरे ख्यालों को एक झटका लगा कि अब तक क्या सोच रही थी मैं।

प्रभा खेतान अपनी पुरानी स्मृतियों को याद करते हुए उन सभी अवसादमय पलों को याद कर रही हैं, जहाँ अपने ही परिवार के भीतर उन्होंने जीवन के तमाम उपेक्षित, कुंठित, अकेलेपन में आँसू बहाये हैं। जैसे– नौ वर्ष की बाल्यावस्था में प्रेम के अभाव भरे क्षणों में उन्होंने कैसा जीवन जीया है, घर की स्थितियाँ कैसी रहीं, पिता की मृत्यु और माँ पर जिम्मेदारियों का कैसे पहाड़ टूट पड़ा, माँ को कैसे अपने सारे गहने बेचने पड़े, एक संयुक्त मारवाड़ी परिवार की क्या ठाठ–बाट होती है और जब पति की मृत्यु हो जाए तब एक स्त्री की क्या परिस्थितियाँ हो जाती हैं, समाज और अपने ही रिश्तेदार कैसी–कैसी बातें करते हैं।

अनाथ बचपन था, जहाँ सब हैं परन्तु प्रभा के लिए प्रेम किसी के दिल में नहीं, केवल एक दाई माँ थी जो प्रभा का सुबह से रात तक ख्याल रखती थी। माँ के प्रेम को तरसती प्रभा की आंखें थीं और अकेलापन था, जो आजीवन साथ रहा। बचपन में प्रभा के अनेक बाहरी रूप, रंग, काम–धाम और शरीर को लेकर उनकी माँ सदैव डाँटती रहती। कभी–कभी माँ स्त्री जीवन को लेकर भी सीख दे जाती जैसे हम जैसी कभी नहीं बनना, बच्चे पैदा करते रह गई, आखिर क्या मिला जीवन में। शरीर खोखला हो जाता है इतने बच्चे पैदा करने में। माँ कहती तुम लोग पढ़ना–लिखना और खूब पैसे कमाना। तब से प्रभा ने यह सोच लिया था कि माँ की तरह नहीं बनना है।

लेखिका बचपन की छोटी–छोटी बातें याद करतीं। जैसे – स्कूल जाने में देरी हो जाती मेरा नया जूता गीता पहन लेती और वापस नहीं करती, कभी बस छूट जाती, माँ की डाँट, एकांत में चिड़ियों से बातें करने पर छोटे भैया द्वारा चिढ़ाना, व्यापार में घाटा और दुश्मनों द्वारा पिता को जहर देकर मार डालना, माँ का विधवा होना और अकेलापन, बड़े भाई का आना, पीरियेड का होना और ऐसा अपराध बोध कि पूछो मत, गणगौर की पूजा में डर के कारण गलती से गणगौर का सिर उल्टा रखा जाना, भाग जाने के कारण गीता का बच

जाना लेकिन प्रभा की पिटाई आदि अनेक बातें जो उन्हें एक–एक कर याद आने लगती हैं।

प्रभा खेतान के अंदर जो दर्द समाया हुआ है वह उनकी हड्डियों के भीतर तक धंस चुका है और इस दर्द का कोई इलाज नहीं है लेकिन वे कहती हैं फिर भी मैं चुप नहीं रहूँगी, अपनी बात कहूँगी जरूर। हालांकि वे कहती हैं कि "बार–बार कोई अदृश्य वहशी पंजा मेरे मुँह को दबोच रहा है और मैं दर्द से बिलबिला उठती हूँ।" प्रभा खेतान आज विशिष्ट ऊँचाई पर हैं। आज वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर भी मानसिक रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। न्यूयार्क जैसे शहर में होने पर भी उनकी पुरानी स्मृतियों में उपेक्षा, घृणा, कुंठा, प्रेम का अभाव जैसी अनेक परछाइयाँ उनका पीछा नहीं छोड़ रही हैं।

न्यूयार्क में शाम होने ही वाली थी। इसी बीच गोधूलि बेला और लाल बत्ती के जलते ही, गाड़ियों की रफ्तार के बीच प्रभा खेतान बिलकुल अकेली हो गई थीं, क्योंकि डॉ. साहब उन्हें छोड़कर वहाँ से चले गए थे। चमड़े का व्यापार करने वाली प्रभा खेतान अपने व्यापार के लिए एक कीमती बैग खरीदती हैं और डॉक्टर साहब उस पर बहुत गुस्सा करते हैं कि क्या जरूरत है इतना कीमती बैग खरीदने की। वह यह स्पष्ट भी करती हैं कि उसे इस बैग का उपयोग व्यापार के लिए करना है किन्तु डॉ. साहब गुस्से में प्रभा का पूरा पैसा और पासपोर्ट छीन लेते हैं और बीच बाजार में रास्ते पर छोड़कर चले जाते हैं। तब प्रभा खेतान के भीतर एक आदिम वेदना सिसक उठती है। वह सोचती है कि मैं वापस होटल भी नहीं लौट सकती क्योंकि सारे पैसे डॉक्टर साहब के पास हैं। मेरे पास तो कुछ भी नहीं।

9.6 'अन्या से अनन्या' का पाठालोचन

यहाँ पर प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या'(पृष्ठ 28 से 42 तक) के कुल 12 पृष्ठों का पाठालोचन किया जा रहा है। यह आत्मकथा पूर्वदीप्ति शैली में लिखी गई है और इसके इन 12 पृष्ठों में लेखिका ने वर्तमान और पुरानी स्मृतियों के मध्य अपनी बाल्यावस्था का चित्रण किया है। प्रभा खेतान न्यूयार्क शहर के जैकसन हाइट की सीढ़ियों पर बैठ कर वहाँ की चकाचौंध भरी जिंदगी और अपनी स्मृतियों में जाकर देख रही हैं कि आज वह कितना आगे आ गई हैं। एक विशिष्ट स्थिति पर विशिष्टता की ऊँचाई पर पहुँच चुकी हैं परन्तु यहाँ तक पहुँचने के लिए उन्होंने क्या–क्या झेला, सहन किया और जीवन में कहाँ प्रेम और घृणा मिला।

व्यक्ति का विकास उसके परिवेश और समाज के साथ बदलता रहता है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभा खेतान के व्यक्तित्व को समझने की कोशिश करें तो उनकी बाल्यावस्था और युवावस्था के जीवन पर चर्चा करनी होगी। ये दोनों ही अवस्थाएँ उनके जीवन में बदलाव लाने में अपनी अहम भूमिका निभाती हैं। प्रभा खेतान की बाल्यावस्था उसके जीवन की दिशा को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। साथ ही साथ पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों वाले परिवेश तथा एक बच्ची के मनोविज्ञान को समझना आवश्यक है। कुछ जगहों पर स्त्री विमर्श के मुद्दे भी विचार करने योग्य हैं। आइए निम्न बिंदुओं के आधार पर आत्मकथा को समझें।

9.6.1 बाल मनोविज्ञान

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो किसी बच्चे का स्वभाव उस घर परिवार और आस–पास के वातावरण पर निर्भर करता है। व्यक्ति को बाल्यावस्था से ही प्रेम न मिले तो उसके मन–मस्तिष्क में हीन ग्रंथि का निर्माण हो जाता है। प्रेम ही एक ऐसा माध्यम है जो व्यक्ति के भीतर आत्मविश्वास और साहस प्रदान करने में अहम भूमिका निभाता है। प्रेम के अभाव में व्यक्ति के मन में घृणा, कुंठा और अपराधबोध अपना घर बना लेते हैं, जिससे उसमें आत्मविश्वास की कमी आ जाती है और प्रत्येक कार्य में वह स्वयं को कमजोर और अधूरा महसूस करता है एवं स्वयं की तुलना दूसरों से करने लगता है, जिससे उसकी आने वाली जिंदगी प्रभावित होती है। लेखिका अपने चेतन मन में रहते हुए अर्द्धचेतन मन की गहराइयों में जाकर बार–बार उन स्मृतियों को याद कर रही हैं, जो उनके जीवन के उतार–चढ़ाव से संबंधित रही हैं। ये स्मृतियाँ ही उनके मन की गहरी संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान कर रही हैं और वे बार–बार अपनी बाल्यावस्था और अपने अपने सपनों की उड़ानों के बारे में सोच रही हैं।

प्रभा खेतान को बाल्यावस्था से ही स्नेह प्राप्त नहीं हो पाया, जबकि इनका परिवार एक संयुक्त परिवार था। घर में माता–पिता, सात भाई–बहन, बड़ी दीदी के बच्चे पुष्पा और किशन, चाची, ताई का परिवार और दाई माँ थीं। फिर भी उनके जीवन में प्रेम और स्नेह का अभाव रहा। अपनी ही माँ से वह प्रेम के लिए तरसती रहीं। केवल दाई माँ से ही प्रेम प्राप्त हुआ। आखिर क्या कारण रहा होगा कि प्रभा खेतान को अपनी माँ का प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया। यही प्रश्न प्रभा खेतान के मन में हमेशा उठा करता कि माँ आखिर इतनी घृणा क्यों करती हैं? कारण थे घर परिवार के सभी बच्चों की तुलना में बाहरी व्यक्तित्व में प्रभा का सुंदर ना होना, अपनी उम्र से अधिक बड़ी दिखना, ज्यादा लम्बी होना, दाँत बाहर निकले हुए होना, परिवार के सभी सदस्यों के गोरे होने के बावजूद प्रभा का रंग सांवला होना। उससे कोई भी कार्य सुघढ़ता से नहीं हो पाता था। जैसे ठीक से नहीं चलना, खाना खाना, सही समय पर स्कूल जाने के लिए तैयार न हो पाना, डर और हड़बड़ाहट में काम को बिगाड़ देना, किसी भी काम को धीरे–धीरे करना आदि, जिसके कारण उसे अपनी माँ से हमेशा डाँट सुननी पड़ती थी।

प्रभा को उसके ही भाई–बहन चिढ़ाते और घृणा करते थे, जिसकी वजह से वह स्वयं को परिवार के भीतर उपेक्षित और घृणित महसूस करती थी। बचपन में वह अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए बरामदे में बैठकर चुपके–चुपके चिड़ियों से बातें किया करती और खुद से सवाल–जवाब किया करती। यह देखकर गीता, पुष्पा, किशन और छोटे भैया सब उसका मजाक बनाते और कहते – देखो कैसे चिड़ियों से बातें करती है। उसे उसके छोटे भैया चिढ़ाते 'दन्तोलानी' इसीलिए तेरे दांत निकले हुए हैं। (पृष्ठ–30)

प्रभा नौ वर्ष की थी लेकिन उससे कोई भी काम ठीक से नहीं होता था। वह स्कूल के लिए भी सही समय पर तैयार नहीं हो पाती थी और तो और उसकी चोटी, फीता, जूते में पॉलिस, फ्रॉक में खाना खाते समय दाल–चावल गिरा देना आदि कुछ ऐसे कारण थे जिसकी वजह से उसकी माँ और भी उस पर गुस्सा किया करती थी। हर सुबह दाई माँ की आवाज से ही प्रभा की सुबह होती थी। दाई माँ कहती है– ''उठो, जल्दी करो ह मोर बचवा, सात बज गईल.... अभी स्कूल का टैम हो जाईल....'' (पृष्ठ–29) प्रभा का कोई भी

सामान व्यवस्थित नहीं होता था। दौड़ भाग में वह तैयार होती जिसके कारण कभी फ्रॉक का बटन खुला रह जाता, चोटी का फीता नहीं मिलता, बैल्ट और नये मोजे इधर-उधर रहते। वह पूछती ''नया जूता कहाँ है? दाई माँ! कहां है''? देखती तो गीता ने नये-जूते पहन लिये हैं। प्रभा कहती ''निकाल मेरा नया जूता मैं पहनूंगी''। गीता कहती – ''नहीं देती, जा जो करना है कर ले''। और प्रभा रोने लग जाती तब दाई माँ कहती ''पुराना जूता पहन ले बटिया का फरक''? इन सब बातों से प्रभा को खूब रोना आता और प्रभा सोचती कि गीता अम्मा की लाड़ली है, क्योंकि उसकी चोटियाँ ठीक से गूँथी हुई होतीं, फीते का फूल सुघड़ तरीके से बुना हुआ होता। (पृष्ठ–29) इन बातों से स्पष्ट होता है कि एक बच्ची जिसका कोई भी काम सही ढंग से नहीं होता, उसे सब की सुननी भी पड़ती और उसका नया समान कोई और ले ले तो भी वह कुछ नहीं कर सकती। उसे सब कुछ रोते हुए सहन करना होता। साथ ही उसके चेतन मन में अर्द्धचेतन मन से यह बात घर कर लेती कि गीता माँ की लाड़ली है। मेरी माँ मुझसे प्रेम नहीं करती और मुझसे कोई भी काम नहीं हो पाता। इसी वजह से वह स्वयं को अकेला समझती थी।

साढ़े नौ साल की उम्र में ही प्रभा के पिता की मृत्यु हो गई थी। पिता की मृत्यु के बाद उसे अपनी दाई माँ से ही प्रेम प्राप्त हुआ। पिताजी की मृत्यु के बाद माँ को चिंता थी कि इन लड़कियों का विवाह कैसे होगा? गीता तो फिर भी सुंदर है उसका तो हो जाएगा, लेकिन यह परभली यानी प्रभा का कैसे होगा। लेखिका कहती है –''अम्मा को मेरा चेहरा, लम्बे–लम्बे बाल, मेरा बढ़ता हुआ कद, शरीर पर उभार और दसवां लगते ही पीरियड्स का शुरू हो जाना, कुछ भी तो नहीं सुहाता।''(पृष्ठ–38) इनकी माँ इन्हें प्रत्येक बात पर टोकती थीं। ''ठीक से चलो, क्या पैरों की धम–धम आवाज करती चलती हो? शऊर से बैठ कूबड़ क्यों निकाल लेती हो? क्या खो–खो लगा रखी है? खाँस रही हो तो खाँसे ही जा रही हो............और यदि मैं खांसी दबाने का प्रयास करती तो, क्या गाय की तरह गरगरा रही है....?'' (पृष्ठ–38) ये सभी उदाहरण इनकी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में स्पष्ट रूप से मिलता है। शायद इसीलिए बाल्यावस्था में प्रभा खेतान के भीतर कभी साहस नहीं आ सका और वे डरी सहमी सी उपेक्षित बालिका बनी रहीं।

ऐसा नहीं कि उनकी माँ उनसे इसी वजह से घृणा करती थीं। वह तो बच्चे की मानसिक स्थिति बन जाती है कि वह माँ के इस व्यवहार को घृणा की संज्ञा प्रदान कर देते हैं। परन्तु प्रत्येक घर–परिवार में माँ हमेशा अपने बच्चों को डाँटती–डपटती रहती हैं ताकि उसके कार्य व्यवहार में सुधार हो सके। वह निडर, साहसी, आत्मविश्वासी और सर्वगुण सम्पन्न बन सके, परन्तु बच्चे अक्सर अपने माता–पिता के इस व्यवहार से परिचित होते हुए भी उन्हें दोष देते हैं। वास्तव में दोनों अपनी जगह सही होते हैं परन्तु उनमें एक ऐसी समझ का अंतर होता है जो वे स्पष्ट नहीं कर पाते हैं और ऐसी ही दूरियाँ एक दूसरे के मध्य स्थापित कर लेते हैं और बच्चे को यह अहसास घेर लेता है कि उसे घर में अपनी ही माँ से लाड़–प्यार नहीं मिल रहा है और वह स्वयं को अकेला महसूस करने लगता है। इस प्रकार की बातों से बच्चों के मन में हीन ग्रंथि का निर्माण हो जाता है। ऐसा ही प्रभा खेतान के साथ हुआ था और वह एक ऐसी परी की कल्पना करने लगती थी जो उसे सिंड्रेला बना दे। वह हमेशा अपनी माँ और भाई–बहनों के प्रेम के लिए तड़पती रही।

वह अपने अकेले और अनाथ बचपन को महसूस करती रही है। इस संदर्भ में लेखिका लिखती है– ''कैसा अनाथ बचपन था। अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं

चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला लें। शायद......... हां शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच। अम्मा मेरी बातों को समझ नहीं पाती थीं।'' (पृष्ठ–31) इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रभा खेतान को बचपन से अपनी माँ का प्रेम नहीं मिला। वह लिखती हैं कि अम्मा ने मुझे कभी अपनी गोद में लेकर चूमा नहीं अर्थात् प्रेम नहीं किया। वह कहती है कि मैं चुपचाप घंटों अपनी माँ के कमरे के बाहर दरवाजे पर खड़ी रहती कि अम्मा मुझे भीतर बुला लें और अपनी रजाई में सुला लें। परन्तु उन्होंने कभी नहीं बुलाया और न ही मेरी भावनाओं को कभी समझा, क्योंकि मेरी माँ और मेरे बीच एक शाश्वत दूरी हमेशा से रही है। अम्मा मेरी बातों को कभी समझ नहीं पाती थीं। एक बच्ची का अकेलापन यहाँ साफ नजर आता है।

प्रभा के भीतर तुलना करने की प्रवृत्ति बचपन से रही। कभी अपनी सहेलियों से अपनी तुलना करती, कभी गीता से तो कभी कभी अपनी माँ की भी। वह लिखती है– 'मेरी माँ अन्य माँओं की तरह पढ़ी लिखी और स्मार्ट क्यों नहीं?' (पृष्ठ–33) बचपन से ही उसके भीतर यह भावना घर कर चुकी थी। वह जानती थी कि माँ जैसी मारवाड़ी स्त्रियाँ केवल घर परिवार ही संभालती है इसीलिए वे दूसरी माँओं की तरह स्मार्ट नहीं है किन्तु हस्ताक्षर जरूर कर लेती हैं। परन्तु मुझे अपनी माँ की तरह नहीं बनना यह बात भी वह बचपन से समझ चुकी थीं।

गणगौर की पूजा के दौरान भी गणगौर की मूर्ति टूट गई और जल्दबाजी में डर के कारण प्रभा ने उसका सिर उल्टा रख दिया था। अपनी अम्मा की आवाज सुनकर गीता तो वहाँ से भाग गई परन्तु प्रभा नहीं भाग सकी और उसे वहाँ माँ के हाथ से पीठ पर जोर की मार पड़ी।

प्रभा की सभी सहेलियाँ फ्रॉक पहनती थीं, परन्तु स्कूल से वापस घर आने पर अम्मा कहती फ्रॉक नहीं साड़ी पहनो। अब तुम बड़ी हो गई हो। ऐसी छोटी–छोटी अनेक बातें हैं जो प्रभा को न चाहते हुए भी करना पड़ता था। अम्मा के पास सजग रहना पड़ता था कि न जाने अम्मा को कब जरूरत पड़ जाये। एक शाम सब बच्चे नीचे खेल रहे थे। सबकी आवाज आ रही थी। साथ में पड़ोस के बच्चे भी थे। ''मैंने कहा अम्मा मैं खेलने जाऊं? अम्मा ने कहा क्या एक दिन नहीं खेले बिना जान निकल जाएगी?'' (पृष्ठ–39) भाटा, पत्थर, बोकी, गधी, भंगन उपाधियों से विभूषित होकर मैं कपड़े बदलने गई। तब समझ में आया कि पीरियडस हो गए हैं। सोचने लगी, यदि अभी अम्मा से कहूँगी तो और चार बातें सुनने को मिलेंगी। परन्तु राहत की सांस ली कि आज पहला दिन परसों तीसरा फिर सर धोकर नहा लूँगी। बस कल के दिन अलग बैठना होगा।

9.6.2 सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक संदर्भ

प्रारंभ से प्रभा खेतान मारवाड़ी समाज, बंगाली समाज, घर की स्थितियों से, पढ़ाई के लिए, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश से होने वाली समस्याओं से मानसिक रूप से जूझती रही हैं। पिता की मृत्यु के पश्चात् प्रभा खेतान के घर की आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत कमजोर हो चुकी थीं।

प्रभा खेतान का परिवार एक संयुक्त मारवाड़ी परिवार था। इनकी सामाजिक और पारिवारिक प्रतिष्ठा अच्छी थी इसलिए इनके घर की ठाठ–बाठ बनाए रखना एक बहुत

बड़ी जिम्मेवारी का काम था। प्रभा खेतान के पिता लादूराम खेतान का जूट मिल था। एक बार बहुत अधिक घाटा हुआ तो जूट मिल सेठिया को बेचकर, सेठिया के यहाँ वर्किंग पार्टनरशिप स्वीकार ली थी। अंजाम यह हुआ कि जिस मिल को बेचा उसने बाद में बहुत मुनाफा कमाया और मामाजी भी जूट मिलवाले थे इसलिए उन्हें सब पता था। मामाजी ने अम्मा से कहा था ऐसे लोगों से दुश्मनी मोल नहीं लेते और परिणाम यही हुआ। पिताजी के जिगरी दोस्त और समधी बालूरामजी और बनवारी लाल सेठिया ने जहर देकर उन्हें मार डाला और अखबार में खबर छप गई। अम्मा तड़प उठीं और बोली :

''जालिमों! एक तो मेरे पति का खून किया, फिर ऐसे देवता जैसे आदमी पर यह इल्जाम...?

क्या होगा? कल क्या होगा? कैसे मेरे बच्चे पलेंगे?'' (पृष्ठ–33)

आर्थिक समस्या एक ऐसी समस्या है जिससे व्यक्ति का जीवन बहुत अधिक प्रभावित होता है। यह माना जाता है कि मारवाड़ी परिवार में ज्यादातर रूपये–पैसों की तंगी नहीं रहती परन्तु जब किसी भी परिवार में मुखिया की मृत्यु हो जाती है तब उसकी सारी जिम्मेवारी उसकी पत्नी पर आ जाती है। फिर वह कितनी दिक्कतों से अपना और अपने परिवार का खर्च उठाती है वह तो केवल वही समझ सकती है जिसे स्वयं झेलना पड़ता है। प्रभा खेतान की माँ को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा था।

बड़े चाचाजी ने कहा ''भाभी! अब यह रईसी नहीं चलेगी। बड़े बाजार चलकर रहो। यह दाई नौकरों का ठाठ नहीं चलेगा।'' अम्मा ने कहा ''मैं उनकी इज्जत मिट्टी में नहीं मिलाउंगी। सब कुछ ऐसे ही चलेगा।''(पृष्ठ–35) अम्मा ने अपने गहने, हीरे सब बेच दिए थे और घर की बाजू वाली जमीन पर एक नया घर बन रहा था ताकि उससे किराया मिले और घर का खर्चा चल सके। औरत के ऊपर जब जिम्मेदारियों का पहाड़ टूटता है तो उसमें भी ताकत और हिम्मत आ जाती है जैसे अम्मा के भीतर आ गई थी।

मारवाड़ी समाज एक पारंपरिक और रूढ़िवादी समाज माना जाता है। प्रभा का परिवार एक रूढ़िवादी परिवार रहा है। महिलाओं के पीरियडस के दौरान उसे एक अछूत स्त्री के रूप में घर के सभी कामों से दूर रखा जाता और पूजा–पाठ से दूर रखा जाता। मारवाड़ी समाज में संस्कार, पूजा–पाठ और पारंपरिक रीति रिवाज माने जाते हैं। इनके घर वे सभी नियम–धर्म माने जाते हैं जो एक पारंपरिक संयुक्त परिवार में होते हैं जैसे तीज–त्यौहार में गणगौर की पूजा, दीपावली, विवाह के पश्चात् के नेक और बालक जन्म का उत्सव, आदि। ऐसे बहुत से छोटे–छोटे संस्कार इसमें शामिल हैं। ऐसे कई पूजा–पाठ हैं जिसे न करने का निर्णय प्रभा खेतान ने बाल्यावस्था से ही कर लिया था।

9.6.3 स्त्री विमर्श

भारतीय समाज में मारवाड़ी समाज की महिलाओं को परंपरावादी और रूढ़िवादी माना जाता है। यहाँ पितृसत्ता अधिक चलती है। इस समाज की लड़कियों का विवाह कम उम्र में कर दिया है और वे अपने जीवन में केवल बच्चे पैदा करने और परिवार के भीतर ही घुटन भरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर रहती हैं।

प्रभा की माँ पुरनो देवी एक परंपरावादी होते हुए भी विद्रोही व्यक्तित्व की थीं। आम तौर से वे प्राचीन रीति–रिवाजों के अनुसार चलने वाली स्त्री थी। पति की मृत्यु के बाद उनकी

सोच में भी परिवर्तन हुआ और वे प्रगतिशील और आधुनिक विचारों से सहमत होने लगीं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है – ''तुम लोग जरूर रुपया कमाना, अपने पैरों पर खड़ी होना। आखिर हमें क्या मिला? बस बच्चे पैदा करती रही। अम्मा ने कभी नहीं कहा मेरी तरह बनो। जन्म से वे विद्रोही थीं और विरासत में मुझे उनका विद्रोही स्वभाव मिला।'' (पृष्ठ–33)

लेखिका लिखती हैं कि ''स्त्री होना मात्र अम्मा की नजर में पाप है, एक हीन स्थिति है, गुलामों का जत्था है जो बिना मालिक के जी नहीं पाएगा।''(पृष्ठ–37) लेखिका यह लिखती है कि मेरी अम्मा की नजर में स्त्री होना एक पाप है, एक हीन स्थिति है क्योंकि हम जैसी स्त्रियों को अपने मालिक अर्थात् पति का सदैव गुलाम बनकर रहना पड़ता है और बिना मालिक अर्थात् बिना पति के उसका जीना मुश्किल है।

प्रभा खेतान कहती हैं कि जब भी मैं अपने अनाथ और असहाय बचपन के बारे में सोचती हूँ तो मुझे मेरी अम्मा असहाय और अकेली दिखाई देतीं थीं इसीलिए पिताजी की मृत्यु के बाद वे अपने पास किसी न किसी को बैठाए रखतीं या फिर फोन पर बातें करती रहतीं। लेखिका कहती हैं मुझे अपनी अम्मा जैसी जिंदगी नहीं चाहिए। लेखिका लिखती हैं कि ''अम्मा कहतीं, उन्हें जिंदगी में क्या मिला? ज्यादा बच्चों के कारण औरत का शरीर खोखला हो जाता है। पहले बच्चों का करो फिर उनके बच्चों का करो।''(पृष्ठ–38) स्पष्ट है कि एक स्त्री होने के नाते उन्हें (अम्मा को) क्या मिला? केवल बच्चे पैदा करती रहीं और अपने शरीर को खोखला यानी कमजोर बनाती रहीं। पहले अपने बच्चों को संभालती रहीं, उनकी देखरेख और उनका खर्च उठाती रहीं उसके बाद बच्चों के बच्चों का करती रहीं। अर्थात् प्रभा की बड़ी दीदी भगवती बाई और उनके दो बच्चे किशन और पुष्पा की जिम्मेदारी वे संभालती रहीं। आज उनके कहने का अर्थ प्रभा समझ चुकी है कि स्त्री पारिवारिक स्थितियों में इतनी घिर जाती है कि उसे कभी अपने लिए सोचने और अपने लिए जीने का समय नहीं मिलता।

प्रभा खेतान ने अपनी बाल्यावस्था से ही धन का अभाव महसूस किया और घर की परिस्थितियों को देखा था इसीलिए वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना चाहती थी। उनकी माँ भी चाहती थी कि वे आत्मनिर्भर बनें और स्वत्रंत रहें। किसी पढ़ी लिखी स्वावलंबी स्त्री को देखतीं तो अम्मा यही कहा करतीं –''तुम लोग जरूर रुपया कमाना, अपने पैरों पर खड़ी होना। आखिर हमें क्या मिला? बस बच्चे पैदा करती रहीं।'' (पृष्ठ–33)

अम्मा ने कभी नहीं कहा मेरी तरह बनो। जन्म से वे विद्रोही थीं और विरासत में मुझे उनका विद्रोही स्वभाव मिला। बाल्यावस्था से ही प्रेम के अभाव में प्रभा खेतान को अकेलापन वरदान में मिला और वह जीवन भर उसके साथ रहा। यह अकेलापन लेखिका को जीवन का अर्थ समझाता रहा है। प्रभा खेतन कहती हैं कि मैंने अपने आपको बनाया है, अपने मूल्यों को जीवन में संजोया है।

स्त्री जीवन की विडंबना है उसका विधवा हो जाना और जीवन में अकेलेपन का होना। प्रभा की माँ चालीस वर्ष की उम्र में विधवा हो गई थीं इस संदर्भ में प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''चालीस की उम्र में विधवा हो जाना, सफेद साड़ी में जिंदगी बिताना क्या अम्मा को रुचिकर था? अम्मा के वे गहने, वे बनारसी साड़ियाँ, बाबूजी के बिना तमाम सामाजिक दबावों को झेलती हुई अम्मा! वे तो खुद विद्रोही थीं औरत होने की नियति को

अस्वीकारती हुईं।''(पृष्ठ–41) चालीस की उम्र में विधवा हो जाना एक औरत के लिए रूचि का विषय नहीं होता परन्तु औरत क्या करे? कीमती गहने, साड़ी आदि को बिना पति के पहनने की अनुमति यह समाज नहीं देता, परन्तु माँ इन सामाजिक दबावों को झेलते हुए औरत होने की नियति को स्वीकार नहीं करती हैं, क्योंकि वे भी एक विद्रोही स्त्री थीं।

प्रभा खेतान लिखती हैं कि किसी लड़की को पीरियडस होना एक पाप के समान है। वह भी जब साढ़े दस की उम्र में पीरियडस प्रारंभ हो जाए। वह लिखती हैं कि–''पाप? क्या हर लड़की, हर महीने पाप का बोझ बढ़ाती है? उस दिन पूरी बात समझ में नहीं आई थी। इस जीवन में कहीं कुछ बहुत गलत घट गया। अपराध? पाप? नहीं तो अम्मा मुझसे इतनी नफरत नहीं करतीं। उन्हें मेरा कुछ भी क्यों नहीं अच्छा लगता?'' (पृष्ठ–40)

प्रभा कहती हैं कि जब उसे साढ़े दस वर्ष की उम्र में पीरियडस होने लगे थे माँ ने बहुत नफ़रत की नजर से देखा था। मैं सोचती हूँ कि इसमें किसी लड़की का क्या दोष है? परन्तु मुझे लगने लगा था उस उम्र में कि मेरे जीवन में कहीं कुछ जरूर गलत हुआ है जिसकी वजह से अम्मा मुझसे नफ़रत करती हैं। उन्होंने उस दिन भी ऐसे ही कहा था–''मरणजोगी! आज ही तुझे यह सब होना था......? कल तेरे बाबूजी बरशोदी(वार्षिकी) है। ताई– चाची सब आएँगी और ताई की गिद्ध दृष्टि से कुछ छिप नहीं सकता– भगवती, यह तो साढ़े दस की उमर में ही चौदह की लगने लगी।'' (पृष्ठ–39) किशन ने अछूत कन्या....अछूत कन्या कह कर प्रभा को चिढ़ाया था।

स्त्री जीवन की विडंबना उसका अकेलापन होता है। इस अकेलेपन की वजह हो सकती है प्रेम का अभाव, उपेक्षा का भाव, खालीपन आदि। इस संदर्भ में लेखिका लिखती हैं–''हाँ, टूटी हूँ, बार–बार टूटी हूँ, पर कहीं तो चोट के निशान नहीं...... दुनिया के पैरों तले रौंदी गई, पर मैं मिट्टी के लोंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई। इस उम्र में भी एक पूरी की पूरी साबूत औरत हूँ, जो जिंदगी को झेल नहीं रही बल्कि हँसते हुए जी रही है, जिसे अपनी उपलब्धियाँ पर नाज है। दोस्ती का हाथ बढ़ाकर जिसकी गर्म हथेलियाँ हर किसी को अपने करीब खींच लेती हैं।''(पृष्ठ–29) प्रभा खेतान अपने जीवन के उन तमाम कारणों को याद करते हुए कहती हैं कि हाँ, टूटी हूँ बार–बार टूटी हूँ, पर कहीं तो चोट के निशान नहीं अर्थात् बार बार मेरा दिल और मन टूटा है परिवार, समाज और अन्य लोगों की उपेक्षा की जब–जब मैं शिकार हुई मेरा मन टूटा है फिर भी कहीं कोई चोट का निशान नहीं दिखाई देता। पूरी दुनिया में जहाँ भी गई लोगों ने उपेक्षा, घृणा के कारण मुझे अपने पैरों के नीचे दबाकर रखा और मैं मिट्टी के लोंदे की तरह ही रही मुझमें कोई परिवर्तन नहीं हो पाया। वह कहती आज इस उम्र में भी मैं एक पूरी की पूरी साबूत औरत हूँ जो अपनी जिंदगी को झेल नहीं रही बल्कि हँसते हुए जी रही है जिसे अपने निर्णय, विद्रोहीपन और अपनी उपलब्धियों पर नाज है। आज स्थिति ऐसी है कि दोस्ती का हाथ बढ़ाकर मेरी उपलब्धियाँ गर्म हथेलियाँ के समान हर किसी को अपने करीब खींच लेती है, क्योंकि आज मेरे पास सब कुछ है और मुझे अपनी विशिष्टता पर नाज है।

प्रभा खेतान एक बड़ी उद्यमी के रूप में देश विदेश व्यापार के सिलसिले में आती–जाती रहतीं। आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर भी वह प्रेम और अपने प्रिय पुरुष के हाथों की कठपुतली बन चुकी थीं। न्यूयॉर्क की एक शाम वह अकेली अपने दुख से दुखी होकर

कहती है –"मेरे भीतर एक आदिम वेदना सिसक उठती है। आखिर इतना भी क्या गुस्सा कि यों बीच बाजार में मुझे अकेला छोड़ डॉक्टर साहब चले गए। मैं वापस होटल भी नहीं लौट सकती, सारे पैसे तो उनके पास जो थे।"(पृष्ठ–42) एक ऐसी स्त्री जो खुद कमाती है, लाखों–करोड़ों का अकेले व्यवसाय करती है उसे इतना भी हक नहीं कि वह अपने ही पैसों से अपने व्यापार के लिए एक कीमती बैग खरीद सके। यही कारण था कि जब प्रभा ने एक कीमती बैग खरीदा अपने व्यापार के एक नमूने के लिए तो डॉक्टर साहब गुस्सा हो गए और उनका सारा पैसा, पासपोर्ट लेकर प्रभा को बीच बाजार के रास्ते में छोड़कर चले गए। प्रभा खेतान यह बताना चाहती है कि उन्होंने जो दुख और तकलीफ प्रेम में सहन किया है, जिस आदमी से प्रेम किया वह उसे कोई अधिकार नहीं देता और न ही उसे स्वतंत्र छोड़ता है। हर जगह प्रभा पर पाबंदियाँ है। स्त्री के पास सब कुछ रहे फिर भी उसे उसके स्वतंत्र निर्णय और वह सम्मान न मिले जिसकी वह हकदार है तो ऐसी स्त्री का जीवन सदैव दुखों से भरा हुआ रहता है, जैसे प्रभा खेतान का जीवन रहा है।

9.7 प्रभा खेतान की वैचारिकी और जीवन दृष्टि

'अन्या से अनन्या' के माध्यम से प्रभा खेतान की स्त्रीवादी दृष्टि और जीवन दृष्टि को समझा जा सकता है। लेखिका यह मानती हैं कि उसके जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आये हैं और इन्हीं उतार चड़ाव के मध्य उन्होंने पांरपरिक रूढ़िवादी समाज और आधुनिक जीवन की सच्चाई, भारतीय और पाश्चात्य नारी का दुख भरा जीवन, देश–विदेश के व्यापार, स्त्री–पुरुष के संबंधों के अंतर्द्वंद्व, निःसवार्थ प्रेम, पितृसत्ता–मातृसत्ता और स्त्रियों के मनोविज्ञान, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति, पारिवारिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति और आर्थिक स्थिति आदि को गहराई से समझा है। वे स्वयं मानती हैं कि एक सामान्य स्थिति से उन्होंने एक विशिष्ट स्थिति प्राप्त की है। फिर भी वे अपनी इस विशिष्टता की ऊँचाई से कूदना चाहती हैं क्योंकि वह इस विशिष्टता के पीछे की सच्चाई, उपेक्षित सामाजिक दृष्टि और अपराधबोध से वाकिफ हैं। वह यह बिल्कुल नहीं चाहतीं कि किसी और स्त्री के साथ ऐसा हो। अपनी इस आत्मकथा के माध्यम से वे अनेकों ऐसी पारिवारिक और सामाजिक पीड़ाओं से उत्पन्न कुंठा, उपेक्षा और अपराधबोध से स्त्रियों को अवगत करवाती हैं। उनकी यह आत्मकथा केवल मारवाड़ी समाज की रूढ़ियों और कुंठाओं पर प्रहार नहीं करती बल्कि बंगाल के पूरे सामाजिक वातावरण को भी उद्वेलित करती है। अपनी आत्मकथा में वे लिखती हैं– "क्रूर समाज था, क्रूर परिवेश, उनकी क्रूरता जितनी त्रासद थी उतनी ही बेतुकी भी और ऐसे परिवेश में अपना ही कटा हुआ सर अपनी हथेलियों पर लिये मैं घूम रही थी। मुझे कोई शारीरिक सजा नहीं मिली, किसी दैहिक पीड़ा का अहसास कभी नहीं हुआ लेकिन एक चरम मानसिक यंत्रणा को भोगते रहने को, एक स्थायी आतंक को झेलते रहने को मैं बाध्य थी।" सामाजिक उद्वेलन का प्रभाव राजनैतिक वातावरण पर किस प्रकार पड़ा इसे भी उन्होंने अपनी जीवन में गहराई से महसूस किया है।

प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा से पूर्व भी स्त्री के अस्तित्व और व्यक्तित्व पर कई लेख लिखे हैं। इनके आलेखों में मध्यमवर्गीय नारी पात्रों की मानसिकता का वर्णन है। प्रभा खेतान ने नारी अस्तित्व के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को आवश्यक बताया है। अपने पैर पर खड़े होने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है शिक्षित होना। शिक्षा के द्वारा ही उसमें

अपने आसपास की परिस्थितियों के विश्लेषण और उसमें अपनी 'जगह' की पहचान करने की समझ विकसित होती है। मध्यम वर्गीय नारी व्यवसायी एवं नौकरी पेशा नारी, उपेक्षित, प्रताड़ित एवं कुंठित नारी आदि के मानसिक द्वन्द्व का उल्लेख प्रभा खेतान बखूबी समझती हैं। स्त्रियों की दोहरी भूमिका को भी वे समझती हैं और समाजशास्त्रीय सवाल उठाती हैं। स्त्री की पीड़ा का उसके मानसिक द्वन्द्व का विश्लेषण प्रभा खेतान की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। पति–पत्नी के संबंधों, उनके मध्य होने वाले विवाद किसी स्त्री का परपुरुष से संबंध, यौन जिज्ञासा किसी अन्य पुरुष के साथ शांत करना, अपने प्रेमी के प्रति इतना समर्पित हो जाना कि अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना। यह सब प्रभा खेतान की आत्मकथा में साफ नजर आता है। प्रभा खेतान ने अपने जीवन के उन महत्त्वपूर्ण एवं अनूठे पहलुओं को भी 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा में लिख डाला है, जिनसे उनकी वैचारिकता, सोच और जीवन दृष्टि उभर कर सामने आती है।

प्रभा खेतान एक संवेदनशील और भावुक स्त्री रही हैं। उन्होंने प्रेम को अधिक महत्त्व दिया और समाज की परवाह न करते हुए विद्रोही कदम उठाए। समाज में लीक से हटकर कार्य किया। एक बार जो सोच लिया वही किया और संघर्ष करती रहीं। उन्होंने इसी संवेदनशीलता के कारण अपना जीवन अपने अनुसार और अपने अनुकूल बना लिया था। इन्हें अपने जीवन में आर्थिक असुरक्षा का भी भय सताता था। वे लिखती हैं– "अधिकतर औरतों को विशेषकर अकेली स्त्री को आर्थिक असुरक्षा का भय सबसे अधिक सताता है, विवाहित स्त्री सुरक्षित होती है, पति और बच्चों पर निर्भर करने की उसे आदत है, खर्च के लिए वह पैसे माँग लेती है पर अकेली स्त्री इस मुद्‌दे पर बेहद संवेदनशील होती है। कम से कम मैं तो हमेशा रही हूँ।" (पृष्ठ–223) जिस स्त्री के पास सब कुछ होते हुए भी अपना कहने को कुछ नहीं वह किसी से कुछ भी नहीं कह पाती है। प्रभा खेतान अपने जीवन के प्रति और विशेषकर प्रेम में अधिक संवेदनशील रही हैं। इनके अनुसार प्रेम में व्यक्ति की उम्र, रंग, शिक्षा, नौकरी आदि का कोई मोल नहीं होता, प्रेम में व्यक्ति को जो पसंद आ जाये और जिससे मन मिले उसी से प्रेम हो जाता है। वे प्रथम दृष्टि के प्रेम में विश्वास करती थीं। प्रेम में वे समाज की परवाह नहीं करती हैं। जिसे दिल से अपना मान लिया उसे ही पति रूप में स्वीकार किया। प्रेम में त्याग, बलिदान और अपने प्रेमी की खुशी को महत्त्व देती हुई वे नजर आती हैं। स्त्री प्रेम में अपने मनपसंद पुरुष के आगे स्वयं को पूर्णरूप से समर्पित कर देती है। अपने जीवन में प्रभा खेतान ने प्रेम को अधिक महत्त्व दिया है और प्रेम की इसी संवेदनशीलता के कारण वे सदैव दुखी भी रही हैं किन्तु वे मानती हैं कि प्रेम में अपने प्रेमी का अच्छा–बुरा सब व्यवहार स्वीकार करना होता है। अपने इसी चारित्रिक गुण के कारण वे दूसरों की समस्यागत स्थितियों में भी संवेदनशील रहती हुई दिखाई देती हैं।

प्रभा खेतान साहित्य सृजन की दृष्टि से अपनी अलग पहचान निर्मित करती है। प्रभा खेतान का साहित्य उनके अनुभवों पर आधारित रहा है। वे चाहती थीं कि अपने अनुभवों को अपनी कलम से लिखें। जितनी दुनिया उन्होंने देखी उनमें स्त्रियों की स्थिति को अपनी लेखनी के माध्यम से उकेरा और उनकी स्थितियों को सुधारने के लिए स्त्री विषयक मुद्‌दे को लेकर आलेख, पुस्तकें आदि लिखीं। उन्होंने जो भी लेखन कार्य किया है वह निरुद्‌देश्य नहीं रहा है। समकालीन समय में स्त्री विमर्श एवं स्त्री संबंधी किताबों के अंतर्गत इनका विशेष स्थान है। उन्होंने लिखा क्योंकि उन्हें लेखन कार्य में रुचि थी। प्रभा खेतान अपनी लेखनी से समाज को नवीन दृष्टि देती हैं।

आत्मकथा वही लिखता है जो जानता है कि वह विशिष्ट है। अतः उसके मौलिक जीवन दर्शन से कुछ निष्कर्षों–सिद्धांतों की अपेक्षा रहती है। प्रभा खेतान ने आत्मकथा के संदर्भ में लिखा है कि ''स्पष्ट रूप से लिखी गई आत्मकथा का अपना महत्त्व है। इतना भी जानती हूँ कि उपन्यास से अधिक दिनों तक आत्मकथा जीवित रहती है। किसी भी आत्मकथा में 'मैं' है जो प्रामाणिक रूप से अपनी यात्रा कर रहा है जिसे खारिज करना किसी के लिए संभव नहीं......पाठक भी इस विशिष्टता को, विशेष व्यक्तित्व को पहचानता है। पाठक और लेखक दोनों के बीच एक साझेदारी है। दशकों बाद भी यह कहानी जिन्दा रहती है और रहेगी–हाँ इसको पढ़ने का तरीका जरूर बदल जाएगा। आज जिस रूप में इसे पढ़ा जा रहा है संभव है उस रूप में यह कहानी भविष्य में न पढ़ी जाए मगर आत्मकथा अपने पाठकों को बाध्य करती है कि वे खुद भी अपने–आप से सवाल करें एवं वर्ग, जाति एवं संस्कृति के प्रभाव को समझें।'' (अन्या से अनन्या, पृष्ठ–255–256)

प्रभा खेतान ने नौकरी और साहित्य लेखन को अपना करियर कभी नहीं माना। वे तो केवल आत्मसंतुष्टि और आनंद के लिए लिखती थीं। उन्हें लिखना पसंद था और वह अपनी सारी व्यस्तताओं के बावजूद लिखती थीं क्योंकि इससे उन्हें राहत के क्षण मिलते थे। व्यापार करना तो उनकी अपनी जिद थी क्योंकि उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करनी थी।

9.8 'अन्या से अनन्या' की प्रासंगिकता

'अन्या से अनन्या' की प्रासंगिकता इसके शीर्षक से ही कही जा सकती है, जिसका अर्थ है– सामान्य से विशिष्ट। अर्थात् एक सामान्य से विशिष्ट स्थिति तक पहुँचना जैसा कि पूरी आत्मकथा को पढ़ने के पश्चात् हम प्रभा खेतान के जीवन की सच्चाइयों और संघर्षों से अवगत होते हैं। इनकी आत्मकथा को लेकर पाठकों के मन–मस्तिष्क में यह जिज्ञासा बराबर बनी रही है कि आखिर क्या कारण है कि प्रभा खेतान ने इतने वर्षों बाद अपनी आत्मकथा लिखी? क्या वह सहानुभूति पाना चाहती है या फिर अपने लिए पाठकों के मन में दया उत्पन्न करवाना चाहती है या फिर अपने उन आत्मसंघर्षों से पाठकों को परिचित करवाना चाहती है, जो एक अकेली स्त्री को पुरुष वर्चस्व वाले समाज से गुजरना पड़ता है या फिर उनकी यह प्रसिद्धि पाने या चर्चा के विषय में आने का नया प्रयास है?

इस आत्मकथा की अपनी विशिष्टता है कि यह अन्य आत्मकथाओं की तुलना में सर्वाधिक चर्चित रही है। इसके कई कारण हम मान सकते हैं जैसे–अपने शीर्षक की वजह से, स्त्री विमर्श की दृष्टि से, सरल, रोचक और प्रभावपूर्ण लेखन शैली के कारण, भारतीय और पाश्चात्य स्त्रियों के दुख, आँसू और जीवन संघर्षों को उजागर करने के कारण। यह स्त्री जीवन की संघर्ष गाथा है जिसमें बाल्यावस्था के अनाथ बचपन, बलात्कार, प्रेम और स्नेह का अभाव, परिवार और समाज से विद्रोह, भावनात्मक प्रेम, उच्च शिक्षा अर्जित करने की आकांक्षा, प्रेम में अविवाहित रहने का निर्णय, आर्थिक स्वतंत्रता की जिद आदि सम्मिलित है। एक बड़े व्यापारी घराने में पैदा हुई लड़की के रूप में प्रभा खेतान को उन्हीं संघर्षों और कठिनाइयों से गुजरना पड़ा जैसे आम स्त्रियों को गुजरना पड़ता है। एक संयुक्त परिवार में लड़की के साथ होने वाले अत्याचार को भी प्रभा खेतान ने ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। भावनात्मक प्रेम में बहती हुई, समाज और परिवार से विद्रोह करती हुई स्त्री की सच्ची कथा के रूप में उन्होंने यह आत्मकथा लिखी है। एक पारंपरिक रूढ़िवादी मारवाड़ी

समाज की लड़की जिसने सामान्य स्थिति से हटकर अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है, जिसके कारण एक स्त्री को जीवनभर कुंठित और उपेक्षिता का जीवन जीना पड़ा। यह आत्मकथा स्त्रियों के लिए भी चेतना और प्रेरणा की स्रोत रही है। यह आत्मकथा एक स्त्री को उसकी अपनी गलतियों का अहसास भी करवाती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि ऐसे अनेक कारण हैं जो इस आत्मकथा को प्रासंगिक और चर्चित बनाते हैं।

यह आत्मकथा इसलिए भी प्रासंगिक है क्योंकि प्रभा खेतान देश–विदेश में बड़ा व्यापार करने वाली एक उद्यमी और स्त्रीवादी लेखिका रही हैं। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के जीवन के बारे में सब जानना चाहते हैं। वह एक अविवाहित स्त्री रहीं, अपने प्रेम के लिए समाज और परिवार तक की परवाह नहीं की। अपना गर्भपात भी करवाया और अपने संबंधों को पूरी इमानदारी से निभाती रहीं। यह आत्मकथा स्त्री-जीवन के संघर्ष को गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त करती है।

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होती है। उसी प्रकार प्रत्येक रचना की अपनी एक विशिष्ट पहचान एवं कुछ विशिष्टता होती है। किसी भी रचनाकार के लेखन का कोई न कोई कारण एवं उद्देश्य अवश्य होता है। इसी प्रकार 'अन्या से अनन्या' लिखने का कोई कारण अवश्य होगा। स्वयं प्रभा खेतान के शब्दों में –''स्वाभाविक है कि आज इस आत्मकथा लिखने के पीछे कोई कारण रहा होगा। कुछ ऐसा वैसा जरूर घटा होगा मेरे जीवन में। हाँ मैंने लकीर से हटकर व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया किन्तु वह मुझ अकेले का विद्रोह था।'' (अन्या से अनन्या, पृष्ठ–260)

संवेदनशीलता के संदर्भ में जगदीश चतुर्वेदी लिखते हैं कि ''प्रभाजी की सबसे बड़ी शक्ति उनकी दौलत नहीं, लेखन थी, लेखक के नाते जिस गंभीर संवेदनशीलता की जरूरत होती है, उसे उन्होंने अपने जीवन का अनिवार्य हिस्सा बना लिया था। यह संवेदनशीलता कभी–कभी कष्ट भी देती थी इसके बावजूद अपने संवेदनशील स्वभाव को उन्होंने त्यागा नहीं।'' संवेदनशील होने की वजह से ही वे अधिक समाज से जुड़ी हुई दिखाई देती रही हैं। आज उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वे एक प्रतिष्ठित समाजसेविका के रूप में जानी जाती हैं।

बोध प्रश्न

1. प्रभा खेतान किस भाषा की रचनाकार हैं?

   क) हिन्दी ख) बंगाली ग) भोजपुरी घ) राजस्थानी

2. प्रभा खेतान का परिवार ....है?

   क) गुजराती ख) मारवाड़ी ग) बंगाली घ) बिहारी

3. इनमें से कौन सा प्रभा खेतान का उपन्यास नहीं है?

   क) पीली आंधी ख) अग्निसंभवा ग) छिन्नमस्ता घ) नीली आंधी,

4. 'अन्या से अनन्या' कौन सी विधा है?

   क) उपन्यास ख) कहानी ग) आत्मकथा घ) संस्मरण।

5. 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा का अंग्रेजी में अनुवाद किसने 'ए लाईफ अपार्ट' (सन् 2013) के नाम से किया है।

क) राजेन्द्र यादव ख) इरा पांडे ग) जगदीश चतुर्वेदी घ) मन्नू भंडारी

6. प्रभा खेतान ने किस प्रसिद्ध कृति का अनुवाद किया है?

....

....

7. प्रभा खेतान के कोई दो कविता संग्रह के नाम लिखिए।

....

....

8. निम्नलिखित लेखिकाओं से आत्मकथाओं का मिलान कीजिए

1) मैत्रेयी पुष्पा	क) हादसे
2) मन्नू भंडारी	ख) अन्या से अनन्या
3) कौशल्या बैसंत्री	ग) जो कहा नहीं गया
4) प्रभा खेतान	घ) एक कहानी यह भी
5) कुसुम अंसल	ङ) कस्तूरी कुंडल बसै
6) रमणिका गुप्ता	च) दोहरा अभिशाप

9. प्रभा खेतान के किन्हीं तीन वैचारिक पुस्तकों के नाम लिखिए।

....

....

....

....

10. 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा की प्रासंगिकता लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

9.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' के पृष्ठ 28 से 42 पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के माध्यम से प्रभा खेतान का हिन्दी साहित्य और आत्मकथा लेखन में दिए गये महत्त्वपूर्ण योगदान का उद्घाटन किया गया है। लेखिका के समूचे व्यक्तित्व, कृतित्व और सामाजिक गतिविधियों को बताया गया है। पूरी आत्मकथा समझने के लिए सारांश भी बताया गया है। इस आत्मकथा पर बहुत से आलोचकों और समीक्षकों ने अपने–अपने ढंग से कई तरह की अच्छी–बुरी बातें लिखी हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि लेखिका ने आत्मकथा में जो संवेदना प्रस्तुत की है, उस संवेदना को हर पाठक उसी रूप में समझ सके। पाठक स्वयं अपनी समझ के अनुरूप आत्मकथा पढ़ सकता है। हमने इस इकाई में आत्मकथा को पाठालोचन की दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इकाई का मुख्य विषय आत्मकथा के पृष्ठ 28–42 को पढ़ना और समझते हुए विचार करना है इसलिए यह जानना आवश्यक है कि प्रभा खेतान की जीवनदृष्टि क्या और कैसे रही है। यहाँ पर आत्मकथा में लेखिका ने अपनी बाल्यावस्था का चित्रण किया है। आत्मकथा का पाठालोचन बाल मनोविज्ञान, सामाजिक–पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त स्त्री विमर्श के बिंदुओं के आधार पर किया गया है, जिसे पढ़कर आप समझ गए होंगे कि यह आत्मकथा स्त्री की दृष्टि से कितनी महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद आप लेखिका की वैचारिकी और जीवन दृष्टि से अवगत हो गए होंगे। आज भी 'अन्या से अनन्या' की प्रासंगिता बनी हुई है, इसका कारण भी जान गए होंगे। अंत में लेखिका ने अपने जीवन के उन उपेक्षित लम्हों को अपनी स्मृतियों के माध्यम से याद किया है और स्त्री जीवन पर प्रश्न भी किये हैं। भारतीय पारंपरिक संस्कृति और स्त्री जीवन की विडंबनाओं के ऊपर बात करते हुए, सवाल भी उठाये हैं। यह आत्मकथा उन तमाम स्त्रियों के दुःख को भी अभिव्यक्त करती है जिन्होंने अपनी अस्मिता, स्वतंत्रता और मुक्ति के लिए जीवन में संघर्ष किया है।

इस आत्मकथा को हमने उसकी क्षमताओं और सीमाओं के अनुरूप रेखांकित करने का प्रयास किया है।

अभ्यास प्रश्न

1. प्रभा खेतान का जीवन परिचय लिखिए।
2. अन्या से अनन्या' की क्या प्रासंगिकता है?
3. प्रभा खेतान की चारित्रिक विशेषताएँ लिखिए।
4. 'अन्या से अनन्या' में चित्रित बाल मनोविज्ञान को अपने शब्दों में लिखिए।
5. 'अन्या से अनन्या' में चित्रित स्त्री विमर्श पर प्रकाश डालिए।
6. निम्नलिखित गद्यांश की सप्रसंग व्याख्या कीजिए।

(क) ''हाँ, टूटी हूँ .... पर कहीं तो चोट के निशान नहीं.................. दुनिया के पैरों तले रौंदी गई, पर मैं मिट्टी के लौंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई। इस उम्र

में भी एक पूरी की पूरी साबुत औरत हूँ जो जिंदगी को झेल नहीं रही, बल्कि हंसते हुए जी रही है जिसे अपनी उपलब्धियों पर नाज है।'' (पृष्ठ–29)

(ख) ''कैसा अनाथ बचपन था। अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला लें। शायद हां, शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच।'' (पृष्ठ–31)

(ग) ''तुम लोग जरूर रुपया कमाना, अपने पैरों पर खड़ी होना। आखिर हमें क्या मिला? बस बच्चे पैदा करती रही।''(पृष्ठ–33)

9.10 शब्दावली

सुघड़ : सुंदर।

शाश्वत : सदा रहने वाला।

वैमनस्य : मानसिक शैथिल्य , उदासी का भाव, वैर मनमुटाव

दहशत : आतंक, भय।

स्तब्ध : सुन्न, निश्चेष्ट।

फूहड़ औरत : गंवार औरत

नेग भेजना : शुभ अवसर पर धन या उपहार देने की प्रथा।

भादों : हिन्दी माह। दुपहरिया–दोपहर का समय।

अस्तित्व : वजूद, होने का भाव।

अपराधबोध : अफसोस, पश्चाताप।

गोधूलि वेला : संध्या का समय।

फेनिल : झागयुक्त।

9.11 उपयोगी पुस्तकें

1. स्त्री दृष्टि और प्रभा खेतान, रेखा कुर्रे, के. के. पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली,

2. प्रभा खेतान का औपन्यासिक संसार, डॉ. उषा कीर्ति राणावत,

3. समकालीन परिदृश्य और प्रभा खेतान, रेखा कुर्रे, हिन्दी बुक सेंटर, दरियागंज, नई दिल्ली,

4. स्त्रीकाल पत्रिका, 30 अक्टूबर 2014

5. अपनी माटी (ई–पत्रिका) अंक–17, जनवरी–मार्च 2015

9.12 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1. (क) हिन्दी
2. (ख) मारवाड़ी
3. (घ) नीली आंधी
4. (ग) आत्मकथा
5. (ख) इरा पांडे
6. प्रभा खेतान ने विश्वविख्यात फ्रैंच लेखिका सीमोन द बोउवार की विश्वचर्चित कृति The Second Sex का भारत में पहली बार हिन्दी में अनुवाद 'स्त्री उपेक्षिता' के नाम से 1999 में किया।
7. 'अपरिचित उजाले'– सन् 1981,
   'सीढ़ियाँ चढ़ती हुई मैं'– सन् 1982,
8. उत्तर निम्न है :

(1) मैत्रेयी पुष्पा	ङ) कस्तूरी कुंडल बसै
(2) मन्नू भंडारी	घ) एक कहानी यह भी
(3) कौशल्या बैसंत्री	च) दोहरा अभिशाप
(4) प्रभा खेतान	ख) अन्या से अनन्या
(5) कुसुम अंसल	ग) जो कहा नहीं गया
(6) रमणिका गुप्ता	क) हादसे

9. शब्दों का मसीहा सार्त्र – 1985
   वह पहला आदमी–अल्बेयर कामू – 1993
   उपनिवेश में स्त्री–मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ– 2003
10. आत्मकथा की प्रासंगिकता देखिए।

नोट : अभ्यासों के उत्तर स्वयं लिखने का प्रयास कीजिए।

इकाई 10 'मुर्दहिया' (डॉ. तुलसी राम) : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 समकालीन आत्मकथा साहित्य लेखन परंपरा में दलित हस्तक्षेप

10.3 तुलसी राम का रचना संसार

10.4 मुर्दहिया : आत्मकथा के विविध पहलू

- 10.4.1 'मुर्दहिया' और दलित जीवन
- 10.4.2 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन
- 10.4.3 अज्ञान, अंधविश्वास और मतिविभ्रम
- 10.4.4 राजनीति, धर्म और दलित

10.5 'मुर्दहिया' आत्मकथा के अन्य आयाम

- 10.5.1 दलित–सवर्ण संघर्ष
- 10.5.2 सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश और दलित
- 10.5.3 'मुर्दहिया' में पर्यावरण चेतना
- 10.5.4 उच्च शिक्षा, वैचारिक परिवर्तन और प्रतिरोध

10.6 'मुर्दहिया' : संरचनागत विशिष्टता

- 10.6.1 संप्रेषणीय भाषा
- 10.6.2 'मुर्दहिया' की चरित्र योजना
- 10.6.3 शैली की विविधता

10.7 सारांश

10.8 बोध प्रश्न/अभ्यासों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

1990 ई. के बाद हाशिये के जीवन का साहित्य की मुख्य धारा में प्रवेश हुआ और पहली बार हिंदी साहित्य में स्त्री, दलित और आदिवासी अस्मिताओं की अभिव्यक्ति होने लगी। आगे चलकर साहित्य की विविध विधाओं में अस्मितामूलक लेखन की बाढ़–सी आ गई। धीरे–धीरे अस्मितामूलक लेखन को केन्द्रीय विमर्श की जगह मिल गई। इन अस्मितामूलक लेखन में दलित साहित्य ने अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज की है। दलित अस्मिता की सबसे ज्यादा अभिव्यक्ति साहित्य की आत्मकथा विधा में हुई है। दलित रचनाकारों ने अपने जीवन के भोगे हुए अनुभव को व्यक्त करने के लिए आत्मकथा विधा को उपयुक्त पाया और इसी विधा का प्रधानतः चुनाव किया। वे आत्मकथाओं में अपने जीवन संघर्षों को प्रस्तुत करने लगे। प्रमुख दलित आत्मकथाकार के रूप में डॉ.तुलसी राम का नाम

लिया जाता है। तुलसी राम ने दलित जीवन के संघर्षशील अनुभवों को अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त किया है। इस इकाई में हम डॉ. तुलसी राम की बहुचर्चित आत्मकथा 'मुर्दहिया' का विवेचन करने जा रहे हैं। इस इकाई के अध्ययन से आप निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से परिचित हो जायेंगे :

- भारतीय समाज व्यवस्था की जड़ता, जटिलता और रूढ़िवादी मानसिकता से परिचित होंगे;
- गाँव के लोगों के अज्ञान, अंधविश्वास और मतिविभ्रम से साक्षात्कार कर सकेंगे;
- दलित जीवन के यथार्थ, जिजीविषा और संघर्ष से परिचित होंगे;
- गाँव के लोगों की पर्यावरण चेतना को जान सकेंगे;
- दलित समाज की चेतना, जागरण और परिवर्तन की भूमिका से रूबरू होंगे,
- सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा, प्रस्थान और प्रयास से जुड़ सकेंगे,
- भाषा की सम्प्रेषणशीलता और शैली की नवीनता से अवगत होंगे।

10.1 प्रस्तावना

डॉ.तुलसी राम दलित विमर्श के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में दलित समाज के जागरण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और अपनी कलम चलाकर समाज का मानसिक परिवर्तन करने का प्रयास किया है। आपके पाठ्यक्रम में उनकी लोकप्रिय आत्मकथा 'मुर्दहिया' रखी गई है। यह आत्मकथा कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टि से ध्यान आकर्षित करती है। आप इस आत्मकथा की विशेषताओं को विस्तार से समझ सकेंगे। प्रस्तुत आत्मकथा में दलित साहित्य की बुनियादी विशेषताएँ– वेदना, विद्रोह और नकार हैं। साथ ही साथ इस आत्मकथा की अपनी अलग विशेषताएँ भी मौजूद हैं। जैसे कि समकालीन ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश को इस कहानी में बड़ी शिद्दत से उभारा गया है। गाँव में सामाजिक भेदभाव का पालन अमानवीयता से करते हुए दलित आदमी को छोटी–मोटी जरूरतों से केवल इसीलिए वंचित रखा जाता है, क्योंकि वह निम्न जाति में पैदा हुआ और अछूत है। ग्रामीण परिवेश में छुआछूत का पालन काफी अंधता से किया जाता है। आप इस इकाई में कथ्य के विभिन्न पहलुओं से साक्षात्कार कर सकेंगे। आइये इन पहलुओं को विस्तार से जानने–समझने की कोशिश करें।

10.2 समकालीन आत्मकथा साहित्य लेखन परंपरा में दलित हस्तक्षेप

समकालीन हिंदी साहित्य में दलित लेखन का आविर्भाव 1990 ई के आसपास हुआ है। साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्त प्रथमतः आत्मकथा विधा में हुई है। दलित रचनाकारों ने अपने भोगे हुए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए आत्मकथा विधा का चयन किया और दलित समाज के यथार्थ की पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्ति की है। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' को हिंदी की पहली दलित आत्मकथा माना जाता है।

इसका प्रकाशन 1995 ई. में हुआ था। दरअसल, इससे पहले भगवानदास की 'मैं भंगी हूँ' का प्रकाशन हुआ था, लेकिन स्वयं रचनाकार इसे आत्मकथा नहीं मानते हैं इसीलिए नैमिशराय जी को हिंदी की पहली आत्मकथा लिखने का बहुमान मिलता है। इसके उपरांत हिंदी की बहुचर्चित आत्मकथा 'जूठन' का प्रकाशन 1997 ई. में हुआ, जिसके रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। इसमें वंचित, शोषित और प्रताड़ित दलित जीवन का प्रमाणिक दस्तावेज मिलता है। यहाँ से आगे श्रृखंलाबद्ध दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिनमें सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', श्यौराजसिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', डॉ.तुलसी राम की 'मुर्दहिया', 'मणिकर्णिका' आदि आत्मकथाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

अतः कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य में आत्मकथा की विधा को समृद्ध करने में दलित रचनाकारों ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। दलित जीवन के दर्द, पीड़ा और वेदना की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति आत्मकथा विधा में हुई है।

10.3 तुलसी राम का रचना संसार

प्रोफेसर तुलसी राम हिंदी के सुपरिचित रचानाकर रहे हैं। वे एक प्रतिभाशाली एवं सृजनशील साहित्यकार के साथ–साथ गंभीर चिंतक व विचारक भी हैं। उन्हें दलित साहित्य का सशक्त हस्ताक्षर कहा जाता है। उनके लेखन से दलित विमर्श को न केवल बल मिला है, अपितु एक नई चेतना, ऊर्जा और उत्कर्ष भी मिल गया है। उनके लेखन में सदियों से वंचित, उपेक्षित, शोषित और उत्पीड़ित दलित जीवन की वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। वे दलित जीवन के भोगे हुए अनुभवों की सहज और संवेदनशील अभिव्यक्ति करने के लिए जाने–पहचाने जाते हैं। वे अपने लेखन में सामाजिक यथार्थ की बेबाक अभिव्यक्ति करते हैं और समाज में समानता लाने के लिए जद्दोजहद करते हैं। वे अपनी विचारधारा से किसी तरह का समझौता करना नहीं जानते। दरअसल, दलित विमर्श को मजबूती प्रदान करने में तुलसी राम का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा रहा है। यह अलग शब्दों में कहने की आवश्यकता नहीं है कि दलित विमर्श को एक नई ऊँचाई तक पहुँचाने में तुलसी राम ने अपनी एक विशिष्ट भूमिका निभाई है। यहाँ हम उनका व्यक्तिगत एवं साहित्यिक परिचय दे रहे हैं :

तुलसी राम जी का जन्म 01 जुलाई, 1949 ई.को उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के धरमपुर गाँव में हुआ था। उनका बचपन काफी संघर्षों से गुजरा था। वे रंग–रूप से बदसूरत थे। साथ ही उनके चेहरे पर चेचक के दाग थे इसीलिए सभी उन्हें नापसंद करते थे। बचपन में ही उनकी एक आँख चली गई थी और उन्हें सभी बच्चे कन्हा कहकर चिढ़ाते थे। इस तरह उन्हें बचपन से ही काफी मानसिक यातनाओं का सामना करना पड़ा था। पुस्तकें पढ़ने में उनकी दिलचस्पी थी। वे अपनी जमीन से जुड़े रहे और अपने संघर्षमय जीवनानुभवों को नहीं भूले। वे दलित जीवन के दाहक अनुभवों को अपनी आत्मकथा में अभिव्यक्त करते रहे। उनकी शिक्षा-ग्रहण का सफर भी काफी चुनौतियों से भरा रहा है। पढाई के लिए उन्हें घर से भाग जाना पड़ा था। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से अपनी शिक्षा संपन्न की है। इसके बाद वे जेएनयू में राजनीतिशास्त्र के अध्यापक बने और तदुपरान्त जेएनयू के ही सेंटर फॉर रशियन एंड सेंटर ऑफ एशियन

स्टडीज विभाग में प्रोफेसर बन गए। उनकी पत्नी का नाम प्रभा चौधरी और बेटी का नाम अंगीरा है। तुलसी राम जी का देहांत 13 फरवरी, 2015 ई. को नई दिल्ली में हो गया।

डॉ.तुलसी राम संवेदनशील इंसान थे। उन्होंने साहित्य की आत्मकथा विधा में अपनी कलम चलाकर दलित विमर्श का सशक्तीकरण किया है। वे एक लोकप्रिय दलित आत्मकथाकार हैं। उनकी आत्मकथा दो खण्डों में प्रकाशित हुई हैं। उसका पहला खंड 'मुर्दहिया' शीर्षक से 2005 ई. में प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली से हुआ है। इसके उपरान्त दूसरा खंड 'मणिकर्णिका' शीर्षक से 2009 ई. में प्रकाशित हुआ है। अतः तुलसी राम एक चर्चित आत्मकथाकार है।

संक्षेप में, प्रोफेसर तुलसी राम दलित साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं, साथ ही साथ वे हिंदी साहित्य के विशिष्ट रचनाकार हैं। उनके लेखन से हिंदी साहित्य समृद्ध, संपन्न और सार्वभौम हुआ है। उनके साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

1. दलित साहित्य की दो–तीन विशेषताएँ लिखिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

2. दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा को प्रकाशित कीजिए ।

   ....

   ....

   ....

   ....

3. डॉ. तुलसी राम के व्यक्तिगत जीवन संघर्ष को संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

4. डॉ. तुलसी राम के कृतित्व को रेखांकित कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

10.4 'मुर्दहिया' : आत्मकथा के विविध पहलू

डॉ. तुलसी राम विरचित 'मुर्दहिया' एक बहुचर्चित आत्मकथा है। यह आत्मकथा अपने समय और समाज के विविध सन्दर्भों को समेटे हुए है। इसमें समकालीन लोकजीवन के अनेक प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें विशेषतः दलित जीवन के सुख–दुःख, आशा–आकांक्षा, शोषण– संघर्ष, यथार्थ–सपने आदि की संवेदनशील अभिव्यक्ति हुई है। इसमें समकालीन परिदृश्य की सटीक, सशक्त और सार्थक प्रस्तुति हुई है। हम यहाँ केवल आपके पाठ्यक्रम में सम्मिलित आत्मकथा के अंश का विवेचन कर रहे हैं।

10.4.1 मुर्दहिया और दलित जीवन

दलित जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गई महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है–'मुर्दहिया'। इसमें दलितों के सामजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक जीवन की बहुमुखी तस्वीर उभरती है। इस आत्मकथा की भूमिका पढ़ने से स्पष्ट होता है कि दलित जीवन की संघर्ष गाथा प्रस्तुत करना ही आत्मकथा का मुख्य प्रयोजन रहा है। आत्मकथाकार डॉ. तुलसी राम ने इस आत्मकथा की भूमिका में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "मुर्दहिया हमारे गाँव धरमपुर (आजमगढ़) की बहुद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मंदिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो भी मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता है। हमारे गाँव की 'जिओ पोलिटिक्स' यानी 'भू–राजनीति' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केंद्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरण तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि 'मुर्दहिया' मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विशेष रूप से मरे हुए पशुओं के माँसपिंड से जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार 'मुर्दहिया' को एक कला–स्थली के रूप में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की 'हुआं–हुआं' वाली आवाज उसकी निर्जनता को भंग कर देती है। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुख–दर्द अपने अंदर लिए 'मुर्दहिया' में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' होता। 'मुर्दहिया' सही मायनों में हमारी दलित बस्ती की जिंदगी थी।" जाहिर है कि इस आत्मकथा में दलित जीवन ही केंद्र में है। भले ही यह किसी व्यक्ति विशेष (डॉ. तुलसी राम) के जीवन की घटनाओं को केंद्र बनाकर लिखी गई है, बावजूद इसके वह समस्त दलित जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। अतः डॉ. तुलसी राम की 'मुर्दहिया' यह आत्मकथा केवल उनके निजी जीवन की अनुभूति बनकर नहीं रह गई है, अपितु यह तो दलित जीवन की सामूहिकता, सामाजिकता, सर्वसमावेशकता और सार्वभौमिकता का बेहतरीन उदाहरण बन गई है। यह व्यष्टि बोध से समष्टि बोध का सफर कराती है। यह कहना उचित है कि दलित जीवन की समग्र अभिव्यक्ति करने की दृष्टि से भी इस आत्मकथा का विशेष महत्त्व रहा है।

10.4.2 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन

डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में स्त्री जीवन का मार्मिक चित्रण किया है। इस आत्मकथा में जहाँ एक ओर उत्पीड़ित स्त्री जीवन के चित्र मिलते है, वहीं दूसरी ओर विद्रोही स्त्री के दर्शन भी होते हैं। आपके पाठ्यक्रम में सम्मलित 'मुर्दहिया' के अंश

में स्त्री जीवन के विविध संदर्भ मिलते हैं। पहला संदर्भ यह है कि गाँव की एक लड़की बारात में दूल्हा बनकर आये नचनिया के साथ भाग जाती है। दूसरी लड़की वह है जिसकी शादी उस नचनिया के साथ होने वाली थी। पंचायत में यह फैसला होता है कि इस लड़की की शादी किसी और के साथ कर दी जाएगी। यह संदर्भ स्त्री के दो रूपों को प्रस्तुत करता है– पारंपरिक और आधुनिक। पारंपरिक रूप में स्त्री विभिन्न सामाजिक बंधनों में बंधी हुई है और परंपरा का निर्वहन कर रही है। आधुनिक रूप में वह सामाजिक बंधनों को तोड़ने का काम रही है। डॉ. तुलसी राम ने समाज की स्त्री विरोधी मानसिकता को रेखांकित करते हुए लिखा है, "इस घटना के बाद मठिया की अन्य एक लड़की श्यामा, जो हमारे ही स्कूल में सातवें दर्जे में पढ़ती थी, की शामत आ गई। लोग कहने लगे कि वह बाल खोलकर स्कूल जाती है, बेशवा हो गई है। अतः पढ़ाई उसकी छुड़ा दी गई।" स्पष्ट है कि रुढ़िवादी समाज स्त्री की प्रगति में बाधा उत्पन्न करता है। वह स्त्री शिक्षा के खिलाफ खड़ा हो जाता है। वह नहीं चाहता है कि स्त्री के पारंपरिक रूप में कोई परिवर्तन हो जाए। समाज की इस कुत्सित मानसिकता का 'मुर्दहिया' में सटीक चित्रण हुआ है।

पुरुष हमेशा से ही स्त्री के चरित्र को संशय के नजरिये से देखता रहा है। एक पति अपनी पत्नी का किसी अन्य पुरुष के साथ खुलकर बातें करना बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर सकता है। इसका यथार्थ चित्रण डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा में किया है। वे पुरुष की शंकित मानसिकता को उजागर करते हुए लिखते है, "इसी बीच हमारे घर में भी एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई। मेरी माँ बस्ती के किसी भी व्यक्ति से बात करती, पिता जी तुरंत उसके चरित्र पर उँगली उठाना शुरू कर देते थे। वे माँ को बहुत ही भद्दी–भद्दी गालियाँ देने लगते थे। उनकी गालियों से पता चला कि मेरे नाना का नाम सरजू था। वे हमेशा गाली में 'सरजुआ की बेटी' का इस्तेमाल करते थे। माँ के चरित्र की शिकायत वे उसी गुस्सैल नग्गर चाचा से भी करते। किन्तु नग्गर चाचा हमेशा पिताजी को बुरी तरह से डाँट देते थे और कहते थे कि उनका आरोप झूठा है। नग्गर चाचा के व्यवहार से मुझे बड़ी राहत मिलती थी, किन्तु पिता जी एकदम चित्तविक्षेपी हो गए थे। वे अक्सर माँ को फरूही से मारने दौड़ पड़ते थे। फरूही का इस्तेमाल खेत में क्यारी बनाने के लिए किया जाता था। वह फावड़े की तरह होती थी, जो लकड़ी के फट्ठे से बनाई जाती थी। इसका बेंट लाठी की तरह लम्बा होता था।'' स्पष्ट है कि पुरुष वर्चस्ववादी समाज रचना में स्त्री घरेलू हिंसा का शिकार होती है। उसे शारीरिक अत्याचार, हिंसा और उत्पीड़न को सहन करना पड़ता है। उसकी आजादी पर पति का अधिकार होता है। वह अपनी घुटन को व्यक्त नहीं कर पाती है और सामाजिक दबाव से भरी हुई जिंदगी जीने के लिए मजबूर होती है।

ये सारे संदर्भ पुरुष प्रधान व्यवस्था में स्त्री जीवन वेदना, संवेदना और संघर्ष को प्रस्तुत करते है। भारतीय पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री सबसे ज्यादा पीड़ित, शोषित और उपेक्षित रही है। दलित स्त्री की स्थिति तो और भी अधिक सोचनीय है। वह दोहरे अभिशाप को झेल रही है।

10.4.3 अज्ञान, अंधविश्वास और मतिविभ्रम

डॉ. तुलसी राम इस बात से भलीभांति परिचित है कि किसी भी समाज की अधोगति का

प्रधान कारण होता हैं– अज्ञान और अंधविश्वास इसलिए वे अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में इन मुद्दों को बड़ी शिद्दत से उठाते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा में वे सबसे पहले अपने पिता जी को इस अंधविश्वास में फंसा हुआ पाते हैं। वे लिखते है, "इस बीच मेरे पिता जी गृहकलह से ऊबकर आसनसोल चले गए। वे वहाँ किसी 'कोइलरी' में काम करने के लिए गए थे। किन्तु मुश्किल से पंद्रह दिन रहने के बाद उन्हें सुदेस्सर पांडे की हरवाही छोड़ देने का 'पाप' सताने लगा। अतः अपने अन्धविश्वासी 'ब्रह्महत्या' के पाप से बचने के लिए वे गाँव वापस आ गए।'' स्पष्ट है कि गाँव के लोग इस तरह की धारणाओं में बंधे होते है और 'पाप–पुण्य' की मान्यताओं में विश्वास रखते हैं। तुलसी राम के पिता जी भी इसके लिए अपवाद नहीं हैं इसीलिए वे अपने मन के भय निवारण के लिए गाँव लौट आते हैं और शहर में मिला रोजगार छोड़ देते हैं।

यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि गाँव की स्त्रियों में शिक्षा का काफी अभाव रहा है। परिणाम स्वरूप उनमें अंधविश्वास का प्रतिशत बहुत ज्यादा पाया जाता है। गाँव की स्त्रियाँ अज्ञान के कारण बहुत जल्दी अन्धविश्वासी मान्यताओं में फंस जाती हैं और भूत–प्रेत की धारणाओं से प्रभावित हो जाती है। डॉ तुलसी राम की 'मुर्दहिया' आत्मकथा में इसका सटीक चित्रण किया है। इस आत्मकथा में 'दुलरिया' नामक एक स्त्री है, जो अंधविश्वास का शिकार बन गई थी। वह तुलसी राम के घर की भाभी थी, जिसका विवाह गोकुल भैया के साथ हुआ था। उसके संदर्भ में आत्मकथाकार ने लिखा है, "अंधविश्वासों की कड़ी में हमारे घर की एक भाभी दुलरिया जो पहलवानी सिखानेवाले गोकुल भैया की पत्नी थी, एक तरह से मनोरोग से पीड़ित हो गई। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह तुरंत ओझैती वाली भभूत माँगने लगती। उस समय पास के ही एक चतुरपुरा गाँव में एक दलित औरत ओझैती करती थी। उसे लोग 'चमैनिया' के नाम से पुकारने लगे थे। लगभग हर रोज वह भभूत लाने को कहती। भभूत यानी अगियारी से बनी राख लाने का काम मुझे ही सौंपा जाता था। वह चमैनिया का भभूत खाते ही कहने लगती कि पेट दर्द बंद हो गया। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुराफत सूझी। मैं घर से शाम के समय भभूत लेने निकलता और मुर्दहिया के पास नटिनिया की झोपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेटकर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहती कि पेट दर्द ठीक हो गया। इसके बाद मैं अनगिनत बार भभूत माँगने पर उस भाभी को नटिनिया की झोपड़ी से राख लाकर देता रहा और वह ठीक होती रहीं। कभी–कभी तो मैं घर से ही राख लेकर इधर–उधर से घूमकर वापस आ जाता था, जिसे खाकर वह ठीक हो जाती थी। वह कहती कि उनका पेट दर्द भूत–प्रेत के कारण होता था।" यह वास्तविकता है कि भूत–प्रेत की अवधारणा मनुष्य की मानसिकता से जुड़ी हुई है और वह पूर्णत कल्पना पर आधारित है। यथार्थ में भूत जैसा कुछ भी नहीं होता है, यह तो मन का वहम मात्र है। इसे मनोविकार भी कहा जा सकता है। डॉ. तुलसी राम ने इस बात का प्रमाण देते हुए 'विनय पिटक' का उदाहरण दिया है। 'विनय पिटक' में कथा है कि एक बार एक बौद्ध भिक्षु भुतेह से बीमार पड़ गया था। उसने सूअर का माँस खाया और खून पीकर स्वस्थ हो गया। उस समय सारे भुक्षुओं में यह मान्यता हो गई कि भुतेह होने पर सूअर का खून पीना चाहिए। यह बात बुद्ध तक पहुँच गई और बुद्ध ने भी भुक्षुओं के मनोविज्ञान को जानकार इसके लिए मान्यता दे दी। वास्तविकता तो यह है कि बुद्ध विज्ञानवादी थे

और अंधविश्वास को आश्रय नहीं देते थे लेकिन उन्होंने मनोरोगियों को स्वस्थ करने के लिए अपने नियमों को लचीला बना दिया था।

डॉ. तुलसी राम ने स्वयं के जीवन अनुभव के माध्यम से भी मतिविभ्रम को रेखांकित किया है। वे कहते हैं कि दूसरों की बात छोड़ दीजिए, मैं स्वयं मतिविभ्रम का शिकार हो गया था। वे कहते हैं कि उन दिनों हमारे खेत में गन्ने की फसल बोई जा रही थी। गन्ने की फसल को पानी की बहुत ज्यादा आवश्यकता होती है। गाँव में सिंचाई के बहुत कम साधन उपलब्ध थे इसीलिए गाँव में उपलब्ध रहट चलाने की हमारे परिवार बारी रात में आ गई। गन्ने की सिंचाई के लिए रात भर रहट हांकना था। रात भर लालटेन जलाया जाता था, लेकिन मिट्टी का तेल खत्म हो गया था। घरवालों ने मुझे रात में मिट्टी टडवां गाँव के दुकान से तेल लाने के लिए भेज दिया था। आत्मकथाकार अपने अनुभव को इन शब्दों में व्यक्त करते है–"मैं अंगोछे में आधा सेर जौ बाँधकर तेल लेने चल पड़ा। ऐसे किसी भी काम के लिए घर वाले हमेशा रात के समय मुझे ही भेजा करते थे, जिसका एकमात्र कारण यह था कि अपशकुन होने के कारण मेरा चाहे जो भी अनिष्ट हो जावे, किन्तु घर के किसी अन्य व्यक्ति का कुछ न बिगड़े। यहाँ तक कि घर का कोई आदमी बरहलगंज बाजार जाता और लौटते समय रात हो जाती, तो हमेशा मुझे मुर्दहिया के पास भेजकर बाजार गए आदमी को जोर से चिल्लाकर पुकारने के लिए कहा जाता था। मुर्दहिया के सन्नाटे से लगाईं गई मेरी आवाज बहुत दूर तक जाती, जिसे सुनकर बाजार से लौटता हुआ आदमी मेरी तरह चिल्लाकर कहता : आवत हंई। मैं उन्हें लेकर वापस आ जाता, किन्तु जब कभी मैं कहीं से रात होने पर लौटता, घर के किसी को वैसी हांक लगाने के लिए नहीं भेजा जाता। रहट वाले दिन मैं तेल लेने उसी मुर्दहिया से होते हुए टडवां चला गया। जाते समय जरा भी नहीं डरा। किन्तु लौटते समय चारों तरफ सोता पड़ गया था और जंगली रास्ते से गुजरते हुए मुर्दहिया एकाएक डरावनी लगने लगी। रात उजाली थी, क्योंकि चाँद मुर्दहिया के ठीक ऊपर जगमगा रहा था। कुछ दूर पीपल के पेड़ पर बैठा एक गिद्ध फड़फड़ा उठा और मैं काल्पनिक भूत की आशंका का शिकार हो गया। मैंने देखा कि ठीक मुर्दहिया के बीच से एक काला व्यक्ति निर्वस्त्र बैठा हुआ लाठी के बराबर की ऊँचाई पर आसमान से मेरी तरफ चलता दिखाई दे रहा था। मैं जब खड़ा हो जाता, तब वह आकृति आसमान में ही रुक जाती थी और जब चलने लगता था, तो वह आकृति मेरी तरफ आने लगती थी। मैं डरकर 'हनुमान चालीसा' पढ़ते हुए एक हाथ में मिट्टी तेल वाली बोतल तथा दूसरे हाथ में लाठी को मजबूत पकड़े हुए नटिनिया की झोपड़ी की तरफ भागा। जब मैं भाग रहा था तो मेरे उठते कदमों से जोरदार धूल का झोंका भी उठने लगता था। जैसे–तैसे हांफता हुआ मैं रहट के पास पहुँच गया। मैंने इस घटना का उल्लेख किसी से नहीं किया, किन्तु सुबह होने पर चमरिया माई को धार–पुजौरा चढ़ाया। इस उठते हुए भूत के प्रकरण के दौरान मुझे सबसे ज्यादा चिंता इस बात थी कि यदि मिट्टी के तेल वाली बोतल गिरकर टूट गई तो घर पर मेरी बहुत दुर्गति होगी। ''जाहिर है कि इस भुतहा प्रकरण तत्कालीन भयग्रंथि से उत्पन्न मेरा मतिभ्रम था।'' इस तरह लेखक ने अपने जीवन की घटनाओं का बड़ी ईमानदारी से विवरण प्रस्तुत किया है और अंत में यह स्पष्ट किया है कि भूत–प्रेत जैसी कोई चीज में वे विश्वास नहीं करते। ये सभी मन की काल्पनिक उपज है, जिसका यथार्थ में किसी भी तरह का अस्तित्व नहीं है। इसके लिए हमारा अज्ञान, अंधविश्वास और मतिभ्रम ही जिम्मेवार है। इस पर हम वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं।

10.4.4 राजनीति, धर्म और दलित

देश की आजादी के बाद लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना हुई। देश को चलाने की जिम्मेदारी जनता द्वारा चुनी हुई सरकार को दी जाने लगी। 1952 ई.में पहली बार आम चुनाव हुए और जनता की सरकार बन गई। उस समय समाज पर धर्म का काफी प्रभाव था इसीलिए राजनीति ने धर्म के साथ अपनी सांठगांठ बाँध ली। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू बन गए। एक ओर धर्म के ठेकेदार राजनीति में आकर धर्म की सत्ता स्थापित करने की जद्दोजहद करने लगे, तो दूसरी ओर राजनेताओं ने धर्म की रक्षा का आश्वासन लोगों को दिया। खुलकर राजनीति होने लगी। राजनेता गाँव– गाँव जाकर धर्म के नाम पर वोट माँगने लगे। राजनीति और धर्म की मिलीभगत का सटीक चित्रण डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में किया है। वे प्रस्तुत आत्मकथा में समकालीन राजनीति की समालोचना करते हैं। उन्होंने 1962 ई. आम चुनाव का जिक्र करते हुए तत्कालीन गाँव की राजनीति का यथार्थ चित्रण किया है। तुलसी राम कहते हैं कि उन दिनों नेता गाँव–गाँव घूमकर चुनाव प्रचार करते थे। परिणामस्वरूप गाँव में उत्साह का माहौल बन गया था। उस समय तुलसी राम स्कूल में पढ़ते थे। उनका स्कूल भी चुनावी माहौल के प्रभाव से अछूता नहीं था। उनके स्कूल में भी एक साधू का भाषण रखा गया था। इस संदर्भ में आत्मकथाकार ने लिखा है, "इसी माहौल में पहला सामना हुआ बनारस के विख्यात साधू स्वामी करपात्री जी से, जो हमारे स्कूल में पधारे थे। हमारे स्कूल के संस्थापक बाबा हरिहर दास ने पहले ही सूचना दे दी थी कि स्वामी जी अमुक दिन आनेवाले है। स्वामी जी के बारे में अध्यापक लोग कहते थे कि दोनों करों यानी हाथों में जितना भोजन अंटता है, उतना ही वे खाते है, इसीलिए उनको 'करपात्री' कहा जाता है। इस तथ्य को जानकार हम सभी बहुत अचंभित थे। उनके आने से पहले हमें स्कूल के पीछे पोखरा के किनारे आम के पेड़ों के नीचे बैठाया गया था। शीघ्र ही बाबा हरिहर दास, जो हमेशा श्वेत वस्त्रधारी रहते थे, गेरुवाधारी स्वामी करपात्री जी को अपने मंदिर से लेकर सभास्थल पर पहुँचे। तत्काल अध्यापकों के आदेशानुसार हम सभी छात्रों ने साश्टांग लेटकर दूर से ही उनको प्रणाम किया। उस समय हम सभी स्वामी करपात्री जी के दर्शन से भावविभोर हो गए थे। वे बिना किसी प्रस्तावना के गाने लगे: श्री राम जै राम, जै जै राम। हम सभी छात्र तथा अध्यापक पूरे एक घंटे तक इस जाप को दोहराते रहे। इसके अलावा वे कुछ भी नहीं बोले। बाद में बाबा हरिहर दास ने बताया कि स्वामी करपात्री जी देश में 'रामराज्य' लाने के लिए कार्य कर रहे हैं। जाहिर है कि उनकी पार्टी 'रामराज्य परिषद' चुनाव मैदान में थी।" यह तत्कालीन राजनीति का चरित्र और चेहरा है। उस समय कट्टर धार्मिक संगठन काफी सक्रिय हो गए थे और अपने अजेंडे पर काम कर रहे थे। वे राजनीति में अपनी जगह बनाकर अपने कार्य को अंजाम देने को हर संभव कोशिश कर रहे थे। बचपन में तो तुलसी राम स्वामी करपात्री जी काफी प्रभावित हुए थे, किन्तु बाद में बनारस विश्वविद्यालय में अध्ययन के दरम्यान उन्हें स्वामी करपात्री की असलियत का पता चला कि वे सती प्रथा और बाल विवाह जैसी कुरीतियों के समर्थक थे। उन्होंने मार्क्सवाद का विरोध किया था। इतना ही नहीं वे तो काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर में दलितों के प्रवेश के विरोधी थे। साथ ही उन्होंने डॉ अंबेडकर द्वारा प्रस्तुत 'हिन्दू कोड बिल' विरोध करते हुए कहा था कि डॉ अंबेडकर हिन्दू धर्म को नहीं समझते, उन्हें संस्कृत नहीं आती। स्पष्ट है कि धर्म के ठेकेदार अपने मकसद की प्राप्ति के लिए राजनीति में आ रहे थे। उनमें संवैधानिक मूल्यों के प्रति कोई जवाबदेही नहीं थी।

इसके अलावा उस समय राजनीति में 'जनसंघ पार्टी' काफी सक्रिय थी। उस पार्टी के उम्मीदवार भी तुलसी राम के स्कूल में प्रचार करने आये थे। लेकिन दलितों में जनसंघ के प्रति कोई आस्था नहीं थीं, क्योंकि यह अमीरों की पार्टी थी। दलितों का तो गरीबी से सदियों से रिश्ता रहा है। दलितों में जनसंघ के लिए एक नारा काफी लोकप्रिय हो गया था–'इस दिए में तेल नहीं, चुनाव जीतना खेल नहीं।' इसका एक कारण यह था कि जनसंघ का चुनाव चिन्ह 'दिया–बाती' था। स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी दलितों का हिमायती नहीं था। यह राजनीतिक पार्टियाँ निजी स्वार्थ को साधने में लगी थी। दलित उत्थान की इनमें भी सद्भावना नहीं थी। आशा की एक ही किरण दिखाई दे रही थी– कम्युनिस्ट पार्टी। यह पार्टी अमीरों के खिलाफ और गरीबों के साथ खड़ी हुई थी। उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी के लिए एक युवक ने 'ललका झंडा, मोटका झंडा' गीत तैयार किया था। यह गीत काफी लोकप्रिय हुआ था। तुलसी राम स्पष्ट शब्दों में कहते है, "कुलमिलाकर हमारे क्षेत्र में कांग्रेस, कम्युनिस्ट तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का काफी प्रभाव था, किन्तु हमारे गाँव में जनसंघ का नामलेवा नहीं था।" यह तत्कालीन राजनीति का यथार्थ है, जिसमें राजनेताओं की संकीर्ण सोच से साक्षात्कार होता है। उस समय की राजनीति धर्मवाद, जातिवाद, प्रांतवाद, वर्गवाद की भावना से ऊपर नहीं उठ सकी। परिणाम स्वरूप समाज में दलितों को विकास के सुअवसर नहीं मिले और उनमें असंतोष की भावना पनपने लगी थी। डॉ. तुलसी राम ने तत्कालीन राजनीति के भेदभावपूर्ण मुखौटे का पर्दाफाश अपनी आत्मकथा में किया है।

10.5 'मुर्दहिया' आत्मकथा के अन्य आयाम

डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के अनेक अनुभवों को अभिव्यक्त किया है, जिसका विवेचन हम निम्नलिखित उपविषयों पर कर रहे हैं –

10.5.1 दलित–सवर्ण संघर्ष

दलित और सवर्ण के बीच सदियों से ही संघर्ष होता चला आ रहा है। सवर्ण ब्राह्मण अपने आप को ऊँचा, सर्वश्रेष्ठ और पवित्र समझता है और दलित को नीचा, कनिष्ट और अछूत मानता है। परिणाम स्वरूप ब्राह्मणों में अहंकार पैदा हो गया है। उनके अहंकार की अभिव्यक्ति समय–समय पर होती है। वे छोटी–मोटी घटनाओं में अपने अहं को प्रदर्शित करते है। डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा में अपने गाँव में हुए दलित– ब्राह्मण विवाद को प्रस्तुत किया है। आत्मकथाकार लिखते हैं, "आम चुनावों के शीघ्र बाद होली का त्यौहार आया। इस अवसर पर हमारी दलित बस्ती से ब्राह्मणों की एक बार फिर ठन गई। हुआ यह कि हमारी चमरौटी बभनौटी के बीच एक स्थान पर होलिका दहन के लिए रेड का पेड़ काटकर गाड़ा जाता था। यह कार्य होलिका दहन से सवा महीना पूर्व बसंत पंचमी के दिन संपन्न होता था। इसके बाद रोज ब्राह्मण इधर–उधर पड़ी लकडियाँ तथा झाड़–झंखार उठाकर उस रेड गड़े के इर्दगिर्द रख देते थे। इस प्रक्रिया से होलिका के दिन जलाने के लिए लकड़ियों का बड़ा ढेर तैयार हो जाता था। किन्तु उस होली में होलिका दहन के पूर्व कुछ दलितों की झोपड़ियाँ उठाकर ब्राह्मणों ने होलिका में डाल दी। एक अंधविश्वास के कारण होलिका में डाल दी गई वस्तु को वापस उठाकर नहीं लाया जा सकता था। ब्राह्मणों की इस करतूत से दलित बस्ती में हाहाकार मच गया। इस बार

दलितों ने मिलकर तय किया कि वे त्यौहार के बाद वाली सुबह रात का बचा–खुचा खाना ब्राह्मणों के घर माँगने नहीं जायेंगे। स्मरण रहे कि हमारे गाँव में एक सदियों पुरानी परंपरा थी जिसके तहत हर त्योहार के बाद दलित हरवाहों की स्त्रियाँ अपने–अपने जमीदारों के घर से बचा हुआ खाना लाती थीं, जिस पर घर के बच्चे टूट पड़ते थे, क्योंकि ऐसे भोजन स्वादिष्ट हुआ करते थे। सन 1962 की होली के अवसर पर इस तनातनी के कारण दलित ब्राह्मणों के घर से खाना नहीं लाये।" स्पष्ट है कि गाँव में दलित सवर्णों पर आश्रित हो, किन्तु जब दलित के अस्तित्व, अस्मिता और आत्मसम्मान की बात आती है, तब दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। दलित अपने स्वाभिमान के साथ किसी तरह का समझौता करना नहीं चाहते, भले उन्हें भूखे सोना पड़ जाए। इसका एक बेहतरीन उदाहरण 'मुर्दहिया' आत्मकथा में मिलता है। डॉ. तुलसी राम कहते हैं कि दलित–ब्राह्मण संघर्ष ने उस साल की होली को बहुत ही रोचक और यादगार बना दिया था। दोनों में प्रतिस्पर्धात्मक भावना का निर्माण हो गया था, जिससे यह आयोजन बहुत ही सुन्दर बन गया था। आत्मकथाकार के शब्दों में, "इस संदर्भ में एक खास बात यह थी कि बसंत पंचमी के दिन होलिका के गड़ते ही बभनौटी तथा चमरौटी दोनों में होली संगीत समारोह शुरू हो जाते थे जो बड़ी देर रात तक चलते थे। दलित बस्ती का संगीत समारोह पारंपरिक रूप से हमारे घर आयोजित होता था। ब्राह्मणों से तनातनी के कारण दलित बस्ती की होली काफी रोचक हो गई थी। एक तरह की होड़ मच गई थी कि बभनौटी और चमरौटी में किसकी होली बेहतर ढंग से मनाई जाती है।" जाहिर है कि स्पर्धा की भावना से त्यौहार में सुंदरता आ जाती थी।

इस तरह डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा में दलित–सवर्ण संघर्ष की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति की है। यहाँ संघर्ष के विधायक और विघातक दोनों रूपों को देखा जा सकता है।

10.5.2 सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश और दलित

डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा में सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के सुंदर चित्र रेखांकित किये हैं। एक ओर सामाजिक जीवन में गाँव की विविध समस्याओं से लेकर पंचायत में उनके समाधान के बिम्ब मिलते हैं, दूसरी तरफ गाँव की सांस्कृतिक परंपरा के अनेक चित्र देखे जा सकते हैं। 'मुर्दहिया' में लोक गीतों का विशिष्ट प्रयोग हुआ है, जिससे गाँव के सांस्कृतिक जीवन की सुंदर तस्वीर उभरती है। इन लोक गीतों से लोक की भावना से साक्षात्कार होता है। आपके पाठ्यक्रम में आत्मकथा का जो भाग समाविष्ट किया गया है, उसमें तीन लोकगीत हैं। पहला गीत गाँव की राजनीति से जुड़ा है। राजबली यादव नामक लोक कलाकर ने अपनी पार्टी के समर्थन में इस लोक गीत की रचना है। इस लोक गीत का सौंदर्य देखिये–

ललका झंडा
मोटका डंडा
कब उठइबा बलमू
जमींदरवा लुटेरवा
कब भगइबा बलमू।
ललका झंडा
मोटका डंडा
कब उठइबा बलमू।

इस गीत का गाँव के लोगों पर काफी प्रभाव पड़ता है। उनके मन की टीस इस गीत में अभिव्यक्त हुई है। गाँव में जनभावना तक पहुँचने में लोक गीत एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है, जिसका सदुपयोग करना राजनीतिक पार्टियाँ अच्छी तरह से जानती हैं।

गाँव में मनोरंजन का मुख्य माध्यम लोक कलाएँ होती हैं। तुलसी राम के गाँव में भी 'टूंटवा का नाच' लोक कला का बेहतरीन नमूना था। इस संदर्भ में तुलसी राम ने लिखा है, "इस दौरान हमारी दलित बस्ती में एक विवाह समारोह के अवसर पर 'टूंटवा का नाच' आया। टूंटवा की बेटी हमारे गाँव में ब्याही गई थी। वे जन्म से ही एक हाथ के टूटे थे। टूटे हाथ में पंजा नहीं था तथा पूरी बाँह बड़ी पतली थी इसीलिए उन्हें टूंटवा के नाम से जाना जाता था। वे अत्यंत हाजिरजवाब स्वांग थे। उन्होंने एक नाच मंडली खोल ली थी, जिसे 'टूंटवा का नाच' के रूप में बहुत ख्याति मिली थी। वे अपने पेट पर ढेर सारा कपडा बांधकर मोती तोंद बना लेते और फटी हुई कोट पैंट पहनकर सर पर हैट लगाकर अंग्रेज बन जाते। अपने लूले हाथ को दूसरे हाथ की मुट्ठी में ऊपर करते हुए वे मंच पर एक नेता का अभिनय करते हुए गाने लगते :

हम्मै देदा वोट भैया हम्मै देदा वोट
दउरत दउरत फटि गइली है कोट
भैया हम्मै देदा वोट।
लेला दस रूपया कै नोट
भैया हम्मै देदा वोट।
बोलत बोलत सुखि गइलै हैं होंठ
भैया हम्मै देदा वोट।

टूंटवा के इस व्यंग्य ने हमारे पूरे क्षेत्र में धूम मचा दिया था। हम लोग इस गाने को भी गगरे की लक्कड़ध्वनि पर खूब गाते और मनोरंजन करते।'' स्पष्ट है कि लोक कला और लोक गीत का गाँव के सांस्कृतिक जीवन में असाधारण महत्त्व रहा है। इसके द्वारा गाँव के लोगों के सुख–दुःख की अभिव्यक्ति होती है। तुलसी राम ने अपने गाँव की लोक परंपरा को गौतम बुद्ध के समकालीन तालपुट नाटककार से जोड़कर देखा है। तालपुट नाटककार की एक भव्य नाटक मंडली थी जो गाँव–गाँव जाकर लोगों को नाटक दिखाकर अपनी उपजीविका चलाती थी।

इस आत्मकथा में तीसरा लोकगीत तुलसी राम के पिता जी द्वारा गाया गया है। उनके पिता जी होली के अवसर पर अपने द्वारा तैयार किये गए इस लोक गीत को गाते थे–

"कवन बन राम लिये बनबासा
कवन बन राम लिये बनबासा।
सूखल ताल हिलरोन लागे
ठूंठी–ठूंठी डरिया से निकरैला गांसा
कवन बन राम लिये बनबासा।"

कुलमिलाकर कहा जा सकता है कि गाँव के सांस्कृतिक जीवन में लोक कला, लोक गीत और लोक कलाकर का विशिष्ट महत्त्व होता है। ये गाँव के जीवन को सुंदर एवं सरस बनाते हैं।

10.5.3 'मुर्दहिया' में पर्यावरण चेतना

मनुष्य और प्रकृति का घनिष्ठ संबंध रहा है। प्रकृति न केवल मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करती है, बल्कि उसके स्वास्थ्य का भी ध्यान रखती है। मनुष्य भी प्रकृति की अहमियत को समझते हुए उससे भावनिक रिश्ता बनाता है और उसे अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेता है। दरअसल, दोनों एक–दूसरे के पूरक बन गए हैं। बावजूद इसके, दोनों के रिश्तें में खटास तब से आ गई, जब मनुष्य विकास की अंधी दौड़ में शमिल हुआ और प्रकृति का असीमित दोहन करने लगा। परिणाम स्वरूप प्राकृतिक संतुलन बिगड़ने लगा और पर्यावरण संकट पैदा हो गया। गौरतलब है कि पर्यावरण संकट निर्माण करने में विकसित राष्ट्र ही अधिक जिम्मेदार रहे और अविकसित राष्ट्र प्रकृ ति की रक्षा करने में आगे रहे हैं। डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में पर्यावरण चेतना का विवरण किया है। वे आत्मकथा के एक प्रसंग में अपने गाँव और घर की पर्यावरण संवेदना का परिचय देते हैं। आत्मकथाकार कहते हैं कि भंडारी चाचा कलकत्ता की एक जूट मिल से रिटायर होकर घर आये थे। वे अपने साथ कुछ पैसे लाये थे। उन पैसों से एक पेड़ खरीदा गया और उसकी लकड़ी से पुराने घर को नया बनाया गया। पेड़ की कटाई के संदर्भ में जनसाधारण के मन में जो भावनाएँ हैं उन्हें तुलसी राम ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है, "उस समय आठ दस आदमियों का एक ग्रुप 'लकड़चिरवा' कहलाता था। मेरे घर के रजई भैया लकड़चिरवा थे। लकड़चिरवा बहुत कम लोग होते थे, क्योंकि उन दिनों किसी हरे पेड़ को काटना महापाप समझा जाता था। अतः लकड़चिरवा ग्रुप कभी किसी पेड़ को नहीं काटता था। उसके लिए दस–बीस गाँव में कोई एक व्यक्ति ऐसा होता था, जो पाँच रूपये लेकर बिके हुए पेड़ की जड़ को पाँच टांगा मारकर काटता था। इसके बाद लकड़चिरवा ग्रुप उस पेड़ को काटकर गिरा देता। इस पाँच टांगा मारनेवाले व्यक्ति को आम लोग बहुत बुरा समझते थे। हमारे पूरे इलाके में बैलाकोट नामक गाँव में ऐसा सिर्फ एक व्यक्ति था, जो घूम–घूमकर टांगा मारा करता था। उसकी जीविका का वही साधन था। पेड़ों की रक्षा के प्रति हमारे गाँव की यह अनोखी संवेदनशीलता थी। किसी भी हरे पेड़ को काटे जाने के बाद गाँव की महिलाएँ बहुत दुखी हो जाती थीं, विशेष रूप से मेरी बुढ़िया दादी बार–बार ऐसे पेड़ों का जिक्र करती थी। वह अक्सर कहती कि पेड़ को काटने से आसमान उदास लगने लगता है।" स्पष्ट है कि गाँव में पर्यावरण के प्रति अधिक भावनात्मक जुड़ाव होता है। अपने पर्यावरण को हानि पहुँचते देखकर ही वे व्यथित हो जाते हैं लेकिन इधर कुछ दिनों से पर्यावरण के प्रति असंवेदनशीलता बढ़ती जा रही है। मनुष्य के लोभ ने पर्यावरण को बुरी तरह से प्रभावित किया है। पर्यावरण के प्रति संवेदशीलता जगाने में इस आत्मकथा का अमूल्य योगदान रहा है।

10.5.4 उच्च शिक्षा, वैचारिक परिवर्तन और प्रतिरोध

मनुष्य के विचारों में परिवर्तन लाने में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। डॉ. तुलसी राम उच्च शिक्षा विभूषित हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि शिक्षा से ही उनकी विचारधारा में बदलाव आया है। वे कहते हैं कि बचपन में जिन व्यक्तियों के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ था, उनकी विचारधारा की असलियत को उच्च शिक्षा के दौरान पढ़े किताबों

से समझ सका। बिना शिक्षा के इस तरह की समझदारी का विकास होना संभव नहीं था। उनके शब्दों में, "बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र जीवन में मुझे पहली बार 1968 में महापंडित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'रामराज्य और मार्क्सवाद' से पता चला कि स्वामी करपात्री जी ने 1957 में 'मार्क्सवाद और रामराज्य' नाम की एक भारी भरकम पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने सती प्रथा तथा बाल विवाह जैसी अनेक कुरीतियों का समर्थन किया था। इसके अलावा उन्होंने कम्युनिज्म का विरोध तो किया ही था। इतना ही नहीं, स्वामी करपात्री जी ने काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर में दलितों के प्रवेश का जबर्दस्त विरोध किया था जिसके चलते वे जेल भी गये थे। इससे पहले स्वामी जी ने डॉ आंबेडकर द्वारा 1951 में प्रस्तुत 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध करते हुए कहा था कि डॉ आंबेडकर हिन्दू धर्म को नहीं समझते, क्योंकि उन्हें संस्कृत नहीं आती। स्मरण रहे कि डॉ आंबेडकर 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से भारत की समस्त महिलाओं को पुरुषों के सामान अधिकार दिलाना चाहते थे, किन्तु हिन्दू कट्टरपंथियों के विरोध के चलते जवाहरलाल नेहरू ने बिल को वापस ले लिया था, जिसके विरोध में डॉ आंबेडकर ने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया था। इस्तीफे के बाद डॉ आंबेडकर ने कहा था कि जो योगदान वे भारतीय संविधान को लिखकर नहीं कर पाए थे, उसे वे हिन्दू कोड बिल के माध्यम से पूरा करना चाहते थे। इन तमाम जानकारियों के बाद स्वामी करपात्री जी के प्रति सातवें दर्जे में पढ़ते हुए जो अगाध श्रद्धा जागी थी, वह यकायक चकनाचूर हो गई।" स्पष्ट है कि तुलसी राम में इस वैचारिक प्रौढ़ता का विकास शिक्षा की बदौलत हुआ है। शिक्षा से मनुष्य में विवेक जागृत होता है, जिससे वह चीजों की समालोचना करने की क्षमता प्राप्त करता है। प्रतिरोध के मूल में भी विवेक ही काम करता है, जो अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की समझ देता है।

बोध प्रश्न 2

1. 'मुर्दहिया' दलित जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गई महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है – दो–तीन वाक्यों में विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

2. 'मुर्दहिया' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन को उजागर कीजिए।

....

....

....

....

3. डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में राजनीति और धर्म की मिलीभगत का सटीक चित्रण किया है, स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

4. 'सवर्ण और दलित' संघर्ष पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

अभ्यास

1. अज्ञान और अंधविश्वास किसी भी समाज की अधोगति का प्रधान कारण होता है– इसका 'मुर्दहिया' आत्मकथा के विशेष संदर्भ में विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

2. दलित जीवन के संघर्ष पर सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

....

....

....

....

....

....

10.6 'मुर्दहिया' : संरचनागत विशिष्टता

डॉ तुलसी राम की रचना 'मुर्दहिया' की अंतर्वस्तु में जितनी भावों की गहराई है, उतनी ही अभिव्यक्ति की सहजता है। रचना की संरचना में भाषा, संवाद और शैली की विशिष्ट भूमिका होती है। 'मुर्दहिया' की संरचनागत विशेषताएँ निम्नवत हैं–

10.6.1 संप्रेषणीय भाषा

भाषा की सरलता, सहजता और स्पष्टता रचना को संप्रेषणीय बनती है। डॉ. तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' में वर्णनात्मक भाषा का प्रयोग किया है। किसी प्रसंग के वर्णन में इस तरह की भाषा सहायक होती है। वर्णनात्मक भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत है, "अगला साल सन 1962 देश के तीसरे चुनाव वाला साल था। इसकी दस्तक से पहले ही स्कूल में एक बार फिर प्रदर्शनी लगाई गई। इस बार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में पहली बार एक फिल्म दिखाई गई, जिसका नाम था 'चक्रधारी'। सन 1961 के नवम्बर का महीना था। खूब जाड़ा लग रहा था। स्कूल के आसपास के दर्जनों गाँवों से सैकड़ों लोग फिल्म देखने आये थे। स्कूल के सामने मैदान में एक बड़े श्यामपट की तरह सफेद पर्दा लगाया गया था जिस पर जनरेटर के माध्यम से फिल्म दिखाई गई।" जाहिर है कि वर्णन शैली से भाषा में सरसता आ गई है। ग्रामीण परिवेश को सजीव बनाने के लिए रचनाकर तुलसी राम ने स्थानीय लोक भाषा का प्रयोग किया है। इस लोक भाषा में लोक गीत लिखे हैं–

हम्मै देदा वोट भैया हम्मै देदा वोट
दउरत दउरत फटि गइली है कोट
भैया हम्मै देदा वोट।
लेला दस रूपया कै नोट
भैया हम्मै देदा वोट।
बोलत बोलत सुखि गइलै हैं होंठ
भैया हम्मै देदा वोट।

जाहिर है कि लोकभाषा के प्रयोग से रचना की रोचकता, संप्रेषणीयता और सुंदरता बढ़ गई है। लोक जीवन का सजीव चित्रण लोक भाषा में ही संभव हुआ है।

भाषा को सजीव बनाने में बिम्बों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। डॉ. तुलसी राम ने अपनी भाषा में बिम्बों का सुंदर प्रयोग किया है। 'मुर्दहिया' में प्रयुक्त सुंदर बिम्ब का एक उदाहरण प्रस्तुत है– "सन 1961 का साल जाते–जाते हमारे गाँव को झकझोर गया। हुआ यह कि

में दिसम्बर के महीने में कोल्हाड़, यानी घर के सामने जहाँ पेरने वाली कल गड़ी हुई थी, से नधे दोनों बैलों को हांक रहा था, क्योंकि गन्ने की पेराई चल रही थी। पास ही चूल्हे पर गुड़ पकाने के लिए कराहा भी चढ़ा हुआ था। अचानक दोनों बैल बांव–बांव कर चिल्लाते हुए खड़े हो गए और सामने बंधी भैस खूंटा तुडाकर भागने लगी। कराहे का आधा गुड़ हलककर चूल्हे पर गिर गया। शीघ्र ही बस्ती वाले 'भूडौल–भूडौल' कहकर चिल्लाने लगे। गाँव की अनेक झोपड़ियाँ गिर गई। दीवारें भी फट गईं, किन्तु किसी की जान नहीं गई।" स्पष्ट है कि बिम्बात्मक भाषा रचना को सजीव, सचित्र और सुंदर बनाती है। भाषा की सभी विशेषताएँ पाठकों की अभिरुचि बढ़ाने में अपनी विशेष भूमिका निभाती है। भाषा की पठनीयता ही रचना को सफल बनाने पहली सीढ़ी होती है, इसमें कोई दो राय नहीं है।

10.6.2 'मुर्दहिया' की चरित्र योजना

कथावस्तु को आगे बढ़ाने में और उसमें रोचकता लाने में चरित्र योजना का विशिष्ट योगदान होता है। इस बात से तुलसी राम भलीभांति परिचित हैं इसीलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में चरित्रों का चयन और संवादों का प्रयोग बहुत सजगता से किया है। आत्मकथा के इस अंश में अनेक चरित्रों से परिचय हो जाता है, जिसमें सबसे रोचक चरित्र दुलरिया भाभी का है, जो भूत–प्रेत में विश्वास करती है और अंधविश्वास का शिकार बन जाती है। उसकी ऐसी मानसिकता बन गई है कि उसके पेट का दर्द भभूत खाने से ठीक होता है। वास्तविकता यह है कि वह एक तरह से मनोरोग से पीड़ित हो गई थी। दुलरिया भाभी का यह चरित्र ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण में सार्थक साबित हुआ है। इसी तरह स्वामी करपात्री जी का चरित्र भी काफी प्रभावशाली है। आत्मकथाकार ने करपात्री के चरित्र के माध्यम से धार्मिक जीवन का सटीक चित्रण किया है। यह चरित्र यादगार बन गया है। इसके अलावा मुन्नर चाचा, भंडारी चाचा, रजई भैया, बाबा हरिहर दास, पिता जी और आत्मकथाकार का स्वयं का चरित्र भी कथावस्तु को रोमहर्शक बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। भंडारी चाचा के चरित्र से पाठकों का साक्षात्कार इस तरह हो जाता है– "इन्हीं दिनों पिता जी के भाइयों में दूसरे नंबर वाले भंडारी चाचा कलकत्ता की एक जूट मिल से रिटायर होकर घर वापस आए। उन्हें रिटायरमेंट के बाद की कुल जमा राशि 1760 रूपऐ मिले थे। सभी लोग डाकुओं के डर से आतंकित थे। अतः मुन्नर चाचा जो घर के मालिक थे, इन रुपयों को चोर–डाकुओं के भय से एक कपडे में बांधकर रोज उसी भैंसउर में पड़ी चारपाई पर मेरी पीठ के नीचे रख देते थे। मैं इन्हीं नोटों पर हफ्तों सोया करता था। सुबह होते ही मुन्नर चाचा रूपयें को उठा ले जाते थे।" अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं चरित्रों के होने से कथावस्तु में रोचकता आ गई है।

10.6.3 शैली की विविधता

शैली की विविधता से रचना में नवीनता, ताजगी और सुंदरता आती है। हर रचनाकार अपनी एक विशिष्ट शैली से समकालीन रचनाकारों में एक अलग पहचान बनाता है। डॉ तुलसी राम के पास भी अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शैली है, जो उनकी आत्मकथा में दृष्टिगोचर होती है। यहाँ हम उनकी शैलीगत विशेषताओं का विवेचन कर रहे हैं।

डॉ तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' में आत्मकथन, व्यंग्य आदि शैली का प्रयोग किया है। 'मुर्दहिया' आत्मकथा विधा है जिसके कारण इसमें मुख्यतः आत्मकथन शैली का प्रयोग हुआ है। आत्मकथाकार तुलसी राम अपने जीवन के अनुभवों, प्रसंगों और घटनाओं को आत्मकथन शैली में प्रस्तुत करते हैं। आत्मकथन शैली में अभिव्यक्त एक प्रसंग प्रस्तुत है– सन 1961 के ही जाड़े की बात है, पिता जी माँ को मारने के लिए फरूही लेकर दौड़े। मैं वहीं खड़ा था। मैंने बहुत जोर से पिता जी को एक तमाचा मारा। उन्होंने मुझे उलटकर वैसे ही मारा। उनका तमाचा इतनी जोर का था कि मैं कुछ देर के लिए चौंधिया–सा गया था। मुझे कुछ पल के लिए कुछ भी दिखाई नहीं दिया। मुझे ऐसा लगा था कि मानो मैं अंध–सा हो गया। किन्तु इस घटना का परिणाम यह हुआ कि आगे पिता जी माँ को मारने से घबराने लगे। बस्ती के लगभग सभी लोगों ने मुझे सही ठहराया। आगे चलाकर पिता जी के प्रति मेरी घृणा विकराल रूप लेती चली गई।" स्पष्ट है कि आत्मकथन शैली में अनुभूति की ईमानदारी होती है। अपने जीवन की अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति आत्मकथन शैली में ही हो सकती है।

सामाजिक जीवन की विसंगतियों को उजागर करने के लिए व्यंग्य शैली का प्रयोग किया जाता है। डॉ. तुलसी राम ने अंधविश्वास जैसी सामाजिक मान्यताओं को रेखांकित करने के लिए व्यंग्य शैली का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। उनके व्यंग्य का नमूना देखिये– "अंधविश्वासों की कड़ी में हमारे घर की एक भाभी दुलरिया जो पहलवानी सिखानेवाले गोकुल भैया की पत्नी थी, एक तरह से मनोरोग से पीड़ित हो गई। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह तुरंत ओझैती वाली भभूत माँगने लगती। उस समय पास के ही एक चतुरपुरा गाँव में एक दलित औरत ओझैती करती थी। उसे लोग 'चमैनिया' के नाम से पुकारने लगे थे। लगभग हर रोज वह भभूत लाने को कहती। भभूत यानी अगियारी से बनी राख लाने का काम मुझे ही सौंपा जाता था। वह चमैनिया का भभूत खाते ही कहने लगती कि पेट दर्द बंद हो गया। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुराफत सूझी। मैं घर से शाम के समय भभूत लेने निकलता और मुर्दहिया के पास नटिनिया की झोपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेटकर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहती कि पेट दर्द ठीक हो गया। इसके बाद मैं अनगिनत बार भभूत माँगने पर उस भाभी को नटिनिया की झोपड़ी से राख लाकर देता रहा और वह ठीक होती रहीं। कभी–कभी तो मैं घर से ही राख लेकर इधर–उधर से घुमकर वापस आ जाता था, जिसे खाकर वह ठीक हो जाती थी। वह कहती कि उनका पेट दर्द भूत–प्रेत के कारण होता था।" जाहिर है कि व्यंग्य शैली से ही सामाजिक धारणाओं की समालोचना की जा सकती है इसीलिए आत्मकथाकार तुलसी राम ने व्यंग्य शैली से इस प्रसंग की सटीक अभिव्यक्ति की है।

बोध प्रश्न 3

1. 'मुर्दहिया' आत्मकथा की भाषागत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

2. तुलसी राम की चरित्र योजना को रेखांकित कीजिए।

....

....

....

....

3. 'मुर्दहिया' में शैली की नवीनता है, विश्लेषण कीजिए।

....

....

....

....

....

10.7 सारांश

हिंदी साहित्य में अस्मितामूलक लेखन की एक अलग पहचान बन गई है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें स्वानुभूति के यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। अस्मितामूलक लेखन में दलित विमर्श ने अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज करके सभी का ध्यान आकर्षित किया है। दलित जीवन के दाहक अनुभव की सबसे सरल, सहज और सशक्त अभिव्यक्ति आत्मकथा विधा में हुई है क्योंकि आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो व्यक्तिगत जीवन के वास्तविक अनुभवों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में सहायक बन जाती है। दलित आत्मकथा लेखन की लम्बी परंपरा हैं। हिंदी की पहली दलित आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' से लेकर आज तक दर्जनों आत्मकथाएँ लिखी गई हैं। इस परंपरा में डॉ. तुलसी राम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी आत्मकथा 'मुर्दहिया' मील का पत्थर बन गई है। इस आत्मकथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

डॉ. तुलसी राम एक प्रतिभाशाली रचनाकार हैं। उन्होंने एक ही आत्मकथा लिखकर अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके साहित्यिक योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' से उन्होंने साहित्य जगत में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। 'मुर्दहिया' एक बहुचर्चित दलित आत्मकथा है। यह आत्मकथा दलित जीवन के विविध पहलुओं से साक्षात्कार कराती है। इसमें दलितों के संवेदनशील–संघर्षशील जीवन को केंद्र बनाकर सामाजिक यथार्थ को उजागर किया गया है। घरेलू हिंसा की शिकार दलित स्त्री का मार्मिक चित्रण इसमें मिलता है। पुरुष हमेशा स्त्री चरित्र पर उँगली उठाता है और उसकी आजादी को नियंत्रित करना चाहता है। पुरुष की अहंकार से भरी मानसिकता का सटीक चित्रण इस आत्मकथा में मिलता है। साथ ही स्त्री जीवन में शिक्षा के अभाव के परिणामों को भी आत्मकथाकार ने प्रस्तुत किया है। गाँव की स्त्रियाँ अज्ञान के कारण बहुत जल्दी अन्धविश्वासी मान्यताओं में फंस जाती हैं और भूत–प्रेत की धारणाओं से प्रभावित हो जाती है। इसका बेहतरीन वर्णन इस आत्मकथा में मिलता है। गाँव की राजनीति के विविध चित्र इस आत्मकथा में देखे जा

सकते हैं। राजनीति में धर्म और अर्थ का प्रवेश कैसे होता है, इससे गाँव के लोग किस तरह खींचे चले जाते हैं और राजनीति का असली चेहरा और चरित्र क्या है– इन सभी का आलोचनात्मक शब्दांकन इस आत्मकथा में मिलता है। इसके अलावा भी यह आत्मकथा दलित जीवन के अन्य पहलुओं से हमें परिचित कराती है। इसमें दलित–सवर्ण संघर्ष प्रधान रूप से उभरकर सामने आता है। आत्मकथाकार ने अपने गाँव में होली के दिन बभनौटी विरुद्ध चमरौटी के बीच हुए विवाद का यथार्थ चित्रण किया है। यह विवाद सामाजिक विषमता का सटीक चित्र प्रस्तुत करता है। डॉ. तुलसी राम सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के सुंदर चित्र अपनी आत्मकथा में रेखांकित करते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा में एक ओर सामाजिक जीवन में गाँव की विविध समस्याओं से लेकर पंचायत में उनके समाधान के बिम्ब मिलते हैं, दूसरी तरफ गाँव की सांस्कृतिक परंपरा के अनेक चित्र देखे जा सकते हैं। 'मुर्दहिया' में लोक गीतों का विशिष्ट प्रयोग हुआ है, जिससे गाँव के सांस्कृतिक जीवन की सुंदर तस्वीर उभरती है। इस आत्मकथा में पर्यावरण चेतना का विवरण मिलता है। आत्मकथाकार एक प्रसंग के माध्यम से अपने गाँव और घर की पर्यावरण संवेदना का परिचय देते हैं। साथ ही शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करने में यह आत्मकथा अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती है। दलितों में परिवर्तन की चेतना जगाने में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, इसका सुन्दर चित्रण इस आत्मकथा में मिलता है।

'मुर्दहिया' आत्मकथा की संरचना भी आकर्षक है। इसकी भाषा और शैली पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है। भाषा की सरलता, स्पष्टता और सजीवता से रचना की पठनीयता अधिक बढ़ जाती है। डॉ. तुलसी राम भाषा के प्रति सजग रहे हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा ने जहाँ एक ओर ग्रामीण की लोक भाषा का प्रयोग किया है, वहीं दूसरी ओर बिम्बों के प्रयोग से भाषा को सजीवता प्रदान की है। चरित्र के चयन में आत्मकथाकार ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। उनके चरित्र प्रसंग को रोचक बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते है। ग्रामीण जीवन के यथार्थ को साकार करने में इन चरित्रों की विशिष्ट भूमिका रही है। शैली की दृष्टि से भी यह आत्मकथा विशेष उल्लेखनीय है। इसमें भोगे हुए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए आत्मकथाकार ने आत्मकथन शैली का प्रयोग किया है। आत्मकथन शैली में यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है और प्रसंग बड़े ही वास्तविक बन गए हैं। इसके अलावा व्यंग्य शैली का प्रयोग इस आत्मकथा को खास बना देता है। सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार करने के लिए तुलसी राम ने व्यंग्य शैली का सटीक प्रयोग किया है।

कुलमिलाकर कहा जा सकता है कि डॉ. तुलसी राम हिंदी के मूर्धन्य रचनाकार हैं। उनके द्वारा विरचित आत्मकथा 'मुर्दहिया' हिंदी साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

10.8 बोध प्रश्न/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. दलित साहित्य की बुनियादी विशेषताएँ– वेदना, विद्रोह और नकार हैं। साथ ही साथ समकालीन ग्रामीण जीवन की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश को दलित साहित्य में बड़ी शिद्दत से उभरा गया है। गाँव में सामाजिक भेदभाव का पालन अमानवीयता से करते हुए दलित आदमी को छोटी–मोटी जरूरतों से केवल इसीलिए वंचित रखा जाता है, क्योंकि वह निम्न जाति में पैदा हुआ और अछूत है।

2. मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' को हिंदी की पहली दलित आत्मकथा माना जाता है। इसका प्रकाशन 1995 ई. में हुआ था। इसके उपरांत हिंदी की बहुचर्चित आत्मकथा 'जूठन' का प्रकाशन 1997 ई. में हुआ, जिसके रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। इसमें वंचित, शोषित और प्रताड़ित दलित जीवन प्रमाणिक दस्तावेज मिलता है। यहाँ से आगे श्रृखंलाबद्ध दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिनमें सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', श्यौराजसिंह 'बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', डॉ. तुलसी राम की 'मुर्दहिया', 'मणिकर्णिका' आदि आत्मकथाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

3. डॉ. तुलसी राम जी का बचपन काफी संघर्षों से गुजरा था। वे रंग–रूप से बदसूरत थे। जहाँ एक तरफ उनके चेहरे पर चेचक के दाग थे इसीलिए सभी उन्हें नापसंद करते थे, तो वहीं दूसरी तरफ बचपन में ही उनकी एक आँख चली गई था और उन्हें सभी बच्चे 'कनहा' कहकर चिढ़ाते थे। इस तरह उन्हें बचपन से ही काफी मानसिक यातनाओं का सामना करना पड़ा था। उनकी शिक्षा ग्रहण का सफर भी काफी चुनौतियों से भरा रहा है। पढ़ाई के लिए उन्हें घर से भाग जाना पड़ा था। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से अपनी शिक्षा संपन्न की है। इसके बाद वे जेएनयू में राजनीतिशास्त्र के अध्यापक बने और तदुपरान्त जेएनयू के ही सेंटर फॉर रशियन एंड सेंटर ऑफ एशियन स्टडीज विभाग में प्रोफेसर बन गए।

4. डॉ. तुलसी राम संवेदनशील इंसान थे। उन्होंने साहित्य की आत्मकथा विधा में अपनी कलम चलाकर दलित विमर्श का सशक्तीकरण किया है। वे एक लोकप्रिय दलित आत्मकथाकार हैं। उनकी आत्मकथा दो खण्डों में प्रकाशित हुई हैं। उसका पहला खंड 'मुर्दहिया' शीर्षक से 2005 ई. में प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ है। इसके उपरान्त दूसरा खंड 'मणिकर्णिका' शीर्षक से 2009 ई.में प्रकाशित हुआ है। अतः तुलसी राम एक चर्चित आत्मकथाकार है।

बोध प्रश्न 2

1. डॉ. तुलसी राम की 'मुर्दहिया' आत्मकथा केवल उनके निजी जीवन की अनुभूति बनकर नहीं रह गई है, अपितु यह तो दलित जीवन की सामूहिकता, सामाजिकता, सर्वसमावेशकता और सार्वभौमिकता का बेहतरीन उदाहरण बन गई है। यह व्यष्टिबोध से समष्टिबोध का सफर कराती है। इस आत्मकथा में दलित जीवन ही केंद्र में है। भले ही यह किसी व्यक्ति विशेष (डॉ. तुलसी राम) के जीवन की घटनाओं को केंद्र बनाकर लिखी गई है, बावजूद इसके वह समस्त दलित जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। यह कहना उचित है कि दलित जीवन की समग्र अभिव्यक्ति करने की दृष्टि से भी इस आत्मकथा का विशेष महत्त्व रहा है।

2. 'मुर्दहिया' में स्त्री जीवन का मार्मिक चित्रण किया है। इस आत्मकथा में जहाँ एक ओर उत्पीड़ित स्त्री जीवन के चित्र मिलते है, वहीं दूसरी और विद्रोही स्त्री

के दर्शन भी होते हैं। पहला संदर्भ यह है कि गाँव की एक लड़की बारात में दूल्हा बनकर आये नचनिया के साथ भाग जाती है। दूसरी लड़की वह है जिसकी शादी उस नचनिया के साथ होनेवाली थी। पंचायत में यह फैसला होता है कि इस लड़की की शादी किसी और के साथ कर दी जाएगी। यह संदर्भ स्त्री के दो रूपों को प्रस्तुत करता है– पारंपरिक और आधुनिक। पारंपरिक रूप में स्त्री विभिन्न सामाजिक बंधनों में बंधी हुई है और परंपरा का निर्वहन कर रही है। आधुनिक रूप में वह सामाजिक बंधनों को तोड़ने का काम रही है। पुरुष हमेशा से ही स्त्री के चरित्र को संशय के नजरिये से देखता रहा है। एक पति अपनी पत्नी का किसी अन्य पुरुष के साथ खुलकर बातें करना बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर सकता है। इसका यथार्थ चित्रण डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा में किया है। मेरी माँ बस्ती के किसी भी व्यक्ति से बात करती, पिता जी तुरंत उसके चरित्र पर उँगली उठाना शुरू कर देते थे। वे माँ को बहुत ही भद्दी–भद्दी गालियाँ देने लगते थे। ये सारे संदर्भ पुरुष प्रधान व्यवस्था में स्त्री जीवन वेदना, संवेदना और संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं।

3. डॉ. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में राजनीति और धर्म की मिलीभगत का सटीक चित्रण किया है। वे प्रस्तुत आत्मकथा में समकालीन राजनीति की समालोचना करते हैं। उन्होंने 1962 ई. के आम चुनाव का जिक्र करते हुए तत्कालीन गाँव की राजनीति का यथार्थ चित्रण किया है। तुलसी राम कहते हैं कि उन दिनों नेता गाँव–गाँव घूमकर चुनाव प्रचार करते थे। परिणामस्वरूप गाँव में उत्साह का माहौल बन गया था। उस समय तुलसी राम स्कूल में पढ़ते थे। उनका स्कूल भी चुनावी माहौल के प्रभाव से अछूता नहीं था। उनके स्कूल में भी एक बनारस के विख्यात साधू स्वामी करपात्री जी पधारे थे। स्वामी करपात्री जी देश में 'रामराज्य' लाने के लिए कार्य कर रहे हैं। जाहिर है कि उनकी पार्टी 'रामराज्य परिषद' चुनाव मैदान में थी। यह तत्कालीन राजनीति का चरित्र और चेहरा है। उस समय कट्टर धार्मिक संगठन काफी सक्रिय हो गए थे और अपने अजेंडे पर काम कर रहे थे। वे राजनीति में अपनी जगह बनाकर अपने कार्य को अंजाम देने की हर संभव कोशिश कर रहे थे।

4. गाँव में दलित सवर्णों पर आश्रित हो, किन्तु जब दलित के अस्तित्व, अस्मिता और आत्मसम्मान की बात आती है, तब दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। दलित अपने स्वाभिमान के साथ किसी तरह का समझौता करना नहीं चाहते, भले उन्हें भूखे सोना पड़ जाए। इसका एक बेहतरीन उदाहरण 'मुर्दहिया' आत्मकथा में मिलता हैं। डॉ तुलसी राम कहते हैं कि दलित–ब्राह्मण संघर्ष ने उस साल की होली को बहुत ही रोचक और यादगार बना दिया था। दोनों में प्रतिस्पर्धात्मक भावना का निर्माण हो गया था, जिससे यह आयोजन बहुत ही सुन्दर बन गया था।

बोध प्रश्न 3

1. भाषा की सरलता, सहजता और स्पष्टता रचना को संप्रेषणीय बनाती है। डॉ. तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' में वर्णनात्मक भाषा का प्रयोग किया है। किसी प्रसंग

के वर्णन में इस तरह की भाषा सहायक होती है। वर्णन शैली से भाषा में सरसता आ गई है। ग्रामीण परिवेश को सजीव बनाने के लिए रचनाकर तुलसी राम में स्थानीय लोक भाषा का प्रयोग किया है। इस लोक भाषा में लोक गीत लिखे हैं। लोकभाषा के प्रयोग से रचना की रोचकता, संप्रेषणीयता और सुंदरता बढ़ गई है। लोक जीवन का सजीव चित्रण लोक भाषा में ही संभव हुआ है। भाषा को सजीव बनाने में बिम्बों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। डॉ. तुलसी राम ने अपनी भाषा में बिम्बों का सुंदर प्रयोग किया है। 'मुर्दहिया' में प्रयुक्त सुंदर बिम्ब पाठकों की अभिरुचि बढ़ाने में अपनी विशेष भूमिका निभाते हैं। भाषा की पठनीयता ही रचना को सफल बनाने की पहली सीढ़ी होती है, इसमें कोई दो राय नहीं है।

2. तुलसी राम ने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में चरित्रों का चयन और संवादों का प्रयोग बहुत सजगता से किया है। आत्मकथा के इस अंश में अनेक चरित्रों से परिचय हो जाता है, जिसमें सबसे रोचक चरित्र दुलरिया भाभी का है, जो भूत–प्रेत में विश्वास करती है और अंधविश्वास का शिकार बन जाती है। उसकी ऐसी मानसिकता बन गई है कि उसके पेट का दर्द भभूत खाने से ठीक होता है। वास्तविकता यह है कि वह एक तरह से मनोरोग से पीड़ित हो गई थी। दुलरिया भाभी यह चरित्र ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण में सार्थक साबित हुआ है। इसी तरह स्वामी करपात्री जी का चरित्र भी काफी प्रभावशाली है। आत्मकथाकार ने करपात्री के चरित्र के माध्यम से धार्मिक जीवन का सटीक चित्रण किया है। यह चरित्र यादगार बन गया है। इसके अलावा भी मुन्नर चाचा, भंडारी चाचा, रजई भैया, बाबा हरिहर दास, पिता जी और आत्मकथाकार का स्वयं का चरित्र भी कथावस्तु को लोमहर्षक बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं चरित्रों के होने से कथावस्तु में रोचकता आ गई हैं।

3. शैली की विविधता से रचना में नवीनता, ताजगी और सुंदरता आती है। डॉ. तुलसी राम के पास भी अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शैली है, जो उनकी आत्मकथा में दृष्टिगोचर होती है। यहाँ हम उनकी शैलीगत विशेषताओं का विवेचन कर रहे हैं। 'मुर्दहिया' में आत्मकथन, व्यंग्य आदि शैली का प्रयोग किया है। 'मुर्दहिया' आत्मकथा विधा जिस के कारण इसमें मुख्यतः आत्मकथन शैली का प्रयोग हुआ है। आत्मकथाकार तुलसी राम अपने जीवन के अनुभवों, प्रसंगों और घटनाओं को आत्मकथन शैली में प्रस्तुत करते हैं। आत्मकथन शैली में अनुभूति की ईमानदारी होती है। अपने जीवन की अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति आत्मकथन शैली में ही हो सकती है। सामाजिक जीवन की विसंगतियों को उजागर करने के लिए व्यंग्य शैली का प्रयोग किया जाता है। डॉ. तुलसी राम ने अंधविश्वास जैसी सामाजिक मान्यताओं को रेखांकित करने के लिए व्यंग्य शैली का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। व्यंग्य शैली से ही सामाजिक धारणाओं की समालोचना की जा सकती है इसीलिए आत्मकथाकार तुलसी राम ने व्यंग्य शैली से इस प्रसंग की सटीक अभिव्यक्ति की है।

अभ्यास

1. डॉ तुलसी राम जानते हैं कि किसी भी समाज की अधोगति का प्रधान कारण होता है– अज्ञान और अंधविश्वास। वे अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में इन मुद्दों को बड़ी शिद्दत से उठाते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा में वे सबसे पहले अपने पिता जी को इस अंधविश्वास में फंसा हुआ पाते हैं। वे लिखते हैं कि इस बीच मेरे पिता जी गृहकलह से ऊबकर आसनसोल चले गए। वे वहाँ किसी 'कोइलरी' में काम करने के लिए गए थे। किन्तु मुश्किल से पंद्रह दिन रहने के बाद उन्हें सुदेस्सर पांडे की हरवाही छोड़ देने का 'पाप' सताने लगा। अतः अपने अन्धविश्वासी 'ब्रह्महत्या' के पाप से बचने के लिए वे गाँव वापस आ गए। स्पष्ट है कि गाँव के लोग इस तरह की धारणाओं में बंधे होते है और 'पाप–पुण्य' की मान्याताओं में विश्वास रखते है। तुलसी राम के पिता जी भी इसके लिए अपवाद नहीं है इसीलिए वे अपने मन के भय निवारण के लिए गाँव लौट आते हैं और शहर में मिला रोजगार छोड़ देते हैं। यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि गाँव की स्त्रियों में शिक्षा का काफी अभाव रहा है। परिणाम स्वरूप उनमें अंधविश्वास का प्रतिशत बहुत ज्यादा पाया जाता है। गाँव की स्त्रियाँ अज्ञान के कारण बहुत जल्दी अन्धविश्वासी मान्यताओं में फंस जाती हैं और भूत–प्रेत की धारणाओं से प्रभावित हो जाती है। डॉ. तुलसी राम ने 'मुर्दहिया' आत्मकथा में इसका सटीक चित्रण किया है। इस आत्मकथा में 'दुलरिया' नामक एक स्त्री है, जो अंधविश्वास का शिकार बन गई थी। वह तुलसी राम के घर की भाभी थी, जिसका विवाह गोकुल भैया के साथ हुआ था। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह तुरंत ओझैती वाली भभूत माँगने लगती। उस समय पास के ही एक चतुरपुरा गाँव में एक दलित औरत ओझैती करती थी। उसे लोग 'चमैनिया' के नाम से पुकारने लगे थे। लगभग हर रोज वह भभूत लाने को कहती। भभूत यानी अगियारी से बनी राख लाने का काम मुझे ही सौंपा जाता था। वह चमैनिया का भभूत खाते ही कहने लगती कि पेट दर्द बंद हो गया। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुराफत सूझी। मैं घर से शाम के समय भभूत लेने निकलता और मुर्दहिया के पास नटिनिया की झोपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेटकर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहती कि पेट दर्द ठीक हो गया। इसके बाद मैं अनगिनत बार भभूत माँगने पर उस भाभी को नटिनिया की झोपड़ी से राख लाकर देता रहा और वह ठीक होती रहीं। कभी–कभी तो मैं घर से ही राख लेकर इधर–उधर से घूमकर वापस आ जाता था, जिसे खाकर वह ठीक हो जाती थी। वह कहती कि उनका पेट दर्द भूत–प्रेत के कारण होता था। यह वास्तविकता है कि भूत–प्रेत की अवधारणा मनुष्य की मानसिकता से जुड़ी हुई है और वह पूर्णत कल्पना पर आधारित है। यथार्थ में भूत जैसा कुछ भी नहीं होता है, यह तो मन का वहम मात्र है। इसे मनोविकार भी कहा जा सकता है। डॉ. तुलसी राम ने स्वयं के जीवन अनुभव के माध्यम से भी मतिविभ्रम को रेखांकित किया है। वे कहते हैं कि दूसरों की बात छोड़ दीजिए, मैं स्वयं मतिविभ्रम का शिकार हो गया था। लेखक ने अपने जीवन की घटनाओं का बड़ी ईमानदारी से विवरण प्रस्तुत किया

है और अंत में यह स्पष्ट किया है कि भूत–प्रेत जैसी कोई चीज में वे विश्वास नहीं करते। ये सभी मन की काल्पनिक उपज है, जिसका यथार्थ में किसी भी तरह का अस्तित्व नहीं है। इसके लिए हमारा अज्ञान, अंधविश्वास और मतिभ्रम ही जिम्मेवार है। इस पर हम वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर प्रभुत्व प्राप्त कर सकते है।

2. इसका उत्तर आत्मकथा का अंश पढ़कर अपनी भाषा में लिखने का प्रयास करें और उपर्युक्त बातों का अवश्य ध्यान रखें।

इकाई 11 स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न : अंतर्वस्तु और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 निबंध का वाचन (भाग-1)

11.3 निबंध का सार

11.4 संदर्भ सहित व्याख्या

11.5 'स्त्री के अर्थ-स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध की अंतर्वस्तु

11.6 महादेवी वर्मा के लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

11.7 प्रतिपाद्य

11.8 संरचना शिल्प

11.9 सारांश

11.10 शब्दावली

11.11 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ – स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध पर अस्मितामूलक विमर्श के नज़रिए से विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- निबंध की विषयवस्तु को अस्मितामूलक विमर्श की दृष्टि से समझ पाएँगे तथा निबंध का सार अपने शब्दों में लिख सकेंगे।
- व्याख्या की प्रक्रिया को समझते हुए महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध की अंतर्वस्तु को समझ कर उसकी विशेषताओं का उल्लेख कर पाएँगे।
- निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भाषा और शैली की दृष्टि से निबंध पर विचार कर सकेंगे।
- निबंध के प्रतिपाद्य का विश्लेषण भी कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ– स्वातंत्र्य का प्रश्न' को विचार निबंध की श्रेणी में रखा जाएगा। इस निबंध में महादेवी ने स्त्री–अस्मिता से जुड़े गंभीर विषय पर चिंतन–मनन किया है। इस इकाई में आप इसी निबंध का अध्ययन कर रहे हैं। वस्तुतः

निबंध अत्यंत परिष्कृत और प्रौढ़ गद्य रूप है। निबंध आधुनिक साहित्य की सर्वाधिक गंभीर, तर्कप्रधान, विचारात्मक और प्रौढ़ गद्य–विधा है। निबंध में लेखक का स्वाधीन चिंतन झलकता हैं साथ ही साथ अनुभूति की अभिव्यक्ति को भी उसमें परिलक्षित किया जा सकता है।

भारतीय साहित्य में अस्मितामूलक साहित्य का प्रादुर्भाव आधुनिक चिंतन और बोध के समानांतर परिलक्षित किया जा सकता है। अस्मितामूलक विषयों के अंतर्गत उस साहित्य का अध्ययन किया जाता है जिसमें स्त्री, दलित और आदिवासी स्वरों को प्रमुखता से उठाया जाता है। इनकी पीड़ा सदियों तक मुख्यधारा के साहित्य में स्थान नहीं पा सकी। उनकी समस्याओं और वेदना को हमेशा हाशिए पर रखा गया। हाशिए पर खड़ी इन अस्मिताओं से संबंधित मुद्दों को उठाने वाले साहित्य को अस्मितामूलक साहित्य कहा जाता है।

महादेवी कृत 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' नामक निबंध सन् 1935 में 'शृंखला की कड़ियाँ' में प्रकाशित हुआ । इस निबंध में महादेवी ने स्त्री की अस्मिता और स्वतंत्रता के सवाल को बहुत मज़बूती से उठाया है। महादेवी वर्मा (1907–1987 ई०) छायावाद के प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध साहित्यकारों में से एक हैं। उनके साहित्य में अनुभूति की सूक्ष्मता और चिंतन की गंभीरता दोनों का संतुलन है। नीहार (1930) , रश्मि (1932), नीरजा (1934) , सान्ध्यगीत (1936), दीपशिखा (1942), अग्निरेखा (मरणोपरांत प्रकाशित–1990) आदि उनके महत्त्वपूर्ण काव्य–संग्रह हैं। कवयित्री होने के साथ–साथ वे एक चिंतनशील गद्यकार भी थीं। 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' महादेवी वर्मा का विचार प्रधान निबंध है। इसकी विशेषताओं का अध्ययन करने से पूर्व इस निबंध का वाचन कीजिए।

11.3 निबंध का वाचन

भाग 1

अर्थ सदा से शक्ति का अंध–अनुगामी रहा है। जो अधिक सबल था उसने सुख के साधनों का प्रथम अधिकारी अपने आपको माना और अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार ही धन का विभाजन करना कर्त्तव्य समझा। यह सत्य है कि समाज की स्थिति के उपरांत उसके विकास के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह सबल रहा चाहे निर्बल, मेधावी था चाहे मंदबुद्धि, सुख के नहीं तो जीवन–निर्वाह के साधन देना आवश्यक–सा हो गया; परंतु यह आवश्यकता भी शक्ति की पक्षपातिनी ही रही। सबल ने दुर्बलों को उसी मात्रा में निर्वाह की सुविधाएँ देना स्वीकार किया, जिस मात्रा में वे उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। इस प्रकार समाज की व्यवस्था में भी वह साम्य न आ सका जो सबके व्यक्तित्व को किसी एक तुला पर तोलता।

सारी राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य व्यवस्थाओं की रूपरेखा शक्ति द्वारा ही निर्धारित होती रही और सबल की सुविधानुसार ही परिवर्तित और संशोधित होती गई, इसी से दुर्बल को वही स्वीकार करना पड़ा जो सुगमतापूर्वक मिल गया। यही स्वाभाविक भी था।

आदिम युग से सभ्यता के विकास तक स्त्री सुख के साधनों में गिनी जाती रही। उसके लिए परस्पर संघर्ष हुए, प्रतिद्वंद्विता चली, महाभारत रचे गये और उसे चाहे इच्छा से हो और चाहे अनिच्छा से, उसी पुरुष का अनुगमन करना पड़ता रहा जो विजयी प्रमाणित हो सका। पुरुष ने उसके अधिकार अपने सुख की तुला पर तोले, उसकी विशेषता पर नहीं; अतः समाज की सब व्यवस्थाओं में उसके और पुरुष के अधिकारों में एक विचित्र विषमता मिलती है। जहाँ तक सामाजिक प्राणी का प्रश्न है, स्त्री, पुरुष के समान ही सामाजिक सुविधाओं की अधिकारिणी है, परंतु केवल अधिकार की दुहाई देकर ही तो वह सबल निर्बल का चिरंतन संघर्ष और उससे उत्पन्न विषमता नहीं मिटा सकती।

एक ओर सामाजिक व्यवस्थाओं ने स्त्री को अधिकार देने में पुरुष की सुविधा का विशेष ध्यान रखा है, दूसरी ओर आर्थिक स्थिति भी परावलम्बन से रहित नहीं रही। भारतीय स्त्री के संबंध में पुरुष का भर्ता नाम जितना यथार्थ है उतना संभवतः और कोई नाम नहीं। स्त्री, पुत्री, माता आदि सभी रूपों में आर्थिक दृष्टि से कितनी परमुखापेक्षिणी रहती हैं, यह कौन नहीं जानता। इस आर्थिक विषमता के पक्ष और विपक्ष दोनों ही में बहुत कुछ कहा जा सकता है और कहा जाता रहा है।

आर्थिक दृष्टि से स्त्री की जो स्थिति प्राचीन समाज में थी, उसमें अब तक परिवर्तन नहीं हो सका, यह विचित्र सत्य है।

वेद–कालीन समाज में पुरुष ने नवीन देश में फैलने के लिए संतान की आवश्यकता के कारण और अनाचार को रोकने के लिए विवाह को बहुत महत्त्व दिया और संतान की जन्मदात्री होने के कारण स्त्री भी अपूर्व गरिमामयी हो उठी। उसे यज्ञ जैसे धर्म–कार्यों में पति का साथ देने के लिए सहधर्मिणीत्व और गृह की व्यवस्था के गृहणीत्व का श्लाघ्यपद भी प्राप्त हुआ, परंतु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने पर भी आर्थिक दृष्टि से वह नितांत परतंत्र ही रही।

गृह और संतान के लिए द्रव्य–उपार्जन पुरुष का कर्त्तव्य था, अतः धन स्वभावतः उसी के अधिकार में रहा। गृहिणी गृहपति की आय के अनुसार व्यय कर गृह का प्रबंध और संतान–पालन आदि कार्य करने की अधिकारिणी मात्र थी।

प्राचीन समाज में पुरुष से भिन्न स्त्री की स्थिति स्पृहणीय मानी ही नहीं गई, इसके पर्याप्त उदाहरण उस समय की सामाजिक व्यवस्था में मिल सकेंगे। प्रत्येक कुमारिका वयस्क होने पर गृहस्थ धर्म में दीक्षित होकर पति के गृह चली जाती थी और फिर पुत्रों के समर्थ होने पर वानप्रस्थ आश्रम में पति की अनुगामिनी बनती थी। पुत्र पिता की समस्त संपत्ति का अधिकारी होता था, परंतु कन्या को विवाह के अवसर पर प्राप्त होने वाले यौतुक के अतिरिक्त और कुछ देने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई। जिन कुमारिकाओं ने गृह–धर्म स्वीकार नहीं किया उन्हें तपस्विनी के समान अध्ययन में जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता थी, परंतु उस स्थिति में गृहस्थ के समान ऐश्वर्यभोग उनका ध्येय नहीं रहता था।

स्त्री को इस प्रकार पिता की संपत्ति से वंचित करने में क्या उद्देश्य रहा, यह कहना कठिन है। यह भी संभव है कि स्त्री के निकट वैवाहिक जीवन को अनिवार्य रखने के लिए ऐसी व्यवस्था की गई हो और यह भी हो सकता है कि पुरुष ने उस संघर्षमय जीवन में इस

विधान की ओर ध्यान देने का अवकाश ही न पाया हो। कन्या को पिता की संपत्ति में स्थान देने पर एक कठिनाई और भी उत्पन्न हो सकती थी। कभी युवतियाँ स्वयंवरा होती थीं और कभी विवाह के लिए बलात् छीनी भी जा सकती थीं। ऐसी दशा में पैतृक संपत्ति में उनके उत्तराधिकारी होने पर अन्य परिवारों के व्यक्तियों का प्रवेश भी वंश–परंपरा को अव्यवस्थित कर सकता था। चाहे जिस कारण से हो, परंतु इस विधान ने पिता के गृह में कन्या की स्थिति को बहुत गिरा दिया, इसमें संदेह नहीं। विधवा भी पुनर्विवाह के लिए स्वतंत्र थीं, अतएव उसके जीवन–निर्वाह के लिए विशेष प्रबंध की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

प्राचीन समाज का ध्यान अपनी वृद्धि की ओर अधिक होने के कारण उसने स्त्री के मातृत्व का विशेष आदर किया, यह सत्य है; परंतु सामाजिक व्यक्ति के रूप में उसके विशेष अधिकारों का मूल्य आंकना संभव न हो सका। उसके निकट स्त्री, पुरुष की संगिनी होने के कारण ही उपयोगी थी, उससे भिन्न उसका अस्तित्व चिंता करने योग्य ही नहीं रहता था। अपनी संपूर्ण सुविधाओं और समस्त सुखों के लिए स्त्री का पुरुष पर निर्भर रहना ही अधिक स्वाभाविक था, अतः समाज ने किसी ऐसी स्थिति की कल्पना ही नहीं की, जिसमें स्त्री पुरुष से सहायता बिना माँगे हुए ही जीवन पथ पर आगे बढ़ सके। पिता, पति, पुत्र तथा अन्य संबंधियों के रूप में पुरुष स्त्री का सदा ही भरण–पोषण कर सकता था, इसलिए उसकी आर्थिक स्थिति पर विचार करने की किसी ने आवश्यकता ही न समझी। स्त्री के प्रति समाज की यह धारणा इतनी पुरानी हो गई है कि अब उसकी अस्वाभाविकता और अनौचित्य को हम एक प्रकार से भूल ही गये हैं, अन्यथा ऐसी स्थिति बहुत काल तक न ठहर सकती।

आरंभ में प्रायः सभी देशों के समाज ने स्त्री को कुछ स्पृहणीय स्थान नहीं दिया परंतु सभ्यता के विकास के साथ–साथ स्त्री की स्थिति में भी परिवर्तन होता गया। वास्तव में स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने का मापदण्ड कही जा सकती है। नितांत बर्बर समाज में स्त्री पर पुरुष वैसा ही अधिकार रखता है, जैसा वह अपनी अन्य स्थावर संपत्ति पर रखने को स्वतंत्र है। उसके विपरीत पूर्ण विकसित समाज में स्त्री पुरुष की सहयोगिनी तथा समाज का आवश्यक अंग मानी जाकर माता तथा पत्नी के महिमामय आसन पर आसीन रहती है।

भारतीय स्त्री की स्थिति में आदिम–युग की स्त्री की परवशता और पूर्ण विकसित समाज के नारीत्व की गरिमा का विचित्र सम्मिश्रण है। उसके प्रति समाज की श्रद्धा की मात्रा पर विचार कर कोई उसे पूर्ण संस्कृत समाज का अंग ही समझ सकता है, परंतु उसके जीवन का व्यावहारिक रूप एक दूसरी ही करुण गाथा सुनाता है। संभवतः उसे धर्मप्राण युग ने स्त्री को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत स्थान देकर ही अपने कर्त्तव्य की इति समझ ली; उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सका। मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और संपूर्ण आत्म–समर्पण बंदी के विवश कर्त्तव्य के समान जान पड़ने लगे।

शताब्दियाँ की शताब्दियाँ आती जाती रहीं, परंतु स्त्री की स्थिति की एकरसता में कोई परिवर्तन न हो सका। किसी भी स्मृतिकार ने उसके जीवन की विषमता पर ध्यान देने का अवकाश नहीं पाया; किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी समस्या को नहीं देखा।

अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्त्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसकी उच्छृंखल बहुलता में जितने दोष हैं वे अस्वीकार नहीं किये जा सकते, परंतु इसके नितांत अभाव में जो अभिशाप हैं वे भी उपेक्षणीय नहीं। विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विश के समान है। दीर्घकाल का दासत्व जैसे जीवन की स्फूर्तिमयी स्वच्छंदता नष्ट करके उसे बोझिल बना देता है, निरंतर आर्थिक परवशता भी जीवन में उसी प्रकार प्रेरणा–शून्यता उत्पन्न कर देती है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलंबन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

समाज में पूर्ण स्वतंत्र तो कोई हो ही नहीं सकता; क्योंकि सापेक्षता ही सामाजिक संबंध का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति उसी मात्रा में दूसरे पर निर्भर है, जिस मात्रा में दूसरा उसकी अपेक्षा रखता है। पुरुष–स्त्री भी इसी अर्थ में अपने विकास के लिए एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं, इसमें संदेह नहीं। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब यह सापेक्ष भाव एक की ओर अधिक घट या बढ़ जाता है। स्त्री और पुरुष यदि अपने सुखों के लिए एक दूसरे पर समान रूप से निर्भर रहते तो उनके संबंध में विषमता आने की संभावना ही न रहती, परंतु वास्तविकता यह है कि भारतीय स्त्री की सापेक्षता सीमातीत हो गई। पुरुष अपने व्यावहारिक जीवन के लिए स्त्री पर उतना निर्भर नहीं है जितना स्त्री को होना पड़ता है। स्त्री उसके सुखों के अनेक साधनों में एक ऐसा साधन है जिसके नष्ट हो जाने पर कोई हानि नहीं होती। एक प्रकार से पुरुष ने कभी उसके अभाव का अनुभव करना ही नहीं सीखा, इसी से उसे स्त्री के विषय में विचार करने की आवश्यकता भी कम पड़ी। स्त्री की स्थिति इससे विपरीत है। उसे प्रत्येक पग पर, प्रत्येक सांस के साथ पुरुष से सहायता की भिक्षा माँगते हुए चलना पड़ता है।

जीवन में विकास के लिए दूसरों से सहायता लेना बुरा नहीं; परंतु किसी को सहायता दे सकने की क्षमता न रखना अभिशाप है। सहयात्री वे कहे जाते हैं, जो साथ चलते हैं; कोई अपने बोझ को सहयात्री कहकर अपना उपहास नहीं करा सकता। भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार रूप में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका। उन दोनों का आदान–प्रदान सामाजिक प्राणियों की स्वेच्छा से स्वीकृत सहयोग की गरिमा न पा सका, क्योंकि एक ओर नितांत परवशता और दूसरी और स्वच्छंद आत्मानिर्भरता थी। उनके कार्यक्षेत्र की भिन्नता तो आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है परंतु इससे उनकी सापेक्षता में विषमता आने की संभावना नहीं रहती। यह विषमता तो स्थिति–वैशम्य से ही जन्म और विकास पाती है।

बोध प्रश्न 1

आपने 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध के उपर्युक्त अंश को ध्यान से पढ़ा होगा। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिये

गये उत्तरों से मिलाइए। अगर आपके उत्तर सही न हों तो निबंध के उक्त अंश को दोबारा पढ़िए।

1. पाठ के अनुसार इनमें से जो सही हो, उन पर ☑ का निशान लगाइए।

   (क) अर्थ सदा से शक्ति का अंध–अनुगामी रहा है। (सही / गलत)

   (ख) सामाजिक व्यवस्थाओं ने स्त्री को अधिकार देने में पुरुष की सुविधा का कोई विशेष ध्यान नहीं रखा। (सही / गलत)

   (ग) युवतियाँ स्वयंवरा होती थीं। (सही / गलत)

   (घ) जीवन के विकास में दूसरे की सहायता लेना बुरा है। (सही / गलत)

2. महादेवी वर्मा के अनुसार स्त्री के जीवन का अभिशाप है :

   (क) सहयात्री होना।

   (ख) सहायता दे सकने की क्षमता न रखना।

   (ग) कार्यक्षेत्र की भिन्नता।

   (घ) सुख का साधन होना।

3. अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि :

   (क) वह प्रेरणा शून्य बनाता है।

   (ख) स्वच्छंद आत्मनिर्भर बनाता है।

   (ग) सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा करना है।

   (घ) सामाजिक संबंध का मूल है।

4. निबंध के अनुसार भारतीय समाज में बर्बर और पूर्ण विकसित समाज का सम्मिश्रण किस प्रकार है?

   ....

   ....

   ....

भाग–2

भारतीय समाज में जिस अनुपात में स्त्री जाग्रत हो सकी,उसी के अनुसार अपनी सनातन सामाजिक स्थिति के प्रति उसमें असंतोष भी उत्पन्न होता जा रहा है। उस असंतोष की मात्रा जानने के लिए हमारे पास अभी कोई मापदण्ड है ही नहीं, अतः यह कहना कठिन है कि उसकी जागृति ने उसकी चिर–अवनत दृष्टि को जिस क्षितिज की ओर फेर दिया है, वह उजले प्रभात का संदेश दे रहा है या शक्ति संचित करती हुई आँधी का। ऐसे असंतोष प्रायः बहुत कुछ मिटा–मिटा कर स्वयं बनते हैं और थोड़ा सा बनाकर स्वयं ही

मिट जाते हैं। भविष्य को उज्ज्वलतम रूप देने के लिए समाज को, कभी–कभी सहस्रों वर्षों की अवधि में धीरे–धीरे एक–एक रेखा अंकित कर बनाये हुए अतीत के चित्र पर काली तूली फेरना पड़ जाता है। कारण, प्रत्येक निर्माण विध्वंस के आधार पर स्थिर है और प्रत्येक नाश निर्माण के अंक में पलता है।

असंख्य युगों से असंख्य संस्कार और असंख्य भावनाओं ने भारतीय स्त्री की नारी–मूर्ति में जिस देवत्व की प्राण–प्रतिष्ठा की थी, उसका कोई अंश बिना खोये हुए वह इस यंत्रयुग की मानवी बन सकेगी, ऐसी संभावना कम है। अवश्य ही हमारे समाज को, यह सोचना अच्छा नहीं लगता कि उसकी निर्विकार भाव से पूजा और उपेक्षा स्वीकार कर लेने वाली चिर मौन प्रतिमा के स्थान में ऐसी सजीव नारी–मूर्ति रख दी जावे, जो पल–पल में उसके मनोभावों के साथ रुश्ट और तुष्ट होती रहती हो। वास्तव में तो भारतीय स्त्री अब तक वरदान देने वाली देवी रही है, फिर अचानक आज उसका कुछ माँग बैठना क्यों न हमें आश्चर्य में डाल दे। झाँझ और घड़ियाल के स्वरों में धूप दीप के मध्य अपने पूजागृह में अंध बधिर के समान मौन बैठा हुआ देवता यदि एकाएक उठकर हमारी पूजास्तुति का निरादर कर हमारे सारे गृह पर अधिकार जमाने को प्रस्तुत हो जावे, तो हम वास्तव में संकट में पड़ सकते हैं। हमारी पूजा अर्चा की सफलता के लिए यह परम आवश्यक है कि हमारा देवता हमारी वस्तुओं पर हमारा ही अधिकार रहने दे और केवल वही स्वीकार करे जो हम देना चाहते हैं। इसके विपरीत होने पर तो हमारी स्थिति भी विपरीत हो जायगी। भारतीय स्त्री के संबंध में भी यही सत्य हो रहा है। उसको बहुत आदर–मान मिला, उसके बहुत गुणानुवाद गाये गये, उसकी ख्याति दूर–दूर देशों तक पहुँचाई गई, यह ठीक है परंतु मंदिर के देवता के समान ही उसकी मौन जड़ता में ही अपना कल्याण समझते रहे। उसके अत्यधिक श्रद्धालु पुजारी भी उसकी निर्जीवता को ही देवत्व का प्रधान अंश मानते रहे और आज भी मान रहे हैं।

इस युगान्तर दीर्घ जीवन–शून्य जीवन में स्त्री ने क्या पाया, यह कहना बहुत प्रिय न जान पड़ेगा, परंतु इतना तो 'सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात्' के अनुसार भी कहा जा सकता है कि इस व्यवहार से उसके मन में जीवन को जानने की उत्सुकता जाग्रत हो गई। पिछले कुछ वर्षों में जीवन की परिस्थितियों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उस कोलाहल में स्त्री को कुछ सजग होना ही पड़ा। इसमें संदेह है कि इससे भिन्न स्थिति में वह उतनी शीघ्रता से सतर्क हो सकती है या नहीं। इस वातावरण को बिना समझते हुए स्त्री की माँगों के संबंध में कोई धारणा बना लेना यदि अनुचित नहीं तो बहुत उचित भी नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान युग में भी जिनकी परिस्थितियाँ ष्वास लेने की स्वच्छंदता तक नहीं देतीं और जिन्हें जड़ता के अभिशाप को ही वरदान समझना पड़ता है, उनके सुख–दुख तो हृदय की सीमा से बाहर झाँक ही नहीं सकते, फिर उनके सुख–दुःखों का वास्तविक मूल्य आँक सकना हमारे लिए कैसे संभव हो सकता है। परंतु जिन स्त्रियों के निराश असंतोष में हमें अपने समाज का असहिष्णुता से भरा अन्याय प्रत्यक्ष हो जाता है उनके स्पष्ट भाव को समझने में भी हम भूल कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी विश्वास योग्य धारणा भी इतनी विश्वास योग्य नहीं है कि हम उसे बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार कर सकें।

हम प्रायः अपनी सनातन धारणा का जितना अधिक मूल्य समझते हैं उतना दूसरे व्यक्ति के अभाव और दुःख का नहीं। यही कारण है कि जब तक व्यक्तिगत असंतोष सीमातीत होकर हमारे संस्कार–जनित विश्वासों को आमूल नष्ट नहीं कर देता तब तक हम उसके अस्तित्व की उपेक्षा ही करते रहते हैं। स्त्री की स्थिति भी युगों से ऐसी ही चली आ रही है। उसके चारों ओर संस्कारों का ऐसा क्रूर पहरा रहा है कि उसके अन्तरतम जीवन की भावनाओं का परिचय पाना ही कठिन हो जाता है। वह किसी सीमा तक मानवी है और उस स्थिति में उसके अधिकार रह सकते हैं, यह भी वह तब सोचती है जब उसका हृदय बहुत अधिक आहत हो चुकता है। फिर उसके व्यक्तिगत अधिकारों और उनकी रक्षा के साधनों के विषय में कुछ कहना तो व्यर्थ ही है। समाज ने उसकी निश्चेष्टता को भी उसके सहयोग और संतोष का सूचक माना और अपने पक्षपात और संकीर्णता को भी अपने विकास और उसके जीवन के लिए अनुकूल और श्रेयस्कर समझने की भूल की।

स्त्री के जीवन की अनेक विवशताओं में प्रधान और कदाचित् उसे सबसे अधिक जड़ बनानेवाली अर्थ से संबंध रखती है और रखती रहेगी, क्योंकि वह सामाजिक प्राणी की अनिवार्य आवश्यकता है। अर्थ का प्रश्न केवल उसी के जीवन से संबंध रखता है, यह धारणा भ्रान्ति मूलक है। जहाँ तक सामाजिक प्राणी का संबंध है स्त्री उतनी ही अधिक अधिकार संपन्न है, जितना पुरुष, चाहे वह अपने अधिकारों का उपयोग करे या न करे। समाज न उनके उपयोग का मूल्य घटा सकता है और न बढ़ा सकता है, केवल वह बंधनों से उसकी शक्ति और बुद्धि को बांधकर उसे जड़ बना सकता है, परंतु उन बंधनों में कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो केवल उसके लिए ही नहीं, वरन् सबके लिए घातक सिद्ध होंगे।

अर्थ का विषम विभाजन भी एक ऐसा ही बंधन है, जो स्त्री–पुरुषों दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। यह सत्य है कि यह प्रश्न आज का नहीं है वरन् हमारे समाज के समान ही पुराना हो चुका है, परंतु यह न भूलना चाहिए कि आधुनिक युग की परिस्थितियाँ प्राचीन से अधिक कठिन हैं। जैसे–जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं, हमारा जीवन अधिक जटिल होता जाता है और हमें और अधिक उलझनभरी परिस्थितियों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इसी से अतीत के साधन लेकर हम अपने गंतव्य पथ पर बहुत आगे नहीं जा सकते। आदिम युग की नारी के लिए जो साधारण कष्ट की स्थिति होगी वह आधुनिक नारी का जीवन–यापन ही कठिन कर सकती है। वर्तमान युग में अन्य व्यक्तियों के सामने जो जीवन–निर्वाह की कठिनाइयाँ हैं, उनसे स्त्री श्री स्वतंत्र नहीं, क्योंकि वह भी समाज का आवश्यक अंग है और उसके जीवन के विकास से ही समुचित सामाजिक विकास संभव हो सकता है।

सुदूर अतीत काल में विशेष परिस्थितियों से प्रभावित होकर निरंतर संघर्ष के कारण समाज स्त्री को जो न दे सका उसी को आदर्श बनाकर उसके प्रत्येक अधिकार को तोलना न आधुनिक समाज के लिए कल्याणकार हो सका है, न हो सकने की संभावना है। उचित तो यही था कि नवीन परिस्थितियों में नवीन कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए वह किया जाता जो पहले से अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता, उसका कार्य तो उनकी ओर संकेत मात्र कर देना है। यदि हम उस संकेत को आदेश के रूप में ग्रहण करें और उसी से अपनी सब समस्याओं को सुलझाना चाहें तो यह इच्छा हमारे ही विकास की बाधक रहेगी।

कोई नियम, कोई आदर्श सब काल और सब परिस्थितियों के लिए नहीं बनाया जाता; सबमें समय के अनुसार परिवर्तन संभव ही नहीं, अनिवार्य हो जाते हैं। प्राचीन आधार–शिला को बिना हटाये हुए हम उस पर वर्तमान का निर्माण करके अपने जीवन के मार्ग को प्रशस्त करते रह सकते हैं, अन्यथा कोई प्रगति संभव ही नहीं रहती।

समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की स्त्रियों तक ही स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के संबंध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बंधन में बंधी हुई है। कहीं पुरुष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं अपने स्वामित्व की शक्ति से लाभ उठा कर उसे इतना अधिक परावलंबी बना दिया है कि वह उसकी सहायता के बिना संसार–पथ पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।

संपन्न और मध्यम वर्ग की स्त्रियों की विवशता, उसके पतिहीन जीवन की दुर्वहता समाज के निकट चिरपरिचित हो चुकी है। वे शून्य के समान पुरुष की इकाई के साथ सब कुछ हैं, परंतु उससे रहित कुछ नहीं। उनके जीवन के कितने अभिशाप उसी बंधन से उत्पन्न हुए हैं, इसे कौन नहीं जानता! परंतु इस मूल त्रुटि को दूर करने के प्रयत्न इतने कम किये गये हैं कि उनका विचार कर आश्चर्य होता है।

जिन स्त्रियों की पाप–गाथाओं से समाज का जीवन काला है, जिनकी लज्जाहीनता से जीवन लज्जित है, उनमें भी अधिकांश की दुर्दशा का कारण अर्थ की विषमता ही मिलेगी। जीवन की आवश्यक सुविधाओं का अभाव मनुष्य को अधिक दिनों तक मनुष्य नहीं बना रहने देता, इसे प्रमाणित करने के लिए उदाहरणों की कमी नहीं। वह स्थिति कैसी होगी, जिसमें जीवन की स्थिति के लिए मनुष्य को जीवन की गरिमा खोनी पड़ती है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है! स्त्री ने जब कभी इतना बलिदान किया है नितांत परवश होकर ही और यह परवशता प्रायः अर्थ से संबंध रखती रही है। जब तक स्त्री के सामने ऐसी समस्या नहीं आती जिसमें उसे बिना कोई विशेष मार्ग स्वीकार किये जीवन असंभव दिखाई देने लगता है तब तक वह अपनी मनुष्यता को जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु के समान ही सुरक्षित रखती है। यही कारण है कि वह क्रूर से क्रूर, पतित से पतित पुरुष की मलिन छाया में भी अपने जीवन का गौरव पालती रहती है। चाहे जीर्ण–शीर्ण ठूँठ पर आश्रित लता होकर जीवित रहना उसे स्वीकृत हो, परंतु पृथ्वी पर निराधार होकर बढ़ना उसके लिए सुखकर नहीं। समाज ने उसके जीवन की ऐसी व्यवस्था की है जिसके कारण पुरुष के अभाव में उसके जीवन की साधारण सुविधाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। उस दशा में हताश होकर वह जो पथ स्वीकार कर लेती है वह प्रायः उसके लिए ही नहीं, समाज के लिए भी घातक सिद्ध होता है।

आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री की जीवनधारा ने जिस दिशा को अपना लक्ष्य बनाया है उनमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता ही सबसे अधिक गहरे रंगों में चित्रित है। स्त्री ने इतने युगों के अनुभव से जान लिया है कि उसे सामाजिक प्रामाणिक प्राणी बने रहने के लिए केवल दान की आवश्यकता नहीं है, आदान की भी है, जिसके बिना उसका जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता। वह आत्म–निवेदित वीतराग तपस्विनी ही नहीं, अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता के रूप में मानवी भी है और रहेगी। ऐसी स्थिति में उसे वे सुविधाएँ, वे सभी मधुर कटु भावनाएँ चाहिए जो जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकती हैं।

पुरुष ने उसे गृह में प्रतिष्ठित कर वनवासिनी की जड़ता सिखाने का जो प्रयत्न किया है उसकी साधना के लिए वन ही उपयुक्त होगा।

आज की बदली हुई परिस्थितियों में स्त्री केवल उन्हीं आदर्शों से संतोष न कर लेगी जिनके सारे रंग उसके आँसुओं से धुल चुके हैं, जिनकी सारी शीतलता उसके संताप से उष्ण हो चुकी है। समाज यदि स्वेच्छा से उसके अर्थ संबंधी वैशम्य की ओर ध्यान न दे,उसमें परिवर्तन या संशोधन को आवश्यक न समझे तो स्त्री का विद्रोह दिशाहीन आँधी–जैसा वेग पकड़ता जायगा और तब एक निरंतर ध्वंस के अतिरिक्त समाज उससे कुछ और न पा सकेगा। ऐसी स्थिति न स्त्री के लिए सुखकर है, न समाज के लिए सृजनात्मक।

बोध प्रश्न 2

1. स्त्री के भीतर अपनी सनातन सामाजिक स्थिति के प्रति असंतोष कब उत्पन्न हुआ? स्पष्ट कीजिए।

   ....

   ....

   ....

2. महादेवी वर्मा ने नारी को चिर मौन प्रतिमा क्यों कहा है? स्पष्ट कीजिए।

   ....

   ....

   ....

3. आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री के जीवन का लक्ष्य क्या है?

   ....

   ....

   ....

11.3 निबंध का सार

'स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध में महादेवी वर्मा ने महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता के सवाल को बहुत मज़बूती से उठाया है। इस निबंध में आर्थिक आज़ादी को महिलाओं की अधिकार–चेतना के साथ जोड़ा गया है। स्त्री–अस्मिता के सवाल को यदि भारतीय संदर्भ में देखें तो इस मुद्दे को लेकर महादेवी वर्मा अपने समय में सक्रिय दिखाई देती हैं।

यह निबंध 'शृंखला की कड़ियाँ' में संकलित है, जिसका प्रकाशन वर्ष सन् 1935 है। यह निबंध भारतीय संदर्भ में महिला–मुक्ति के सवाल का साहित्यिक दस्तावेज़ है। इस निबंध

में लेखिका ने पितृसत्ता की ताक़त को आर्थिक–शक्ति के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक–पौराणिक संदर्भों से यदि देखा जाए तो स्त्री को समाज में सुख के साधन के रूप में देखा गया है। पुरुष ने हमेशा से स्त्री के अधिकारों को अपने सुख के आधार पर देखा है।

समाज में स्त्री भी पुरुष की तरह ही बराबर का अधिकार रखती है किंतु केवल इसी आधार पर उस विषमता को नहीं मिटाया जा सकता जो सबलता और निर्बलता के आधार पर समाज में विकसित हुई। यह विषमता वस्तुतः आर्थिक वैषम्य के कारण उत्पन्न हुई है। भारतीय स्त्री को हर स्थिति में आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर निर्भर रहना पड़ा है। लेखिका वेद–कालीन समाज का संदर्भ देते हुए कहती हैं कि विवाह के साथ–साथ स्त्री के मातृ रूप को महत्त्व तो समाज में दिया गया जिसका कारण संतान उत्पत्ति के माध्यम से समाज के विस्तार और फैलाव को माना जा सकता है किंतु धन और संपत्ति पर स्त्री का अधिकार कभी नहीं रहा।

पुरुष से अलग स्त्री की स्थिति को समाज में कभी स्वीकार किया ही नहीं गया। इसके अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में देखे जा सकते हैं। पिता की संपत्ति से कन्या को वंचित करना वस्तुतः समाज में उसकी स्थिति के गिरने का एक बड़ा कारण सिद्ध हुआ। स्त्री बाल्य अवस्था में पिता, यौवन–काल में दाम्पत्य–जीवन में प्रवेश करके पति और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहने के लिए अभिशप्त रही। लेखिका मानती हैं कि इसका कारण धन–संपत्ति में स्त्री को अधिकार–विहीन बनाया जाना है।

प्राचीन समाज का उद्देश्य मुख्यतः विस्तार का भाव था। अतः संतान–उत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया गया जिस कारण स्त्री के मातृत्व–रूप को विशेष गौरव दिया गया किंतु सामाजिक–व्यक्ति के रूप में स्त्री को अधिकारों से वंचित ही रखा गया। पुरुष की संगिनी होकर ही वह समाज के लिए उपयोगी मानी गयी। स्त्री की आर्थिक स्थिति पर कभी विचार ही नहीं किया गया। यह धारणा इतनी पुरानी है कि इसके अनौचित्य पर भी कभी सवाल नहीं खड़ा किया गया।

वस्तुतः स्त्री की स्थिति को समाज के विकास का मानदंड माना जा सकता है। बर्बर समाज में स्त्री पर पुरुष उसी तरह अधिकार रखता है जिस तरह वह अन्य वस्तुओं पर रखता है किंतु इससे इतर विकसित समाज में स्त्री को पुरुष की सहयोगिनी मानकर माता और पत्नी के रूप में समाज का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता रहा है। भारतीय समाज में इन दोनों ही स्थितियों का विचित्र मिश्रण है। समाज ने स्त्री को आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर इतना निर्भर कर दिया कि पुरुष के प्रति स्त्री का प्रेम, त्याग और समर्पण एक कारागृह जैसी विवशता में तब्दील होने लगता है।

आर्थिक 'परवशता' स्त्री के लिए अभिशाप सिद्ध हुई। निरंतर आर्थिक परवशता के कारण स्त्री का सामाजिक महत्त्व व अधिकार भी समाप्त होता चला गया। व्यावहारिक स्तर पर पुरुष स्त्री पर उतना निर्भर नहीं है जितना स्त्री को हर क़दम पर पुरुष से सहायता के लिए भीख माँगनी पड़ती है। इस कारण भारतीय पुरुष, स्त्री को सहयोगी का आदर नहीं दे सका। पुरुष की स्वच्छंद आत्मनिर्भरता के समक्ष स्त्री की नितांत परवशता, समाज में एक असंतुलित स्थिति का निर्माण करती है।

भारतीय समाज में स्त्री के जिस देवी रूप की प्रतिष्ठा की गई है, उसे लेखिका 'चिर मौन प्रतिमा' के रूप में देखती हैं जो पूजा और उपेक्षा दोनों को निर्विकार भाव से स्वीकार करती चली जाती है। उसकी 'मौन जड़ता' और 'निर्जीवता' को ही देवत्व के साथ जोड़ा गया। समाज ने स्त्री की 'निश्चेष्टता' को उसका सहयोग माना और अपने पक्षपातपूर्ण और संकीर्णता पर आधारित विधान को वह विकास की तरह देखता रहा।

आर्थिक स्वावलंबन सामाजिक प्राणी होने की अनिवार्य शर्त है। अतः आर्थिक पराधीनता भारतीय स्त्री की सबसे बड़ी विवशता रही है। स्त्री केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं रही अपितु उसे प्रत्येक स्थिति में परावलंबी बनाया गया। संपन्न और मध्यम वर्ग की स्त्रियाँ भी पतिविहीनता की स्थिति में आर्थिक विपन्नता का शिकार होती हैं। यह स्थिति मनुष्य को अधिक दिनों तक मनुष्य नहीं रहने देती। स्त्री को जीवन की गरिमा खोनी पड़ती है। क्रूर और पतित पुरुष को भी स्वीकार करना पड़ता है।

आधुनिक युग में इसीलिए स्त्री ने आर्थिक स्वावलंबन को ही आधार बनाया है। आज उसे पराधीन बनाने वाले प्राचीन आदर्शों के सारे रंग उसी के आँसुओं व संताप से धुल चुके हैं। इस स्थिति को लेखिका एक आंदोलनकारी आँधी के रूप में देखती हैं और समाज को लगभग आगाह करती हुई लिखती हैं कि यह स्थिति किसी के लिए भी सुखकर नहीं हो सकती, न स्त्री के लिए और न ही समाज के लिए।

11.4 संदर्भ सहित व्याख्या

महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' को ध्यानपूर्वक पढ़ने तथा निबंध का सार पढ़ने के उपरांत यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस निबंध के माध्यम से महादेवी वर्मा ने 1935 में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समानांतर स्त्री की आर्थिक–स्वतंत्रता के सवाल को संपूर्ण भारतीय ऐतिहासिक–सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उठाया। इस निबंध को और अधिक विस्तार से समझने के लिए निबंध के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

निबंध के चुनिंदा अंशों की संदर्भ सहित व्याख्या को पढ़कर यह समझा जा सकता है कि निबंध की व्याख्या कैसे की जाती है। निबंध की व्याख्या करने की प्रक्रिया के अंतर्गत सर्वप्रथम व्याख्या के लिए प्रस्तुत अंश संदर्भ को निबंध में समझना चाहिए। इसके माध्यम से निबंध में व्याख्येय अंश की पृष्ठभूमि की जानकारी मिलती है जिससे बात का आशय समझने में मदद मिलती है। निबंध की व्याख्या को प्रारंभ करने के लिए सबसे पहले निबंध का नाम और लेखक का नाम लिखना आवश्यक होता है। संदर्भ के अंतर्गत व्याख्येय अंश के निबंध में संदर्भ को भी लिखना चाहिए। इसके उपरांत व्याख्या लिखनी चाहिए। व्याख्या से तात्पर्य है कही हुई बात को अपने शब्दों में विश्लेषित करना। व्याख्या के अभ्यास के माध्यम से विद्यार्थी में विश्लेषण क्षमता का विकास होता है।

जीवन में विकास के लिए दूसरों से सहायता लेना बुरा नहीं; परंतु किसी को सहायता दे सकने की क्षमता न रखना अभिशाप है। सहयात्री वे कहे जाते हैं, जो साथ चलते हैं; कोई अपने बोझ को सहयात्री कहकर अपना उपहास नहीं करा सकता। भारतीय पुरुष ने स्त्री को या तो सुख के साधन के रूप में पाया या भार रूप में, फलतः वह उसे सहयोगी का आदर न दे सका। उन दोनों का आदान–प्रदान सामाजिक प्राणियों की स्वेच्छा से स्वीकृत

सहयोग की गरिमा न पा सका, क्योंकि एक ओर नितांत परवशता और दूसरी ओर स्वच्छंद आत्मनिर्भरता थी। उनके कार्यक्षेत्र की भिन्नता तो आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, परंतु इससे उनकी सापेक्षता में विषमता आने की संभावना बनी रहती। यह विषमता तो स्थिति–वैषम्य से ही जन्म और विकास पाती है।

संदर्भ : उपर्युक्त अंश महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' से लिया गया है। इस निबंध में महादेवी वर्मा ने स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और स्वावलंबन के महत्त्व को रेखांकित किया है। समाज में प्रत्येक मनुष्य की एक–दूसरे पर निर्भरता में संतुलन होना चाहिए। संतुलन न होने की स्थिति में सामाजिक वैषम्य व असमानता की स्थिति निर्मित होती है। उपर्युक्त पंक्तियो में इस सापेक्षता के संतुलन को स्त्री–पुरुष संबंधों के संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है।

व्याख्या : लेखिका का विचार है कि समाज में परस्पर सापेक्षता का एक संतुलन मौजूद होता है। प्रत्येक मनुष्य की एक–दूसरे पर निर्भरता लगभग संतुलित सापेक्षता की स्थिति में होती है। प्रत्येक मनुष्य को जीवनयापन करने तथा विकास के लिए एक–दूसरे की मदद की आवश्यकता होती है और इसमें कोई ग़लत बात भी नहीं है। किंतु इस स्थिति में संतुलन तभी तक बना रह सकता है जब दोनों एक–दूसरे की मदद करने में सक्षम हों। एक दूसरे के साथ चलने की क्षमता रखने वालों को ही सहयात्री कहा जाएगा। कोई अपने बोझ अर्थात् सामान को सहयात्री नहीं कह सकता। भारतीय समाज में इस संदर्भ में स्त्री को कभी पुरुष का सहयात्री नहीं माना गया। या तो उसे उपभोग की वस्तु तथा सुख के साधन की तरह देखा गया या फिर एक बोझ की तरह। अतः उसे सहयोगी या सहयात्री का सम्मान समाज में नहीं मिल पाया। पुरुष की स्वच्छंद आत्मनिर्भरता के समक्ष स्त्री युगों–युगों से परवशता की स्थिति में ही रही है। अतः दोनों के आदान–प्रदान को परस्पर सहयोग का गौरव प्राप्त नहीं हो सका। दोनों के कार्यक्षेत्र हमेशा से अलग–अलग रहे। पुरुष को स्वावलंबन और संपत्ति का अधिकार मिला, किंतु महिलाओं के हिस्से में पुरुष पर आर्थिक निर्भरता तथा घरेलू काम–काज ही आए। इसके कारण दोनों की स्थितियों में विषमता बढ़ती चली गई। इस स्थिति को लेखिका स्त्री के लिए एक अभिशाप की तरह देखती है।

विशेष :

1. निबंध के इस अंश में लेखिका पुरुष–स्त्री के सहयोग–संतुलन में आई विषमता को स्त्री के लिए अभिशाप मानती है जिसका मुख्य कारण स्त्री का परावलंबी होना है।

2. विषय के अनुरूप संस्कृतनिष्ठ परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है, जिससे वैचारिक तर्कशीलता और अधिक प्रभावशाली हो गयी है।

3. वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शैली के कारण संप्रेषणीयता का प्रभावशाली विस्तार हो पाया है।

इसी निबंध के एक और अंश की व्याख्या दी जा रही है।

अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्त्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसकी उच्छृंखल बहुलता में जितने दोष हैं वे अस्वीकार नहीं किये जा सकते, परंतु

इसके नितांत अभाव में जो अभिशाप हैं वे भी उपेक्षणीय नहीं। विवश आर्थिक पराधीनता अज्ञात रूप में व्यक्ति के मानसिक तथा अन्य विकास पर ऐसा प्रभाव डालती रहती है, जो सूक्ष्म होने पर भी व्यापक तथा परिणामतः आत्मविश्वास के लिए विष के समान है। दीर्घकाल का दासत्व जैसे जीवन की स्फूर्तिमयी स्वच्छंदता नष्ट करके उसे बोझिल बना देता है, निरंतर आर्थिक परवशता भी जीवन में उसी प्रकार प्रेरणा–शून्यता उत्पन्न कर देती है। किसी भी सामाजिक प्राणी के लिए ऐसी स्थिति अभिशाप है जिसमें वह स्वावलम्बन का भाव भूलने लगे, क्योंकि इसके अभाव में वह अपने सामाजिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

संदर्भ : उपर्युक्त अंश महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' से लिया गया है। इस निबंध में महादेवी वर्मा ने स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और स्वावलंबन के महत्त्व को रेखांकित किया है। भारतीय समाज में स्त्री की दुर्दशा के अनेक कारणों में से एक महत्त्वपूर्ण कारण आर्थिक विवशता है जिसे रेखांकित करने का प्रयास लेखिका ने इस निबंध में किया है।

व्याख्या : मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः समाज में सम्मानपूर्वक जीवन यापन करने के लिए मनुष्य को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए। लेखिका मानती हैं कि एक ओर जहाँ धन की अधिकता की स्थिति अनुचित है जो मनुष्य को निरंकुश बना देती है वहीं धन का निरा अभाव भी एक अभिशाप है। आर्थिक रूप से परवश मनुष्य का न तो मानसिक विकास हो पाता है और न ही समुचित सामाजिक विकास ही हो पाता है। यह परवशता मनुष्य के आत्मविश्वास पर बहुत बुरा प्रभाव डालती है। जिस प्रकार निरंतर गुलामी के कारण मनुष्य के जीवन का उत्साह और उल्लास ख़त्म हो जाता है उसी तरह निरंतर आर्थिक रूप से परवश होने के कारण भी मनुष्य के जीवन की प्रेरणा और स्वप्न समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य स्वावलंबन के अहसास को ही भूलने लगता है। यह मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है जो उसके व्यक्तित्व को धीरे–धीरे समाप्त कर देता है। यही स्थिति भारतीय स्त्रियों की युगों–युगों से रही है। आर्थिक आत्मनिर्भरता के अभाव के कारण स्त्री सदियों से पुरुष के अधीन रही है जिसके कारण स्त्री के व्यक्तित्व का विकास भी अवरुद्ध हुआ है।

विशेष :

1. लेखिका ने स्त्री–दुर्दशा के लिए आर्थिक परवशता को एक बड़ा कारण मानते हुए इसे एक अभिशाप की तरह देखा है।
2. संस्कृतनिष्ठ, परिष्कृत भाषा के माध्यम से विचार, प्रवाह को बहुत प्रभावशाली तरीक़े से प्रस्तुत किया है।
3. विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक शैली की प्रधानता है।

अभ्यास

आपने उक्त निबंध के दो अंशों की व्याख्याओं का अध्ययन किया। अब आप निम्नलिखित अंशों की व्याख्या स्वयं कीजिए।

1) भारतीय स्त्री की स्थिति में आदिम–युग की स्त्री की परवशता और पूर्ण विकसित समाज के नारीत्व की गरिमा का विचित्र सम्मिश्रण है। उसके प्रति

समाज की श्रद्धा की मात्रा पर विचार कर कोई उसे पूर्ण संस्कृत समाज का अंग ही समझ सकता है, परंतु उसके जीवन का व्यावहारिक रूप एक दूसरी ही करुण गाथा सुनाता है। संभवतः उस धर्मप्राण युग ने स्त्री को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत स्थान देकर ही अपने कर्त्तव्य की इति समझ ली; उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सका। मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और संपूर्ण आत्म–समर्पण बंदी के विवश कर्त्तव्य के समान जान पड़ने लगे।

2) आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री की जीवनधारा ने जिस दिशा को अपना लक्ष्य बनाया है उनमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता ही सबसे अधिक गहरे रंगों में चित्रित है। स्त्री ने इतने युगों के अनुभव से जान लिया है कि उसे सामाजिक प्रामाणिक प्राणी बने रहने के लिए केवल दान की ही आवश्यकता नहीं है, आदान की भी है, जिसके बिना उसका जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता। वह आत्म–निवेदित वीतराग तपस्विनी ही नहीं, अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता के रूप में मानवी भी है और रहेगी। ऐसी स्थिति में उसे वे सभी सुविधाएँ, वे सभी मधुर कटु भावनाएँ चाहिए जो जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकती है।

अभ्यास

निम्नलिखित कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

1) उसे यज्ञ जैसे धर्म–कार्यों में पति का साथ देने के लिए सहधर्मिणीत्व और गृह की व्यवस्था के लिए गृहणीत्व का श्लाध्यपद भी प्राप्त हुआ, परंतु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने पर भी आर्थिक दृष्टि से वह नितांत परतंत्र ही रही।

....

....

....

2) स्त्री और पुरुष यदि अपने सुखों के लिए एक दूसरे पर समान रूप से निर्भर रहते तो उनके संबंध में विषमता आने की संभावना ही न रहती, परंतु वास्तविकता यह है कि भारतीय स्त्री की सापेक्षता सीमातीत हो गई।

....

....

....

....

3) जब तक व्यक्तिगत असंतोष सीमातीत होकर हमारे संस्कार–जनित विश्वासों को आमूल नष्ट नहीं कर देता तब तक हम उसके अस्तित्व की उपेक्षा ही करते रहते हैं।

....

....

....

11.5 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध की अंतर्वस्तु

यह एक विचार प्रधान निबंध है। इस निबंध का प्रकाशन सन् 1935 में हुआ। इस निबंध में महादेवी वर्मा ने स्त्री अस्मिता के सवालों को ऐसे समय में बहुत मज़बूती से उठाया, जिस समय भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समानांतर भारतीय समाज की संरचना में बहुत क्रांतिकारी बदलाव देखा जा सकता है। इस कालखण्ड में स्त्री–स्वतंत्रता और स्त्री–अस्मिता का सवाल उठने लगा था। स्त्री–शिक्षा के महत्त्व को समाज में स्थापित किया जा चुका था। स्त्री–शिक्षा के साथ–साथ स्त्री–अधिकारों की माँग भी भारतीय समाज में उठने लगी थी। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में महिलाओं का बढ़–चढ़कर हिस्सा लेना इस बात का प्रमाण है।

यह निबंध महादेवी वर्मा के काव्य से बिल्कुल अलग उनके साहित्यिक सृजनात्मक व्यक्तित्व की एक भिन्न छवि निर्मित करता है। इस निबंध में महादेवी वर्मा समसामयिक चुनौतियों के साथ–साथ स्त्री अधिकारों के प्रति सचेत चिंतक के रूप में उभर कर आती हैं। इस निबंध में महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज में स्त्री की असहाय स्थिति के कारण के रूप में उसकी आर्थिक गुलामी को विश्लेषित करने का प्रयास किया।

पुरुष और स्त्री, मानव–समाज के विकास और प्रगति के आधार–स्तम्भ हैं किंतु समाज के पितृसत्तात्मक रूप ने स्त्री और पुरुष के संतुलन को छिन्न–भिन्न कर स्त्री को पुरुष का गुलाम बना दिया। सदियों से स्त्री इस गुलामी का बोझ झेलती चली आ रही है। आधुनिक युग में स्वस्थ और संतुलित समाज के विकास का जो सपना देखा गया है, उसमें स्त्री–स्वतंत्रता के मुद्दे को बहुत जोरदार तरीक़े से उठाया गया।

प्रस्तुत निबंध के प्रारंभ में लेखिका स्वीकार करती हैं कि समाज में शक्ति–संतुलन का आधार अर्थ अर्थात् धन का विभाजन रहा है। शक्ति सामर्थ्य के बल पर समाज में आर्थिक मज़बूती और सामाजिक ताक़त हासिल की जाती रही है। ताकतवर ने कमज़ोर को हमेशा ही दबाया है। अतः समाज की व्यवस्था में भी इस वैषम्य को परिलक्षित किया जाता रहा है।

स्त्री के संदर्भ में सभ्यता के विकास–इतिहास को यदि विश्लेषित किया जाए तो स्त्री को हमेशा पुरुष के सुख व उपभोग की वस्तु के रूप में देखा गया है। पुरुष ने स्त्री के वजूद को हमेशा अपने सुख के तराजू पर तोला है। इस कारण समाज की विविध संरचनाओं में स्त्री और पुरुष के अधिकारों के बीच एक विषमता एक असंतुलन देखने को मिलता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के अधिकारों को पुरुष की सुविधाओं के संदर्भ में ही

देखा गया। साथ ही साथ स्त्री को आर्थिक अधिकारों से भी लगातार वंचित किया जाता रहा ।

लेखिका स्वीकार करती हैं कि प्राचीन काल से आज तक स्त्री की आर्थिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। भारतीय स्त्री के संदर्भ में पुरुष को 'भर्ता' की तरह ही देखा गया। पुत्री, पत्नी, माता, बहन आदि सभी रूपों में स्त्री हमेशा आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर आश्रित रही है। इस निबंध में महादेवी वर्मा बहुत तार्किक और विश्लेषणात्मक तरीक़े से स्त्री की आर्थिक परतंत्रता के ऐतिहासिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक संदर्भ को देखने का प्रयास करती हैं।

संतति के विस्तार और विकास का केंद्र होने के कारण स्त्री मातृत्व का गौरव–गान भारतीय संस्कृति में बहुत अधिक किया गया है। धार्मिक कार्यों में पति के साथ सहधर्मिणी और घर की व्यवस्था के लिए गृहिणी का दर्जा देकर महिमामण्डन किया गया। किंतु आर्थिक दृष्टि से वह परतंत्र ही रही। चूँकि धन– उपार्जन की ज़िम्मेदारी पुरुष को सौंपी गई, अतः धन पर अधिकार भी पुरुष का ही रहा। पिता की संपत्ति पर केवल पुत्र को ही अधिकार दिया गया। पुत्री को इस अधिकार से वंचित रखा गया। लेखिका के अनुसार संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा जाना स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन गया, जिसने स्त्री को पुरुष का गुलाम बना दिया।

महादेवी वर्मा इस निबंध में मानती हैं कि किसी भी समाज के विकास को नापने का मानदण्ड उस समाज में स्त्री की स्थिति है। बर्बर समाज स्त्री को पुरुष के अधीन एक वस्तु की तरह देखते हैं जबकि अपेक्षाकृत विकसित समाज में स्त्री को पुरुष की सहयोगी की तरह देखा गया है। किंतु भारतीय संदर्भ में दोनों का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। लेखिका सवाल उठाती हैं कि मातृत्व की गरिमा और पत्नीत्व का वैभव प्राप्त होने के बावजूद भारतीय नारी की दशा सोचनीय क्यों है? वस्तुतः इसका कारण वे स्त्री की आर्थिक गुलामी को मानती हैं। सदियाँ बीत गईं किंतु स्त्री की इस दशा में कोई परिवर्तन नहीं आया।

ऐसी दशा में स्त्री और पुरुष जीवन–पथ पर सहयात्री कैसे हो सकते हैं? पुरुष की आर्थिक ताक़त के सामने स्त्री की हैसियत वशीभूत गुलाम की ही रही। नारी की मूर्ति में देवत्व की प्रतिष्ठा करने वाला भारतीय समाज उसे केवल चिर मौन प्रतिमा की ही तरह देखना चाहता है जो केवल वरदान देने वाली देवी ही बनी रहे और इस मौन जड़ता के गौरव से संतुष्टि पाती रहे। उसके सुखों और दुखों को हृदय की सीमा से बाहर झांकने का अधिकार नहीं है। स्त्री के चारों ओर संस्कारों का एक क्रूर पहरा रहा है, जिसने उसके अधिकारों की माँग को निरंतर दबाया है।

समाज में धन–संपत्ति के असंतुलित विभाजन के कारण निम्न से लेकर उच्च–संपन्न वर्ग की स्त्रियों की दशा एक जैसी है। यहाँ लेखिका सन् 1935 में महिलाओं के लिए उत्तराधिकार के सवाल को बहुत मज़बूती से उठाती हैं। इस अधिकार के बिना स्त्री का अस्तित्व शून्य की तरह है जो पुरुष की इकाई के साथ जुडकर ही सब कुछ प्राप्त कर सकती है। उसके बिना उसकी स्थिति समाज में शून्य की तरह है।

आधुनिक युग में पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता को महादेवी वर्मा स्त्री की अधिकार–चेतना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानती हैं। यह उसके लिए सामाजिक प्राणी होने के लिए अनिवार्य स्थिति

है। अब वह अपने आँसुओं से धुले हुए आदर्शों से ही संतोष नहीं कर सकती। निबंध के अंत में महादेवी समाज को आगाह करती है कि यदि समाज ने इस स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया तो स्त्री का विद्रोह एक दिशाहीन आँधी की तरह आवेग युक्त होकर ध्वंसात्मक स्थिति तक भी पहुँच सकता है। यह ध्वंस स्त्री और समाज दोनों के लिए ही उचित नहीं होगा।

इस तरह प्रस्तुत निबंध में महादेवी वर्मा स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के प्रति पूर्णतः सजग दिखाई देती है। यही सजगता इस निबंध की अंतर्वस्तु भी है और भीतरी तत्त्व भी।

बोध प्रश्न 3

1. स्त्रियों के लिए संपत्ति के उत्तराधिकार का सवाल क्यों महत्त्वपूर्ण है?

....

....

....

....

....

....

2. अर्थ के विषम विभाजन से स्त्री–पुरुष के संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

....

....

....

....

....

3. स्त्री की स्थिति समाज के विकास को नापने का मानदण्ड है। स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

11.6 महादेवी वर्मा के लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

महादेवी वर्मा छायावाद की प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। महादेवी वर्मा के समकालीन सुमित्रानंदन पंत ने उन्हें 'छायावादी भाव–साधना के युग की प्रेम–साधिका

मीरा' की संज्ञा दी है। महादेवी वर्मा का साहित्य, हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। महादेवी वर्मा को मूलतः कवयित्री माना जाता है किंतु 'शृंखला की कड़ियाँ', 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध', 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी', 'क्षणदा' आदि गद्य–रचनाएँ महादेवी वर्मा के सक्षम गद्यकार रूप की साक्षी हैं।

भारतीय संदर्भ में स्त्री अस्मिता का स्वर

महादेवी वर्मा का निबंध 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' मूलतः एक विचार प्रधान निबंध है लेकिन विचार प्रधान निबंध होने के बावजूद उसमें वैचारिक शुष्कता कहीं दिखाई नहीं देती। इस निबंध में महादेवी वर्मा अपने काव्य की भावुक अभिव्यक्ति से इतर स्त्री अस्मिता के सवाल को पूरी रचनात्मक व वैचारिक ताक़त के साथ उठाती हैं। उस युग में स्त्री अस्मिता और अधिकार के सवाल को उठाया जाना एक जोख़िम भरा काम था। जोख़िम का काम इसलिए कि आज़ादी के लिए संघर्ष करते गुलाम भारत में स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के सवाल के ख़ास मायने हैं।

इस निबंध में महादेवी वर्मा स्त्री अस्मिता के सवाल को भावुक, आँसुओं से भीगे, कथात्मक रूप में अबला जीवन की कहानी की तरह नहीं उठातीं बल्कि विचार और चिंतन के प्रवाह के साथ तार्किक और विश्लेषणात्मक नज़रिए से उठाती हैं। इस निबंध को भारतीय संदर्भ में स्त्री–अस्मिता को लेकर सवाल उठाने वाले प्रारंभिक स्वरों के रूप में देखा जाना चाहिए। वे भारतीय समाज में स्त्री की दुर्दशा और पीड़ा को आर्थिक नज़रिए से उठाने का प्रयास करती हैं।

आर्थिक गुलामी के सवाल को उठाकर समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति को देखने का जो फ्रेम और दृष्टिकोण वे निर्मित करती हैं उसे समस्या के समाधान के रूप में प्रस्तावित भी करती हैं। साथ ही साथ स्त्री असंतोष की आँधी के प्रति समाज को आग़ाह भी करती हैं कि यदि समय रहते समाज ने स्त्री की इस स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया तो उससे निर्मित होने वाली विस्फोटक स्थिति स्त्री और समाज दोनों के लिए सुखकर नहीं होगी।

स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता के सवाल को वे समाज में रहकर हल करना चाहती हैं, समाज को तोड़कर नहीं। यहाँ स्त्री विमर्श के भारतीय संदर्भ का संकेत ग्रहण किया जा सकता है।

अनुभूतियुक्त वैचारिक निष्कर्ष

महादेवी वर्मा के कवि–व्यक्तित्व की तीव्र संवेदनशीलता गद्य में उतरकर अजस्र विचार प्रवाह में परिणत हो जाती है। इस निबंध में लेखिका स्त्री की आर्थिक परतंत्रता के कारणों की पड़ताल करते हुए भारतीय समाज के मनोविज्ञान का बहुत सटीक विश्लेषण करती हैं। नारी–मूर्ति में देवत्व की प्रतिष्ठा को वे स्त्री पर आरोपित निष्क्रिय जड़ता की तरह देखती हैं, जो पूजा–अर्चना से प्रसन्न हो वरदान तो दे सकती है किंतु समाज से अधिकारों की माँग नहीं कर सकती। इस तरह स्वयं एक स्त्री होने के नाते महादेवी वर्मा चिंतन के स्तर पर महिलाओं के साथ बहुत मज़बूती से खड़ी दिखाई देती हैं।

गद्य पर महादेवी वर्मा के कवयित्री रूप का प्रभाव

महादेवी वर्मा का कवि मन गद्य के क्षेत्र में क़लम चलाते हुए विचार–प्रवाह में संतुलन निर्मित करने में सफल रहा है। तीव्र संवेदनशीलता के आवेग में भी उन्होंने अपनी

सृजनात्मकता को चिंतन की भूमि पर स्थिर रखा। शोधपरक ऐतिहासिक संदर्भों पर आधारित तर्कशीलता को रचनात्मक प्रवाह देने में वे सफल रही हैं। उन्होंने भारतीय संदर्भ में स्त्री के उत्पीड़न के पौराणिक–ऐतिहासिक संदर्भों का विश्लेषण बहुत संवेदनशीलता के साथ किया है। लेखन में आक्रामकता व आवेग के स्थान पर उनकी शैली स्थिर तर्कशीलता की रही है।

महादेवी वर्मा ने स्त्री की पराधीनता के आर्थिक कारणों की तलाश, चिंतन के क्षणों में आत्मलीन होकर की है। वे इस समस्या को वैचारिकता के साथ उठाती हैं और अनेक दृष्टियों से उसका विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत करती हैं। सदियों की आर्थिक गुलामी से उत्पन्न स्त्रियों के जीवन की प्रेरणा शून्यता व निष्क्रिय जड़ता को वे बहुत संवेदनशीलता के साथ निबंध में प्रस्तुत करती हैं। स्त्री–पुरुष के बीच आए आर्थिक असंतुलन ने दोनों को जीवन–पथ पर एक दूसरे का सहयात्री नहीं रहने दिया। धन–संपत्ति पर पुरुष के स्वच्छंद एकाधिकार ने स्त्री को सदियों तक परवशता की स्थिति में रखा है।

एक स्त्री होने के नाते महादेवी वर्मा जैसी प्रतिष्ठित रचनाकार के लिए यह एक संवेदनशील विषय है जिसे लेखिका ने अनुभूति संपन्न वैचारिक निष्कर्षों के साथ निबंध में उठाने का प्रयास किया है। अभिव्यक्ति के स्तर पर उनका चिंतन सहज संप्रेशणीय व प्रभावशाली है।

स्वाधीन चिंतन

प्रस्तुत निबंध में स्त्री–अस्मिता को लेकर महादेवी वर्मा का स्वाधीन चिंतन दृष्टिगत होता है। स्त्री–अस्मिता से संबंधित पाश्चात्य विचार के इतर महादेवी स्त्री–अस्मिता के सवाल को भारतीय संदर्भ में उठाती हैं। उनकी विचार श्रृंखला में भावुक प्रलाप कहीं नहीं है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि निबंध में महादेवी जी वैचारिक रूप से तटस्थ नहीं रह पातीं अपितु विषय के साथ उनकी संलग्नता और पक्षधरता बहुत साफ़ दिखाई देती है। यही इस निबंध की बहुत बड़ी ताक़त है। जड़–संस्कारों के प्रति स्त्रियों को आगह करते हुए स्त्रियों के आर्थिक विकास की आकांक्षा की झलक निबंध में मौजूद है।

सदियों से स्त्री किस तरह एक सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक घेरेबंदी का शिकार हुई है। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी ने जो तर्क दिए हैं वे अकाट्य हैं और साथ ही साथ उनके स्वाधीन–चिंतन को प्रमाणित भी करते हैं। यहाँ वे 'नीर भरी दुख की बदली' नहीं रहती अपितु पूरी तर्कशीलता के साथ स्त्री मुक्ति के आंदोलन के साथ खड़ी दिखाई देती हैं। अपने विस्तृत ज्ञान के साथ वे एक कटु मानव–सत्य पर क़लम उठाती हैं। एक साहित्यकार के रूप में यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

11.7 प्रतिपाद्य

'स्त्री के अर्थ स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध उस दौर में लिखा गया जब भारत अंग्रेज़ों का गुलाम था। भारतीय जनता अपनी आज़ादी के लिए निरंतर संघर्ष कर रही थी। पूरे देश में क्रांति का उफान मौजूद था। भारतीय समाज में क्रांति और संघर्ष की स्थिति केवल राजनीतिक स्तर पर ही नहीं थी अपितु सामाजिक संरचना के स्तर पर भी भारतीय समाज परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। राष्ट्रीय जागरण की लहर सामाजिक–सांस्कृतिक,

राजनीतिक प्रत्येक स्तर पर मौजूद थी। जन–जागरण के साथ–साथ आधुनिक चेतना के विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी। ऐसे समय में स्त्री–शिक्षा और स्त्री–अधिकारों के प्रति भी समाज में सकारात्मक सोच का प्रादुर्भाव होने लगा था।

राजनीतिक दासता के साथ–साथ सामाजिक जड़ता से मुक्ति का स्वर समकालीन साहित्य में भी देखने को मिलता है। ऐसे समय में महादेवी वर्मा जैसी प्रतिष्ठित कवयित्री ने गद्य में जब स्त्री–अधिकारों के प्रति अपने चिंतन को कलमबद्ध किया तो यह भारतीय समाज के लिए एक बहुत ताकतवर संकेत की तरह था। प्रस्तुत निबंध के प्रतिपाद्य में स्त्री–स्वतंत्रता और अधिकारों को लेकर यह ताकतवर संकेत अनेक रूपों में विद्यमान है।

निबंध का प्रतिपाद्य–विषय स्त्री–परवशता की जड़ के रूप में आर्थिक घेरेबंदी की सदियों पुरानी परंपरा को उजागर करता है। लेखिका सवाल उठाती हैं सदियाँ बीत गयीं लेकिन स्त्री की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। स्त्री की दुर्दशा पर न तो कोई 'स्मृतिकार' क़लम उठाता है और न ही किसी 'शास्त्रकार' ने उसकी दुर्दशा पर ध्यान दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय स्मृति ग्रंथों और शास्त्र–ग्रंथों में स्त्री की स्थिति का उल्लेख कहीं नहीं है।

महादेवी जी बहुत खुले तौर पर भारतीय सामाजिक ताने–बाने में स्त्री की आर्थिक परवशता के ऐतिहासिक–सांस्कृतिक संदर्भ का विश्लेषण करती हैं। समाज में प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में दूसरे पर आश्रित है और किसी न किसी रूप में आश्रयदाता भी है। यह स्थिति परस्पर सापेक्ष–संतुलन का निर्माण करती है किंतु यदि स्त्री के संबंध में इस स्थिति की चर्चा की जाए तो उसे युगों–युगों से पुरुष पर आर्थिक रूप से आश्रित बनाए रखा गया। वह हमेशा आश्रित रही, आश्रयदाता बनने की क्षमता उसकी कभी न हो सकी। अपने जीवनयापन से जुड़ी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए उसे पुरुष पर आश्रित बनाए रखा गया। यह स्थिति निम्न से लेकर उच्च संपन्न वर्ग तक प्रत्येक वर्ग की स्त्री की रही है।

यह आर्थिक असंतुलन स्त्री के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ। इस स्थिति के सांस्कृतिक संदर्भ को भी महादेवी जी बहुत मज़बूती से उठाती हैं। भारतीय समाज में संतति विस्तार और गृह–परिचालन के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए स्त्री के माता और पत्नी रूप की महिमा का गुणगान सदैव किया है किंतु दोनों ही स्थितियों में स्त्री के पास धन–संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं रहा। देवत्व की प्राण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चिर मौन नारी मूर्ति में सजीवता का कोई लक्षण भारतीय समाज नहीं देखना चाहता। भारतीय समाज इस चिर मौन प्रतिमा का गुणगान भी करता है और वरदान भी प्राप्त करता है किंतु जीवन–शून्य मौन जड़ता से उसे मुक्त नहीं करना चाहता।

समाज में स्त्री को संपत्ति का अधिकार माँ, पत्नी या पुत्री किसी भी रूप में नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त पुरुष से इतर उसके अस्तित्व को जीवन–शून्य माना गया। इस तरह इस निबंध के माध्यम से स्पष्ट होता है कि महादेवी के भीतर का भावुक कवि–मन, चिंतन के स्तर पर स्त्री के अस्तित्व से संबंधित संघर्ष में उसके साथ है। आधुनिक परिस्थितियों में महिलाओं की बदलती जीवन दिशा की ओर संकेत भी इस निबंध में मौजूद है। बदलती परिस्थितियों में आर्थिक–सक्षमता स्त्री–मुक्ति का प्रधान लक्ष्य है। अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता के साथ–साथ भारतीय समाज में स्त्री को

आर्थिक–स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता की भी आवश्यकता है तभी भारतीय समाज का संतुलित विकास हो पाएगा।

बोध प्रश्न 4

4. स्त्री के मातृत्व रूप की उपासना क्यों की गई है?

....

....

5. समाज में संबंधों की सापेक्षता से लेखिका का क्या अभिप्राय है?

....

....

6. स्त्री के असंतोष की दिशाहीन आँधी किस प्रकार के असंतोष को जन्म देगी?

....

....

7. 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' निबंध की शैली की दो विशेषताएँ लिखिए।

....

....

8. निबंध के शीर्षक के औचित्य पर प्रकाश डालिए।

....

....

11.8 संरचना शिल्प

संरचना शिल्प के अंतर्गत महादेवी वर्मा की निबंध शैली पर विचार किया जाएगा। यह निबंध न केवल महादेवी वर्मा के साहित्यकार व्यक्तित्व के एक विशिष्ट आयाम पर प्रकाश डालता है अपितु स्त्री के अस्तित्व व अस्मिता की लड़ाई में महादेवी वर्मा की पक्षधरता की ओर भी संकेत करता है। इस नज़रिए से महादेवी वर्मा की निबंध–शैली अपने समकालीन निबंधकारों से किस तरह विशिष्ट है, इसकी चर्चा करना आवश्यक है।

कविता की दृष्टि से जहाँ महादेवी हिंदी साहित्य के छायावाद युग की प्रतिष्ठित कवयित्री हैं वहीं निबंध की दृष्टि से उन्हें हिंदी निबंध के विकास–इतिहास में शुक्ल युग अर्थात् उत्कर्ष काल की निबंधकार माना जाता है। इस दौर में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, शिवपूजन सहाय, माखनलाल चतुर्वेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद आदि रचनाकार निबंध के उत्कर्ष में अपना योगदान दे रहे थे। इस युग को हिंदी निबंध का उत्कर्ष काल इसलिए कहा गया क्योंकि इस दौर में स्वाधीन चिंतन और विषय वैविध्य के साथ–साथ भाषा में परिष्कार परिलक्षित किया जा सकता है।

महादेवी वर्मा ने मूलतः चिंतनपरक, विचारप्रधान और साहित्यिक निबंधों की रचना की है। उनके निबंधों में साहित्य, समाज और मनोविज्ञान का एक चिंतनपूर्ण समन्वय देखने को मिलता है। विचार और विश्लेषण के समन्वय से ही महादेवी वर्मा की निबंध शैली का विस्तार हुआ। यहाँ वैयक्तिकता के स्थान पर वैचारिकता और तर्कशीलता महत्त्वपूर्ण है।

महादेवी वर्मा भाषा की साधक हैं। उनके काव्य के साथ–साथ उनके गद्य भी, उनकी शब्द–साधना के ज्वलंत उदाहरण हैं। सधी हुई संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का विषय के साथ अद्भुत सामंजस्य प्रस्तुत निबंध में देखने को मिलता है। स्त्री अस्मिता जैसे आधुनिक ज्वलंत विषय पर तत्सम् प्रधान शब्दावली युक्त भाषा की इतनी सहज प्रवाह बहुत कम निबंधकारों में देखने को मिलती है। भाषा में तार्किकता का गुण प्रधान है, किंतु तार्किकता के कारण भाषा कहीं भी सपाट नहीं होती।

प्रस्तुत निबंध की भाषा विशुद्ध गद्यमयी है। उसमें काव्यात्मकता का सम्मिश्रण करने का प्रयास लेखिका ने नहीं किया है। महादेवी वर्मा की भाषा–सामर्थ्य यहाँ बहुत स्पष्ट है। विचार और चिंतन की प्रधानता, भाषा की प्रांजलता के कारण कहीं भी दुरूह नहीं हो पाती। यह भाषा चिंतन को जागृत भी करती है और गति भी देती है। एक उदाहरण दृष्टव्य है –

''आज की बदली हुई परिस्थितियों में स्त्री केवल उन्हीं आदर्शों से संतोष न कर लेगी जिनके सारे रंग उसके आँसुओं से धुल चुके हैं, जिनकी सारी शीतलता उसके संताप से उष्ण हो चुकी है।''

भारतीय समाज के स्थापित आदर्शों के प्रति स्त्री के असंतोष को महादेवी वर्मा जिस प्रतिक्रिया धर्मी और तुलनात्मक भाषा शैली के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं वह देखने योग्य है। आदर्शों का गहरा रंग और उनकी शीतलता आधुनिक स्त्री को संतोष नहीं देती। स्त्री के असंतोष को उद्घाटित करने के लिए महादेवी वर्मा उतनी ही ज्वलंत और तीखी भाषा का प्रयोग करती हैं। वे लिखती हैं –

''समाज यदि स्वेच्छा से उसके अर्थ संबंधी वैषम्य की ओर ध्यान न दे, उसमें परिवर्तन या संशोधन को आवश्यक न समझे तो स्त्री का विद्रोह दिशाहीन आँधी – जैसा वेग पकड़ता जाएगा और तब एक निरंतर ध्वंस के अतिरिक्त समाज उससे कुछ और न पा सकेगा। ऐसी स्थिति न स्त्री के लिए सुखकर है और न समाज के लिए सृजनात्मक।''

विचार प्रधान निबंध के लिए महादेवी वर्मा जिस भाषा –शैली का प्रयोग करती हैं वह ऐसे अभिव्यक्ति रूप के लिए मानक है। भाषा अभिव्यक्ति के अनुरूप आख्यानपरक भी है और व्याख्यानपरक भी। व्याख्यान मूलक भाषा शैली की यहाँ प्रधानता है। लेखिका ने स्वगत वार्तालाप मूलक शैली के स्थान पर विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक शैली का प्रयोग अधिक किया है, जो विषय की वैचारिक चिंतनपरकता के अनुकूल भी है। निबंध में ऐतिहासिक संदर्भों का विश्लेषण व विषय के साथ तालमेल बहुत सहज होने के साथ–साथ संप्रेषणीय भी है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

''मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और संपूर्ण आत्म–समर्पण बंदी के विवश कर्त्तव्य के समान जान पड़ने लगे।'

इस तरह यहाँ शैली में वार्तालाप की सहजता न होकर ज्वलंत प्रश्नाकुलता है। विषय के अनुकूल अभिव्यक्ति में तीव्रता भी है और आवेग भी। किंतु यह आवेग, भावुक न होकर युग–युग के संचित संताप का आवेग है जो पन्नों पर पूर्ण प्रवाह के साथ उतरा है। लेखिका ने विचार प्रवाह के अनुरूप ऐतिहासिक–पौराणिक संदर्भों का विश्लेषण करते हुए गवेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है, वहीं स्त्री के पक्ष में खड़े होते हुए शैली में भावात्मक का गुण भी दिखाई देता है। विवरणात्मक, व्याख्यात्मक और समीक्षात्मक शैली का प्रयोग भी निबंध में विषयानुकूल हुआ है। विवरणात्मक शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

''आदिम युग से सभ्यता के विकास तक स्त्री सुख के साधनों में गिनी जाती रही। उसके लिए परस्पर संघर्ष हुए, प्रतिद्वंद्विता चली, महाभारत रचे गये और उसे चाहे इच्छा से हो और चाहे अनिच्छा से, उसी पुरुष का अनुगमन करना पड़ता रहा जो विजयी प्रमाणित हो सका।''

इस तरह महादेवी वर्मा स्त्री अस्मिता और अस्तित्व से जुड़े सवालों को जिस भाषा–शैली में उठाती हैं वह एक भावुक प्रलाप न होकर विश्लेषणपरक विचार–शृंखला की तरह दिखाई देती हैं। वर्णन और विश्लेषण दोनों का सम्मिश्रण प्रस्तुत निबंध में देखने को मिलता है। विषय की गंभीरता के अनुरूप समीक्षात्मक शैली का प्रयोग भी काफी मात्रा में देखने को मिलता है।

11.9 सारांश

- इस इकाई में आपने महादेवी वर्मा के निबंध 'स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न' का अध्ययन किया है। इस निबंध में महादेवी जी ने स्त्री–अस्मिता और संघर्ष से जुड़े आर्थिक सवाल को भारतीय संदर्भ में उठाने का प्रयास किया है। इस निबंध में महादेवी वर्मा समसामयिक चुनौतियों के साथ–साथ स्त्री–अधिकारों के प्रति सचेत चिंतक के रूप में सामने आती हैं। इस निबंध में महादेवी वर्मा ने भारतीय समाज में स्त्री की असहाय स्थिति के कारण के रूप में उसकी आर्थिक गुलामी को विश्लेषित करने का प्रयास किया है।

- इस इकाई में अपने निबंध के कुछ अंशों की व्याख्या का भी अध्ययन किया है। दिये गये उद्धरण की व्याख्या कैसे की जाती है, इसे भी समझाने का प्रयास इकाई में किया गया है जिसके आधार पर विद्यार्थियों को स्वयं व्याख्या करने का अभ्यास करना चाहिए।

- निबंध की विषयवस्तु मूलतः विचारप्रधान है। निबंध का प्रतिपाद्य–विषय स्त्री–परवशता की जड़ के रूप में आर्थिक घेरेबंदी की सदियों पुरानी परंपरा को उजागर करना है।

- इस निबंध में महादेवी वर्मा के साहित्यकार व्यक्तित्व के अनेक आयामों को परिलक्षित किया जा सकता है, जिसका अध्ययन आपने निबंध में लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में किया है।

- भाषा और शैली की दृष्टि से यह निबंध महादेवी वर्मा के कवि–रूप से इतर उनके गद्यकार रूप को साहित्यिक जगत में स्थापित करने में सफल रहा है। शुक्ल युग

के प्रतिष्ठित निबंधकारों में महादेवी वर्मा का नाम अग्रगण्य है। उनकी चिंतनप्रधान, वैचारिक विश्लेषणात्मक भाषा–शैली इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है।

11.10 शब्दावली

इस इकाई में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द और उनके अर्थ दिए गए हैं। आप इकाई पढ़ने के दौरान इनकी सहायता ले सकते हैं।

परिष्कृत – शुद्ध, सुविज्ञ

अस्मिता – पहचान

विषमता – असंगत होने की अवस्था या भाव

प्रतिष्ठा – सम्मान, मान–मर्यादा, ख्याति, इज्जत

11.11 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. (क) सही (ख) ग़लत (ग) सही (घ)ग़लत
2. ख
3. ग
4. बर्बर समाज में पुरुष, स्त्री को वस्तु की तरह मानकर उस पर अधिकार रखता है जबकि पूर्ण विकसित समाज में स्त्री, पुरुष की सहयोगिनी मानी जाती है। लेखिका के अनुसार भारतीय समाज में दोनों स्थितियों का विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

बोध प्रश्न 2

5. भारतीय समाज में स्त्री जाग्रत हो रही है, उसी के अनुसार उसके भीतर अपनी सनातन सामाजिक स्थिति के प्रति असंतोष भी उत्पन्न हो रहा है। जागरण को इसका मुख्य कारण माना जा सकता है।
6. महादेवी वर्मा ने देवत्व की प्रतिष्ठा कर भारतीय स्त्री की नारी मूर्ति को चिर मौन प्रतिमा कहा है जो निर्विकार भाव से पूजा और उपेक्षा को स्वीकार करती है।
7. आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री के जीवन का प्रधान लक्ष्य आर्थिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना है।

बोध प्रश्न 3

8. आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता हेतु स्त्रियों के लिए संपत्ति के उत्तराधिकार का सवाल महत्त्वपूर्ण है।
9. समाज में अर्थ अर्थात् धन के विषम विभाजन से स्त्री–पुरुष के संबंधों में एक असंतुलन की स्थिति निर्मित हुई।

10. समाज में स्त्री की स्थिति ही समाज के विकास को नापने का मानदण्ड है। बर्बर समाज में स्त्री को वस्तु की तरह देखा जाता रहा जबकि विकसित समाज में स्त्री को सहयोगिनी का दर्जा प्राप्त हुआ है।

बोध प्रश्न 4

11. संतति के विकास और विस्तार में स्त्री की अहम भूमिका है। अतः स्त्री के मातृत्व रूप का गुणगान प्रत्येक समाज में दिखाई देता है।

12. संकेत :

    क) एक दूसरे पर निर्भर

    ख) सामाजिक आदान–प्रदान

    ग) एक दूसरे के लिए सहायता में सक्षम

13. संकेत :

    क) निरंतर ध्वंस

    ख) सबके लिए अहितकर

    ग) विनाशकारी

14. संकेत : संरचना शिल्प का अध्ययन कर संकेत ग्रहण करें।

15. संकेत

    क) स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का महत्त्व

    ख) केंद्रीय तत्त्व

    ग) प्रतिपाद्य–विषय

अभ्यास

1. संदर्भ :

    संकेत : निबंध : स्त्री के अर्थ–स्वातंत्र्य का प्रश्न

    लेखक : महादेवी वर्मा

2. संदर्भ : स्त्री की स्थिति समाज के विकास का मापदण्ड

व्याख्या : (क) समाज के सम्मिलित रूप का विश्लेषण

(ख) व्यावहारिक स्तर पर स्त्री की दयनीय अवस्था

(ग) पुरुष पर निर्भरता

विशेष : भाषा : संस्कृतिनिष्ठ परिनिष्ठित भाषा

शैली : विचारप्रधान, विश्लेषणात्मक

संदर्भ : अभ्यास नं. 1 के अनुसार

व्याख्या : (क) आधुनिक परिस्थितियों में स्त्री का लक्ष्य

(ख) आर्थिक आत्मनिर्भरता

(ग) अनुरागमयी पत्नी और त्यागमयी माता से इतर स्त्री मनुष्य भी है।

विशेष : भाषा : संस्कृतनिष्ठ परिनिष्ठित भाषा

शैली : तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक शैली

निबंध से संकेत ग्रहण कर कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 'दलित चिंतन का विकासः अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर'

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 डॉ. धर्मवीर का लेखकीय व्यक्तित्व

12.2.1 डॉ. धर्मवीर का दलित चिंतन

12.3 निबंध का वाचन

12.4 निबंध का सार

12.5 निबंध की अंतर्वस्तु

12.6 निबंध का प्रतिपाद्य

12.7 निबंध का संरचना.शिल्प

12.8 महत्त्वपूर्ण अंशों की संदर्भ सहित व्याख्या

12.9 सारांश

12.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम डॉ. धर्मवीर के निबंध 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध पर दलित अस्मितामूलक विमर्श के नज़रिए से विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- निबंध की विषयवस्तु को दलित अस्मितामूलक विमर्श की दृष्टि से समझ पाएँगे तथा निबंध का सार अपने शब्दों में लिख सकेंगे;
- निबंध की अंतर्वस्तु को समझ कर उसकी विशेषताओं का उल्लेख कर पाएँगे;
- निबंध पर लेखकीय व्यक्तित्व के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे;
- भाषा और शैली की दृष्टि से निबंध पर विचार कर सकेंगे;
- निबंध के प्रतिपाद्य का विश्लेषण भी कर सकेंगे; और
- व्याख्या की प्रक्रिया को समझते हुए महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगें।

12.1 प्रस्तावना

डॉ. धर्मवीर के निबंध 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' को वैचारिक व तर्कप्रधान निबंध की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित अस्मिता से जुड़े गंभीर विषय पर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया

है। इस इकाई में आप इसी निबंध का अध्ययन करने जा रहे हैं। वस्तुतः गद्य का सर्वाधिक परिष्कृत और प्रौढ़ रूप निबंध है। निबंध को गद्य का सर्वाधिक प्रभावशाली रूप माना जाता है। निबंध को गद्य की कसौटी भी कहा गया है।

निबंध एक विचार–शृंखला है जिसे तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। निबंध में निबंधकार की वैचारिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति होती है। निबंध जैसी विश्लेषण प्रधान गद्य विधा में अस्मितामूलक विमर्श से संबंधित चिंतन की अभिव्यक्ति ने साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक चिंतन और बोध के नवीन आयाम पर चर्चा प्रारंभ की। दलित–चिंतन सदियों तक मुख्यधारा के साहित्य में स्थान न पा सका।

हाशिए पर खड़े दलित–चिंतन और साहित्य को मुख्यधारा के केंद्र में लाकर खड़ा करने वाले दलित साहित्यकारों में डॉ. धर्मवीर का नाम सदैव आदर से लिया जाता रहेगा।

डॉ. धर्मवीर कृत 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' नामक निबंध सन् 2008 में इसी शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' में प्रकाशित हुआ। इस निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित चिंतन का अनेक आयामों से विश्लेषण किया है। दलित चिंतन की अभिशप्तता के कारणों की तलाश के साथ–साथ डॉ. धर्मवीर दलित चिंतन के भीतर इतिहास चिंतन के रूप में स्थापित होने की संभावनाओं की तलाश करते दिखाई देते हैं। छब्बीस से अधिक पुस्तकों के लेखक डॉ. धर्मवीर को दलित–साहित्य के सजग चिंतक के रूप में जाना जाता है।

12.2 डॉ. धर्मवीर का लेखकीय व्यक्तित्व

डॉ. धर्मवीर निर्भीक, तर्कशील और स्पष्टतावादी दलित चिंतक हैं। उनकी पहली पुस्तक 'लोकायती वैष्णव विष्णु प्रभाकर' शीर्षक से 1987 में प्रकाशित हुई। इसके उपरांत उनकी लेखन–यात्रा के अनेक पड़ाव रहे। 'हिंदी की आत्मा', 'संत रैदास का निर्वाण संप्रदाय', 'कबीर के आलोचक', 'डॉ. आंबेडकर के प्रशासनिक विचार', 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी', 'थेरीगाथा की स्त्रियाँ और डॉ. आंबेडकर', 'दलित आत्मालोचन की प्रक्रिया', 'दलित सिविल क़ानून', 'दलित चिंतन का विकास', 'महान आजीवक : कबीर, रैदास और गोसाल' आदि उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। छब्बीस से अधिक पुस्तकों के लेखक डॉ. धर्मवीर को दलित–साहित्य के सजग चिंतक के रूप में जाना जाता है।

डॉ. धर्मवीर ने अपने लेखन में दलित समाज के प्रश्नों को अनेक आयामों से उठाने का प्रयास किया है। इतिहास और समाजशास्त्र के नज़रिए से वे दलित–चिंतन की गहराई में उतरने का प्रयास करते हैं। 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' पुस्तक में संकलित लेखों में 'डॉ. धर्मवीर की चिंतन दृष्टि', 'साहित्य', 'इतिहास और समाजशास्त्र' से जुड़े मुद्दों पर समानांतर रही है। उनका लेखन न केवल विचारोत्तेजक है बल्कि चिंतन की नई भूमि प्रदान करता है। इतिहास, दर्शन और समाजशास्त्रीय आयामों के साथ डॉ. धर्मवीर विषय की गहराई में उतरते हैं।

चिंतन के स्तर पर डॉ. धर्मवीर का लेखन पाठक को नए धरातल पर ले जाने का प्रयास करता है। डॉ. धर्मवीर दलित चिंतन और विमर्श के प्रति समर्पित आलोचक हैं। हिंदी साहित्य जगत में कबीर और प्रेमचंद को नए नज़रिए और आयाम से देखने के लिए डॉ.

धर्मवीर ने प्रेरित किया। कई कारणों से उनका लेखन विवादास्पद भी रहा। दलित साहित्य के गंभीर अध्येता के रूप में उनकी ख्याति सदैव रही है।

12.2.1 डॉ. धर्मवीर का दलित चिंतन

डॉ. धर्मवीर का दलित चिंतन यह मानता है कि दलित अस्मिता का सवाल, दलित के भीतर मनुष्य की खोज का सवाल है। दलित के भीतर के संभावित पूर्ण मनुष्य की खोज ही दलित साहित्य का उद्देश्य है। वे मानते हैं कि दलित साहित्य की परिभाषा बंधन से मुक्ति की छटपटाहट में खोजी जानी चाहिए। इस प्रक्रिया में दलित स्वस्थ मनःस्थिति के साथ विकास के रास्ते पर आगे की ओर बढ़ता है। समान–व्यवस्था में स्वाभिमान से खड़ा होकर अपने मौलिक अधिकारों के लिए संघर्ष करता है। वस्तुतः यह अनुभूति और भावबोध के साथ कर्त्तव्यबोध और ज़िम्मेदारी का गहरा तालमेल है।

डॉ. धर्मवीर का मानना है कि दलित साहित्य के भावबोध के केंद्र में व्यक्ति न होकर संस्थाएँ होनी चाहिए। दलित के समक्ष पूरा भारतीय समाज और उसकी वर्ण–व्यवस्था एक संस्था है। दलित का संघर्ष असमानता के उस शास्त्र से है जिसे वर्ण–व्यवस्था ने एक संस्था के रूप में खड़ा किया है। 'शूद्र–ताड़ना' का दर्शन इसके केंद्र में है। इस संघर्ष में दलित को धर्मों के आवरण में अपनी पहचान को खोना नहीं है, अपितु अपनी अस्मिता के साथ मज़बूती से खड़ा होना है। इस दिशा में डॉ. धर्मवीर स्वीकार करते हैं कि बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर ने जो कानूनी लड़ाई शुरू की थी, उसे जारी रखने की आवश्यकता है।

'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' पुस्तक में संकलित लेख 'दलित साहित्य की परिभाषा : समग्रता और पूर्णता की ओर' में डॉ. धर्मवीर ने दलित साहित्य की संभावनाओं और चुनौतियों पर चर्चा करते हुए लिखा है –

''दलित साहित्य की परिभाषा में पीड़ा से लेकर मुसकान तक है। इसमें रोने की बजाय मुस्कान की खोज के द्वारा समग्रता और पूर्णता की ओर मनुष्य का प्रयाण है। यह कमज़ोरी नहीं बल्कि शक्ति है, यह गुलामी नहीं बल्कि आज़ादी है, यह शिकायत नहीं बल्कि युद्ध है, और यह समस्या नहीं बल्कि समाधान है। यूँ, आत्मकथा समेत दलित साहित्यकार जो आज लिख रहा है वह सब इस परिभाषा में शामिल है, लेकिन इस परिभाषा में वह भी शामिल है जो वह आगे लिखेगा और जो उसकी महान संभावनाओं का अनन्त क्षेत्र उसके सामने पड़ा है।''

12.3 निबंध का वाचन

दलित चिंतन का विकास :
अभिभाप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर

I

शुरू में कह दिया जाए कि पिछले कुछ ज्ञात हज़ार वर्षों से दलित चिंतन एक अभिशप्त चिंतन रहा है। साथ ही, यह बात भी शुरू में कह दी जानी चाहिए कि अगले दलित चिंतन को स्वतंत्र, मुक्त और इतिहास चिंतन की ओर जाना है। यह बात पहली बार बताना इस

पर्चे का मुख्य उद्देश्य है। यह केवल शुरुआत और रूपरेखा है – आगे इस विषय को लेकर कोई दलित चिंतक ज़्यादा काम कर सकता है। कोई संदेह न रह जाए, इसलिए व्याख्या में दलित चिंतन को अभिशप्त इस रूप में कहा जा रहा है कि यह ब्राह्मण के ज़िक्र से भरा हुआ है। इस पर यह बंधन है कि यह ब्राह्मण के विरोध के सिवा कुछ अन्य नहीं सोच पा रहा है। वास्तव में दलित चिंतन उस समय मुक्त, स्वतंत्र और वास्तविक होगा जिस समय उसके ज़िक्र में से ब्राह्मण का संदर्भ निकल जाएगा। वह दिन उसकी सच्ची स्वतंत्रता का दिन होगा।

दुर्भाग्य से, दलित चिंतन में कभी निरंतरता नहीं रही है। एक विचार में से दूसरा विचार नहीं निकल सका है। पहला विचार ही एक जगह रुका पड़ा है। ऐसा शिक्षा के अभाव के कारण भी रहा है। इसे जानबूझ कर अक्षर ज्ञान से वंचित रखा गया था लेकिन वह ज्ञान की अपनी मौखिक परंपरा चला सकता था। ब्राह्मणों ने अपने वेद हज़ारों साल तक कंठस्थ ही किए थे। उन्होंने उनके लिपिबद्ध करने पर खुद पाबंदी लगा रखी थी। उन्हें डर था कि लिपिबद्ध करने पर शूद्रों और अन्त्यजों द्वारा उनकी चोरी संभव हो जाएगी इसलिए इस दृष्टि से ब्राह्मणों को भी निरक्षर और अनपढ़ कहा जा सकता था। फ़ायदा यह है कि विचार की निरंतरता से समय बर्बाद होने से बच जाता है। यदि हर नया गणितज्ञ पायथागोरस की प्रमेय को ही खोजता रहेगा तो इससे विज्ञान का विकास नहीं हो सकता। दलित चिंतन में यही हुआ है कि वह आगे नहीं बढ़ सका है। उसने एक जगह खड़े होकर ही अधिकांश वक़्त गुज़ारा है। यह स्थिति टूटनी चाहिए।

एक जगह खड़े होने के कुछ फ़ायदे हो सकते थे लेकिन वे भी दलित के हिस्से में नहीं आए हैं। वे फ़ायदे तब होते जब इसका कोई अपना अलग धर्म होता। संसार की कई कौमें अपने अलग धर्म लेकर मज़बूती से खड़ी हैं। उनकी संख्या छोटी हो सकती है लेकिन उनकी अलग पहचान में कोई कमी नहीं है। उन कौमों ने यदि दुख उठाए हैं तो अपने लिए उठाए हैं जो उनके लिए एक गौरव की चीज़ है लेकिन दलितों को यह भी मयस्सर नहीं हो सका। ये बेमतलब और धर्मान्तरणों के कारण दूसरों के लिए भी पिटे हैं पर सच्चाई यह है कि किसी कौम के पास धर्म भी एक लंबी वैचारिक यात्रा के बाद आता है। दलित ने वह वैचारिक यात्रा कभी पूरी नहीं की। मुश्किल से वह समय अब आया है।

II

दलित चिंतन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि ग़ैर–दलित लोग इस चिंतन का प्रतिनिधित्व करने का दावा पेश कर जाते हैं। दलित चिंतन को उसकी पूर्णता तक पहुँचने के मार्ग में इससे ज़्यादा बड़ी रुकावट दूसरी नहीं हो सकती। यह इतना बड़ा धोखा है कि कई बार दलित चिंतक इसका प्रभावी उत्तर नहीं दे पाते हैं। ऐसी स्थिति में सब कुछ गड्ड–मड्ड हो जाता है और बात साफ़ उभर कर नहीं आती। इसका मूल कारण द्विजों का उदारवाद है जो सच में कभी उदार नहीं हो सकता। आख़िर, लंदन की गोल मेज़ सभा में गाँधी जी की यह कहने की हिम्मत कैसे पड़ गई कि 'मैं उन (डॉ. आंबेडकर) का अस्पृश्यों का प्रतिनिधि होने का दावा स्वीकार नहीं करता। उनका प्रतिनिधि मैं हूँ।'' यह देखा जा सकता है कि देश के भाग्य का निपटारा होने के समय गाँधी जी दलितों को अपनी आपबीती खुद नहीं कहने दे रहे हैं। यह बिलकुल वैसी ही बात है कि गाँव में कोई बनिया किसी चमार को घुड़कते हुए यह कह कर बोलने नहीं दे रहा है – ''तू चुप रह,

तुझे पता है ना, तुझे बोलना नहीं आता।'' कैसे विस्मय की बात है कि समस्या चमार की है और चमार को पीटने वाला उसकी तरफ़ से बोलने का अपना हक जता रहा है! तभी डॉ. आंबेडकर ने गाँधी जी के इस दावे के बारे में कहा था – ''इस दावे के बारे में मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि ग़ैर–जिम्मेदार लोग ऐसे झूठे दावे किया ही करते हैं जब कि सच यह होता है कि उन दावों से संबंधित लोग उन्हें सदा ही नकारते हैं।''

यहाँ तक ठीक है लेकिन एक भूल खुद दलित चिंतक से भी हो जाती है। तब क्या किया जाए कि खुद दलित चिंतक यह सोचकर कि यह न तो वह, ग़ैर–दलित चिंतक की शरण में चला जाता है? यह स्वयं डॉ. आंबेडकर के साथ घटित हुआ है। लगता ऐसा है कि डॉ. आंबेडकर अपने समय के गाँधी के रूप में जन्मे नए बुद्ध से जुझारू होकर लड़े थे लेकिन ढाई हज़ार वर्ष पहले बुद्ध के रूप में जन्मे पुराने गाँधी के शिष्य बन गए थे। वास्तव में आज दलितों को अपने उन ऐतिहासिक डॉ. आंबेडकर की खोज करनी है जो बुद्ध के समय में बुद्ध से ऐसे ही लड़े थे जैसे आज के गाँधी के सामने वे लड़े थे। ऐसे किसी डॉ. आंबेडकर ने उस समय ज़रूर जन्म लिया होगा। दलित चिंतन की दृष्टि से कोई युग इतना खाली नहीं जा सकता जितना बुद्ध का युग खाली दिखाया जाता है।

III

दलित की एक मुख्य समस्या आस्तिकता और नास्तिकता की भी है। पता चलता है कि यह समस्या भी उस पर थोपी हुई समस्या है। उसकी बहस के सही शब्द 'ईश्वर' और 'अनीश्वर' के हैं। इस लड़ाई में लगता ऐसा है कि ब्राह्मणवाद ने आज के दलित को भीतर से मिलाकर अनीश्वरवाद में ढकेल दिया है। दलित चिंतक अभिशप्त होकर रह गया है कि उसका खेमा नास्तिकों का होगा। डॉ. आंबेडकर के बौद्ध चिंतन ने इस दिशा में एक विशेष मोड़ दे दिया है। दलित लोगों में ज़्यादातर लोग ईश्वरवादी और आस्तिक हैं लेकिन उनके चिंतक और लेखक अनीश्वरवादी और नास्तिक होते जा रहे हैं। इस विषय पर गहराई से विचार करने की ज़रूरत है कि ऐसा क्यों है? क्यों दलित चिंतक और दलित लेखक नास्तिक बनते जा रहे हैं? क्या यह उनके चिंतन का स्वाभाविक विकास है या वे केवल प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसा कर रहे हैं? यदि यह उनका स्वाभाविक चिंतन होता तो इसमें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन सच में ऐसा नहीं है। उन्हें खुद अपने मन को टटोलना चाहिए कि क्या अपने चिंतन में वे प्रतिक्रिया से बचे हुए हैं? फिर, प्रतिक्रिया भी एक अच्छी चीज़ हो सकती है लेकिन उसके लिए यह देखा जाना चाहिए कि वह किस क्षेत्र में है। ईश्वर और आस्तिकता का किसी प्रतिक्रिया से कोई मतलब नहीं होना चाहिए। यह कोई तर्क नहीं हुआ कि चूँकि ब्राह्मण ईश्वर में विश्वास रखता है इसीलिए दलित ईश्वर में विश्वास नहीं करेगा। यह वैसा ही तर्क हुआ कि चूँकि ब्राह्मण रोटी खाता है इसीलिए दलित रोटी नहीं खाएगा। होना यह चाहिए था कि ब्राह्मण के ईश्वर के जवाब में दलित चिंतक अपना ईश्वर अलग से खोजता। उसका ईश्वर ब्राह्मण के ईश्वर से ज़्यादा ताकतवर होना चाहिए था। तब वह अपने ईश्वर को ब्राह्मण के ईश्वर से भिड़ा सकता था। उसका काम यह था कि वह ब्राह्मण के ईश्वर के विरोध में खड़ा होता लेकिन उससे भूल यह हुई कि इस चक्कर में वह खुद अपने ईश्वर के विरोध में खड़ा हो गया है। एक तरह से वह खुद अपने सामने दीवार बन गया है। सृष्टि और ब्राह्मण से उसका संबंध, बिना ब्राह्मण को बीच में लाए, सीधा होना चाहिए। गंगा ब्राह्मण की नहीं है, यमुना का कूल कृष्ण का ख़रीदा हुआ नहीं है, हिमालय हर भारतवासी का

है और समुद्र सब के पैर पखार रहा है इसीलिए, जबकि दलित का ब्राह्मण के प्रति गुस्सा सच्चा है, लेकिन इस गुस्से में उसे गंगा को अपना पेशाब कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। हिमालय का धवल सौंदर्य उसके नयनों का सुख बनता है तो उसे बिना झिझक ऐसा कह देना चाहिए। सूर्य और चाँद दलित कविता की उतनी ही संपत्ति है जितनी संसार में किसी अन्य कौम के कवि की। पेड़ और पौधे, पशु और पक्षी, नदी और झरने, फूल और पत्ती, गंध और हवा, रंग और रूप, बरसात और धूप – ये सब धरती के जीवन का महान सुख है। किसी की प्रतिक्रिया में इस सुख से वंचित नहीं रह जाना चाहिए। आकाश और तारे, समुद्र और किनारे, पहाड़ और झीलें–सृष्टि के इन सब विषयों पर दलित चिंतक का समान हक है। किसी ऐरे–गैरे ब्राह्मण की वजह से वह अपने इस हक को खुद न छोड़ता रहे। धर्म और ईश्वर की दृष्टि से वह खुद निहत्था न हो जाए। दूसरों के पास ये हथियार के रूप में मौजूद हैं, दलित के पास भी इस रणभूमि में ये हथियार होने चाहिए। धर्म के सामने धर्म लड़े और ईश्वर के सामने ईश्वर लड़े – इनके सामने वह खुद क्यों आता है?

IV

पहले इशारा किया जा चुका है कि दलित चिंतन को सबसे पहला और भारी धक्का ढाई हज़ार साल पहले बुद्ध के चिंतन के रूप में लगा था। उस धक्के और धोखे से दलित चिंतन आज तक उबर नहीं सका है। उलटे, डॉ. आंबेडकर के रूप में वह इस धोखे में फँसता ही जा रहा है। इस दलदल से निकलने का उसके पास अभी कोई पक्का और मुकम्मिल उपाय नहीं है। असल फ़र्क यही है कि राजकुमार बुद्ध संघर्षशील दलित का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे। वास्तव में बुद्ध ने केवल अपनी लड़ाई लड़ी थी और वह भी ठीक तरह से नहीं लड़ी। उनका दलित की समस्या से कुछ लेना–देना नहीं था। बुद्ध की समस्या एक साधन संपन्न व्यक्ति की समस्या थी। ऐसी समस्या का समाधान दलित के लिए किसी मतलब का नहीं हो सकता। नुकसान यह हुआ है कि आज के दलित ने बुद्ध के बहकावे में आकर अपने स्वतंत्र चिंतन की खोज करनी छोड़ रखी है। वैसे, भारत के मध्यकाल के इतिहास में दलितों में से कबीर एक बहुत मज़बूत चिंतक हो चुके हैं। रैदास भी उसी जोड़ के हैं – उन दोनों को मिलाकर एक नाम दिया जा सकता है। उनमें से एक जूते बनाने वाला चमार है और दूसरा कपड़े बुनने वाला चमार–जुलाहा है। लेकिन उनके धार्मिक आंदोलनों को कई नुकसान हुए हैं। रैदास का अधिकांश साहित्य उपलब्ध नहीं है और कबीर का बीजक चोरी भी हुआ है। वह चोरी ब्राह्मणों ने की थी। जो बीजक उपलब्ध है, उसे पूरी तरह कबीर का नहीं कहा जा सकता। उधर, कबीर से पहले जाते हैं तो एकलव्य और शम्बूक संघर्षरत मिलते हैं और कबीर के बाद आते हैं तो फुले और आंबेडकर संघर्षशील मिलते हैं – लेकिन यहाँ से वहाँ तक बात एक ही फैली हुई है। हाँ, धार्मिक दृष्टि से कबीर और आंबेडकर में एक अंतर है कि कबीर बुद्ध के बहकावे में नहीं आए थे लेकिन दलित चिंतन बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के योगदान को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता। उनके बौद्ध होने में दलित को कोई शर्म महसूस करने की मजबूरी नहीं है। उलटे, वह कह सकता है कि दलित समाज बौद्ध धर्म का ऋणी नहीं है बल्कि बौद्ध धर्म दलित समाज का ऋणी है क्योंकि दलितों ने बीसवीं शताब्दी का अपना सबसे महान चिंतक उसे दिया है। दलित ने बौद्ध धर्म से कुछ लिया नहीं है बल्कि उसे केवल दिया है।

उधर, जाति के बारे में इस देश में कई गलतफहमियाँ चल रही है। ये गलतफहमियाँ बुद्ध के समय से ही चल रही हैं। असल में ये समस्याएँ बुद्ध के द्वारा छोड़ी गई समस्याएँ हैं। उन्होंने इन समस्याओं का कोई समाधान नहीं दिया जबकि यह उनकी ज़िम्मेदारी थी। वे इन समस्याओं से टकराने से बच कर चले गए। उन्होंने धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में सुकरात और ईसा वाला कठिन रास्ता न अपना कर राजकुमारों के सुभीते वाला रास्ता पकड़ा। बुद्ध सुकरात और ईसा की तरह दुख नहीं उठा सकते थे लेकिन खुद उन का पेट सुजाता की खीर से पहले छका हुआ था। वे सच में सुकरात की तरह ग़रीब नहीं थे लेकिन ग़रीबी उन्होंने ओढ़कर देखनी चाही थी जो विहारों के धनधान्य में बदल गई थी। यह बिल्कुल वैसा ही नाटक और छद्म था जैसा इस शताब्दी में उद्योगपति बिड़ला के आश्रम में गाँधी जी ने अपने कोट–पैन्ट उतारकर घुटनों तक की धोती पहन ली थी। बुद्ध ईसा की तरह कुमारी मरियम से पैदा नहीं थे जिन्होंने परमात्मा को अपने पिता के रूप में खोजा था।

ख़ैर, बात यह है कि पिछले तीन हज़ार सालों से इस देश में षोर मच रहा है कि जाति मिटाई जाएगी। सच यह है कि आज तक नहीं मिटी है। उलटे, जातिविहीन समाज की स्थापना का सपना द्विजों के उदारवाद के हाथ में एक हिप्पोक्रेसी का काम कर रहा है। दलित को इस सपने और इस वाग्जाल से बचना है। भारत में जाति ऐसी चीज़ से जुड़ चुकी है जो अमिट है। जाति में अपने माँ–बाप का नाम सम्मिलित रहता है जिसे कभी नहीं भूला जा सकता। अपने माँ–बाप का नाम लेने में कोई बुराई नहीं है – बुराई दूसरी बात में है। बुराई इस बात में है कि एक व्यक्ति को अपने माँ–बाप का नाम बताने में गर्व महसूस होता है तथा दूसरे व्यक्ति को अपने माँ–बाप का नाम बताने में हीनता का बोध होता है। बुराई इस बात में है कि एक व्यक्ति को अपने माँ–बाप का नाम बताने से अकारण नुकसान होता है लेकिन अब डॉ. आंबेडकर के बाद दलित चिंतन का क्या भविष्य है? भविष्य इस रूप में उज्ज्वल है कि दलित चिंतन को बौद्ध धर्म से जितनी जल्दी हो सके, हट जाना चाहिए। दलित के लिए बौद्ध चिंतन एक पराया चिंतन है। यह तब तक पराया नहीं लगेगा जबकि दलित का अपना चिंतन एक इतिहास के रूप में नहीं लिखा जाएगा। अपने स्वतंत्र चिंतन की राह पर आते ही दलित को बौद्ध चिंतन एक़दम पराया और निरर्थक लगने लगेग। इसी बात को देर तक सोचना है लेकिन इसमें कहीं भी बाबा साहेब को नहीं बिसारना है। बाबा साहेब ने अपने चिंतन में कोई ओछा काम नहीं किया है जिससे दलितों को शर्म महसूस हो। यही चिंतन के इतिहास के ज्ञान का फ़ायदा होना है। दूसरी तरफ़, यह प्रश्न भी उचित है कि दलित अपनी समस्या से खुद दलित के रूप में जूझता क्यों नहीं है? वह विभिन्न धर्मान्तरणों के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान खोता हुआ छुपता क्यों है? उसे चुनौती मिलने पर चुनौती के सामने आना चाहिए। सिंह पुरुष ऐसा ही किया करता है। दलित व्यक्ति चिंतन के क्षेत्र में विवशता और अपाहिजगीरी क्यों दिखाता है? प्रकृति की ओर से दिया गया उसके पास कौन सा वरदान नहीं है? आँख, कान, नाक में से कौन सी इन्द्रिय उस के पास नहीं है? वह कब लंगड़ा और लूला पैदा हुआ है? परमात्मा ने अपनी कौन सी नेमत उस पर नहीं बरसाई है? उसे अपने जन्म से शिकायत क्यों है? वह धरती पर अपने जन्म लेने को त्योहार की तरह क्यों नहीं मनाता है? वह अपनी मुस्कान को ब्राह्मण के होने या न होने से क्यों जोड़ता है? उस का सब कुछ दूसरों पर क्यों निर्भर है? इस सबके लिए वह खुद कहाँ ग़ायब है? उसने कैसे मान लिया है कि वह ख़ुश तभी होगा जब दूसरे उसे ख़ुश रहने देंगे? वह दूसरों से अपनी खुशी छीनता क्यों नहीं है?

बोध प्रश्न 1

आपने 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध का उपर्युक्त अंश ध्यान से पढ़ा होगा। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाए। अगर आपके उत्तर सही न हों तो निबंध के उक्त अंश को दोबारा पढ़िए।

1. पाठ के अनुसार इनमें से जो सही हो, उन पर सही ☑ का निशान लगाइए।

   (क) पिछले कुछ ज्ञात हज़ार वर्षों से दलित चिंतन एक अभिशप्त चिंतन रहा है। (सही / गलत)

   (ख) दलित चिंतन में निरंतरता रही है। (सही / गलत)

   (ग) विचार की निरंतरता से समय बर्बाद होने से बच जाता है। (सही / गलत)

   (घ) दलित की मुख्य समस्या आस्तिकता और नास्तिकता की नहीं है। (सही / गलत)

2. डॉ. धर्मवीर के अनुसार दलित चिंतन को उसकी पूर्णता तक पहुँचने में सबसे बड़ी रुकावट है :

   (क) दलित चिंतक ग़ैर चिंतक की शरण में चला जाए।

   (ख) ग़ैर दलित लोग इस चिंतन का प्रतिनिधित्व करने का दावा पेश करें।

   (ग) बुद्ध के युग को खाली दिखाना।

   (घ) ग़ैर दलितों का उदारवाद।

3. सूर्य और चाँद दलित कविता की उतनी ही संपत्ति है जितनी :

   (क) ये सब धरती के जीवन का महान सुख है।

   (ख) किसी की प्रतिक्रिया में इस सुख से वंचित रहना।

   (ग) संसार के किसी अन्य कौम के कवि की।

   (घ) धर्म और ईश्वर की दृष्टि से निहत्था होना।

निबंध का वाचन (भाग–2)

दलित चिंतन की एक अन्य गंभीर समस्या यह है कि उसे किस नाम से पुकारा जाए। इसके बारे में आज तक कुछ निश्चित रूप से तय नहीं हुआ है। इसे कोई भी नाम दिया जाए यह उसी से परेशान हो जाता है। यह अपने चमार के नाम से घबराया हुआ है और न ही यह खुद को भंगी कहलवाने देता है। दलित को एक नाम गाँधी जी ने 'हरिजन' का दिया था। गाँधी जी को ऐसा कोई हक नहीं था लेकिन दलित की समस्या यह है कि उसे कोई शब्द पसंद नहीं है। हिंदुस्तान के दलित ने शब्द 'हरिजन' को अपने लिए अपशब्द और अपमानजनक माना और क़ानून की भाषा में इसके प्रयोग पर पाबन्दी लगवा दी है। यह ठीक हुआ लेकिन उसने विकल्प में अपना कोई शब्द नहीं दिया है। खुद आज

प्रयोग हो रहे इस 'दलित' शब्द से उसे भारी आपत्ति है। पुरानी शब्दावली के 'शूद्र', 'अस्पृश्य', 'श्वपच', 'सूकर' और 'चाण्डाल' जैसे शब्दों से वह खुद को जोड़ना नहीं चाहता। संविधान के बिलकुल नये शब्द 'एस–सी' और 'अनुसूचित जाति' के प्रयोग से भी वह डरा हुआ है।

मुसीबत इस बात की है कि दलित दूसरों के दिए हुए हर शब्द से असहमति ज़रूर दर्ज़ करता है,यह उस का हक भी है। लेकिन उसने खुद के लिए अभी तक कोई नाम चुन कर नहीं दिया है। 'प्रोटेस्टेन्ट हिन्दू', 'आदि हिन्दू'– ये कोई नाम नहीं हैं – ये हिन्दू हैं। इनके अतिरिक्त, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान और ईसाई– ये उसके अपने नाम नहीं है। इन नामों से वह दूसरों में केवल छुपना और रलना चाहता है। लेकिन इस देश में धर्मान्तरण उसकी समस्या का कोई समाधान नहीं है क्योंकि उतना धर्मान्तरण ब्राह्मण भी कर जाता है। धर्मान्तरण के मामले में ब्राह्मण दलित से कहता है – 'तू डाल–डाल, मैं पात–पात।' तब समाधान क्या है? समाधान इस बात के जानने में है कि उसकी समस्या नाम के बजाय हीनता की है। उसे कोई भी नाम दिया जाए, वह उसी से चिढ़ जाता है। इसका भाषा विज्ञान में शब्द–व्युत्पत्ति–शास्त्र से कोई संबंध नहीं है। शब्द–व्युत्पत्ति–शास्त्र लाचार है यहाँ हर शब्द पिटता है – 'बुद्ध' का मतलब 'बुद्धू' हो जाता है। यह समस्या बहुत पुरानी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय भी लोग अपनी जाति को छिपाने की कोशिश करते थे। ग्रंथकार लिखता है – "जो लोग अपना देश, जाति, गोत्र नाम और अपने अध्यवसाय का ठीक–ठीक पता न देते हों, नीच कर्म करने वाले, नीच जाति में उत्पन्न व शंकित लोग हैं।" लेकिन दलित किसी का चोर और जार नहीं है। इसने किसी की बेटी और बहू नहीं भगाई है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि आज भी सरकारी सेवाओं में आरक्षित कोटे से आए हुए कई कर्मचारी और अधिकारी लोग दफ़्तरों में अपनी जाति को छुपाते हैं। समस्या यहाँ तक गंभीर बनी हुई है कि कई दलित लेखक तक अपने साहित्य और सभा–समाजों में अपनी जाति को छुपाते हैं। किसी भी साहित्यिक लेखन का सबसे पहला उद्देश्य यह होना चाहिए कि लेखक अपने पाठकों की हीनता–ग्रंथि को समाप्त करके उन्हें शक्ति और स्वतंत्रता की ओर ले जाए। लेकिन यहाँ अभी स्वयं लेखक ही हीनता–ग्रंथि से ग्रसित है। इसलिए वास्तविक समाधान के लिए हर हालात में, दलित के मन से हीनता की ग्रंथि समाप्त होनी है। वह दलित व्यक्ति अपने प्रतिद्वंद्वी से क्या लड़ेगा जो मात्र 'चमार' और 'भंगी' शब्दों से डर गया है? दूसरे, वह आदमी समाज में किसी मतलब का नहीं है जो अपने बाप का और अपनी माँ का नाम गर्व से नहीं ले सकता। संसार का कोई बच्चा अपने माँ–बाप का नाम लेना नहीं छोड़ता है।

समाधान यह है कि दलित चिंतक ख़राब से ख़राब, कमज़ोर से कमज़ोर और घृणित से घृणित शब्द अपने लिए पकड़ लें और उसी का अर्थ बदल लें। शब्दों के अर्थ स्थायी नहीं हैं और बिना किए कुछ मिलता नहीं। ज़्यादातर दलित व्यक्ति की शिकायत ऐसी होती है कि इसके लिए कोई दूसरा आदमी काम कर देगा। शिकायत करने के बहाने यह खुद ग़ैर–जिम्मेदार और ग़ायब हो जाता है। पता होना चाहिए कि शब्दों के अर्थ समय के अनुसार बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन के बाद भी ब्राह्मण को जिस शब्द से स्वप्न में भी डर लगता है वह 'चाण्डाल' है। पानी पानी है पर क्या सौ डिग्री सेन्टीग्रेड के उबले हुए पानी में भी कोई नहाना चाहेगा? लोहा, लोहा है पर क्या कोई तपते लोहे को हाथ से छूना

चाहेगा? चमार चमार है पर जब वह ब्राह्मण को कुश्ती के मैदान में ढहा लेगा तो कैसा चमार होगा? वह ऐसा ही चमार बन जाए कि ब्राह्मण हाथ जोड़ कर उसका सम्मान करने लगे –फिर शब्दों में क्या रह जाएगा? असली समस्या पहचान की है। दलित चाहता रहा है कि विभिन्न धर्मान्तरणों के द्वारा उसकी पहचान मिट जाए लेकिन चिंतन के स्तर पर यही बात उसके सबसे ज़्यादा नुकसान में है। उलटे, उसे अपनी पृथक और विशिष्ट पहचान खुद खोजनी चाहिए। मनुष्य जी रहा है और उसकी पहचान मिट रही है – यह पशु का जीवन है। यह जानवर के गले में माला है। प्राप्ति और योगदान यह है कि मरने के बाद भी मनुष्य की पहचान बनी रहे। कहा जा सकता है कि दलित के साथ ऐसा कोई अपराध नहीं जुड़ा है और न ही वह किसी ऐसी अच्छी बात से महरूम है कि कोई उसे हीन बनाए रखे या वह खुद को ऐसा सोचता रहे। प्रकृति और भगवान ने उसे अपने सारे साजो–सामान से नवाजा है। बच्चा कितना प्यारा पैदा होता है। उसे भगवान की दी हुई सारी इंद्रियाँ और शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वह जन्म लेते ही हाथ–पैर हिलाता है और बचपन में बढ़ता हुआ जबान से मधुर–मधुर तुतलाता है। वह अपने घुटनों के बल रेंगता है और फिर खड़ा होता है। वह हँसता है और किलकारियाँ देता है। उसका शरीर आश्चर्यों का ढेर है।

कोई कारण नहीं है कि दलित इस संसार में खुद को हताश महसूस करे। जीवन के उबाल में वह थका–थका न रहे। किस के पास ग़रीबी नहीं थी? कौन सी सभ्यता चर्मयुग से गुज़र कर नहीं आई? किस सभ्यता के लोग पाषाण युग में नहीं जिए हैं? कौन युद्ध भूमि में बिना बिछौने के पत्थरों पर नहीं सोया है? किस कौम ने सूखा पड़ने पर भगवान से अंधविश्वासों की तरह दोनों हाथ आकाश की ओर उठा कर वर्षा की भीख नहीं माँगी है? कौन योद्धा संकट काल में जंगलों की झाड़ियों में गीदड़ों की तरह लुका–लुका नहीं फिरा है? किस ने घास की रोटियाँ नहीं पकाईं और किसने कुत्ते का मीट नहीं खाया? किनकी माताओं के साथ बलात्कार नहीं हुए हैं? किनके मन–मन भर जनेऊ और चोटियाँ नहीं काटी गई हैं? सही बात यह है कि जजिया कर लगाए गए हैं, मुगलों को बेटियाँ दी गई हैं और छाती पर एंग्लो–इण्डियन पैदा हुए हैं। जब ऐसी कौमें अपने आप को गर्व से हिन्दू और ब्राह्मण कह सकती हैं तो दलित को खुद को चमार और चाण्डाल गौरव से क्यों नहीं कहना चाहिए? उत्थान–पतन चलते रहते हैं, कौमों में अमीरी–ग़रीबी बँटती रहती है, लेकिन इन कारणों से कोई कौम अपनी पहचान नहीं मिटाया करती। दलित को ख़ुश होना चाहिए कि इतिहास ने उसे एक पहचान दी है – भले ही आज यह दुख की है पर कल को सुख में बदल जाएगी। समस्या अस्पृश्यता और अपमान की है तो उसे मेहनत करके मिटाया जा सकता है। सभी कौमें ऐसा करती हैं, दुनिया की कोई कौम दुखों की इस प्रक्रिया से नहीं बची हैं, अन्यथा अंग्रेज़ों के गुलाम होकर भारत के ब्राह्मण और ठाकुर क्या संसार के सामने कहीं अपना मुँह दिखाने लायक माने जा सकते हैं? गुलामी में उनके साथ क्या नहीं हुआ था लेकिन सन् 1950 में वे फिर स्वतंत्र भारत का संविधान लिखने बैठ जाते हैं।

बहुत अच्छा प्रश्न है कि इतना कहने से क्या दलित का काम चल जाएगा कि उसे ब्राह्मण ने मारा है। जीवन के संघर्ष में किस ने किस को नहीं मारा? कोई एक कौम दूसरी कौम को मौक़ा मिलने पर मारने से कब छोड़ती है? इसलिए, असली सवाल यह है कि किसी कौम के पास दूसरी कौम का जवाब क्या है? आख़िर, दलित किसे बता रहा है कि उसे

ब्राह्मण ने मारा है? ब्राह्मण को बताने से कोई फ़ायदा नहीं है क्योंकि वह दलित का कोई मसीहा बना कर नहीं भेजा गया है। यदि दलित को यह बात किसी को बतानी है तो खुद अपने आप को बतानी है कि उसे ब्राह्मण मार रहा है। केवल तभी वह ज़िम्मेदारी और सही समाधान की ओर बढ़ सकता है।

दलित अपने संघर्ष की ज़िम्मेदारी लेने से क्यों बचता है? जो लड़ाई उस पर थोपी गई है, उबाल खा कर, वह उससे लड़ता क्यों नहीं है? वह बौद्ध धर्म के, सिक्ख धर्म के, इस्लाम के और ईसाइयत के घरों में लुकता–छिपता क्यों फिर रहा है? क्या उसे यक़ीन है कि वहाँ–वहाँ वह ब्राह्मण द्वारा ढूँढ़ नहीं लिया जाएगा? सच यही है कि किसी भी धर्मान्तरण के द्वारा वह लड़ नहीं रहा है बल्कि छिप रहा है। लेकिन वह कहीं भी छिपे ब्राह्मण द्वारा वहीं खोज लिया जाता है और वहीं दलित बनाया जाता है। यहाँ 'दलित बौद्ध', 'दलित सिक्ख', 'दलित मुसलमान' और 'दलित ईसाई' के शब्द वास्तव में मौजूद और प्रचलन में हैं। आख़िर, तब दलित क्या करेगा जब ब्राह्मण भी उससे पहले बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान या ईसाई बन जाता है? सही बात यह है कि दलित और ब्राह्मण की यह ऐतिहासिक लड़ाई हर धर्म में लड़ी जा रही है। इसलिए दलित का काम है कि यदि ब्राह्मण ने उसे चुनौती दी है तो वह उसे हिम्मत से स्वीकार करे। यह युद्ध है – इस दृष्टि से इस लड़ाई में कुछ भी अलौकिक नहीं है। यह सांसारिक और सम्मान की लड़ाई है।

यह बात सही है कि ब्राह्मण की यह गंदी आदत है कि वह दुनिया में सबसे लड़ाई मोल लेता फिरता है। यदि रोटी–पानी और धन–दौलत का कोई मुद्दा शेष नहीं है तो वह लड़ाई के लिए न्यौता देता हुआ इतना भर कह देगा कि वह सबसे श्रेष्ठ है। इसमें यह बात भी सही है कि इससे उसे आज तक कोई लाभ नहीं हुआ है। वह बार–बार विदेशियों द्वारा गुलाम बनाया गया है पर उस की रट है कि वह यह कहना नहीं छोड़ेगा कि वह सबसे श्रेष्ठ है। लेकिन यह हर पहलवान का वाजिब हक है कि वह दंगल में आ कर अपना लंगर घुमा दे। यह परंपरा अखाड़े के नियमों का एक हिस्सा है। यह दलित का काम है कि ब्राह्मण के द्वारा दंगल में लंगर घुमाते ही वह उस से कुश्ती का हाथ मिलाए और बाज की तरह जा भिड़े। यह कुश्ती के बाद ही तय होता है कि भिड़तू में कौन सर्वश्रेष्ठ पहलवान है। दलित की दिक्कत यह है कि वह बिना कुश्ती लड़े ही गाँव में शिकायत करता फिर रहा है कि ब्राह्मण ने दंगल में लंगर घुमा कर अशोभनीय कार्य किया है। उलटे, उसे यह सोचना चाहिए कि ब्राह्मण की मिली चुनौती से उसे अपने दो हाथ दिखाने का अवसर मिलेगा। दलित इस चुनौती को रंगमंच से लेकर अखाड़े की सहजता में लेना सीखे। वह बौद्ध धर्म में या अन्य किसी धर्म में कितना भी बचता फिरे लेकिन एक दिन उसे यह लड़ाई अपनी रीढ़ पर सीधे खड़े होकर अंतिम रूप से खुद लड़नी है। असल में, इस द्वंद्व में उसने अपने हिस्से का आधा काम छोड़ रखा है। एक बार वह अपनी रीढ़ तो सीधी करे – एक अंगड़ाई तो ले। गुणात्मक परिवर्तन की संभावनाएँ इतनी अधिक हैं कि यहाँ चिड़िया बाज बनी है। इस संसार में आश्चर्य है कि यहाँ अंधों को सब कुछ दीखा है, लंगड़ों ने पहाड़ लांघे हैं, बहरों ने सुना है और गूंगों ने दोबारा बोलना शुरू किया है। परमात्मा से सही प्रार्थना करे तो दुनिया में एक केवल दलित ही उसकी अपार दया से वंचित क्यों रह जाएगा?

V

साहित्य के क्षेत्र की सबसे बड़ी बहस यह है कि दलित लेखक अपनी कला के बारे में क्या सोचते हैं? दलित लेखक का यह पूरा–पूरा हक है कि वह साहित्यिक भाषा और

साहित्यिक मूल्यों पर अपने स्पष्ट और अलग विचार रखे। लेकिन उस तरफ कम ध्यान देकर वह भाषा और मूल्यों को नकारने की क्षमता और स्थिति में नहीं है। दलित साहित्य का कलापक्ष अलग हो सकता है लेकिन दलित साहित्यकार साहित्य में कलापक्ष के ही विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता। ऐसे विचार से दलित साहित्य को बचने की आवश्यकता है। यह बिलकुल धर्म और ईश्वर की तरह की बात है। धर्म, ईश्वर और कला पशु के पास नहीं हैं – क्या दलित चिंतक ऐसे पशु जीवन को पसंद करना चाहेगा? इसलिए कहा जा रहा है कि कोई दलित साहित्यकार अपने साहित्यिक कर्म में अभ्यास और साधना को भूलने की भूल नहीं कर सकता। इस दृष्टि से सोचने पर कभी–कभी लगता है कि शायद हिंदी का दलित साहित्यकार अपनी रचना लिखते समय द्विज समीक्षक से डरा हुआ है। विरोधाभास यह है कि वह उसी से मान्यता चाहता है जिसके भाषागत और साहित्यिक मूल्यों के खिलाफ़ उसने दलित साहित्य का बिगुल बजा रखा है।

यह बात दलित साहित्य के लिए शुभ रहेगी कि दलित साहित्यकार का अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। दलित साहित्य के लिए यह स्थिति भी गर्व की होगी कि उसे अपनी भाषा के व्याकरण का ज्ञान है। वह द्विज रसों, द्विज छंदों और द्विज अलंकारों को नकार सकता है लेकिन धर्म और ईश्वर की तरह उसे अपने दलित रसों, दलित छंदों और दलित अलंकारों की खोज कर उनका प्रयोग करना चाहिए। उसे नए भाषाई और साहित्यिक मूल्य खड़े करने हैं और उन नए मूल्यों में बंधना भी अवश्य है। वह बेकाबू या अनपढ़ा होने में ज़्यादा देर तक रसमग्न होकर आनंद नहीं ले सकता। जहाँ उसे कमज़ोरी में अपने दलित पाठकों के सामने विनीत होना चाहिए वहाँ वह द्विज समीक्षकों का हौवा खड़ा करके बड़बोला नहीं बन सकता। कोई काम नहीं आता है तो सीख लेना चाहिए क्योंकि उसके पास बुढ़ापे तक का पर्याप्त समय है। वह अपने काम न सीखने की कमज़ोरी का बहाना नहीं बना सकता। उस पर किसी की जबर्दस्ती नहीं है – तब उस काम का कोई दूसरा व्यक्ति अच्छी तरह से कर लेगा। कहने का मतलब यह है कि उससे साहित्यिक ग़लतियाँ हो सकती हैं लेकिन ग़लतियाँ करते रहना उसका अधिकार नहीं है। कम से कम ऐसी स्थिति में उसे बड़बोलापन छोड़ कर विनीत अवश्य होना पड़ेगा। ज़िम्मेदारी की वजह से उसे मूडी होने की भी ज़रूरत नहीं है।

दलित साहित्य की यह मान्यता होनी चाहिए कि भावपक्ष जितना गहरा होगा, अपनी अभिव्यक्ति में वह कलापक्ष में उतना अधिक सँवरेगा। कलापक्ष भावपक्ष को नष्ट करने के लिए नहीं बल्कि उसकी प्रभावी और सशक्त अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के लिए है। अच्छे कपड़े अच्छे मनुष्य का हमेशा श्रृंगार है। बढ़ई मात्र मेज़ बना रहा है लेकिन अच्छी बात तब होगी जब वह अच्छी मेज़ बनाए। मेज़ मज़बूत भी हो और सुंदर हो– एक साथ इन दोनों माँगों में कोई बुराई नहीं है। कोई लेखक अपने प्रिय पाठकों पर अपनी वैसी पुस्तक थोपना नहीं चाहेगा जो साहित्यिक से रहित हो। किसी भी साहित्य में साहित्यिकता का होना अनिवार्य है। यह बात दलित साहित्यकार के पक्ष की है कि वह अभ्यास और साधना में बहुत बढ़ा–चढ़ा है। उसे लिखकर भागना नहीं है बल्कि यहीं जमना है। उसे मात्र पुस्तक लिखने की फर्ज़ अदाई नहीं निभानी है बल्कि विश्व स्तर का बेहतरीन और सर्वश्रेष्ठ साहित्य लिखने की ज़िम्मेदारी पूरी करनी है। यदि ऐसा नहीं है तो द्विज निंदक की बात एक तरफ़, क्योंकि उससे उसे कुछ लेना–देना नहीं है, खुद उसका अपना दलित पाठक उसे माफ करने वाला नहीं है। इसलिए इस साहित्यिक कर्म में कोई भूल करने का या लापरवाही बरतने का तनिक भी जोख़िम ख़तरे से खाली नहीं है।

एक तरफ़, दलित रोने भी कुछ ज़्यादा रोते हैं और दूसरी तरफ़, मतलब के रोने इन्हें रोने नहीं आए। इन्होंने आधुनिक काल में संसार का कोई ऐसा रुदन काव्य नहीं दिया जिसे सुन कर कसाई भी रो उठे। इसकी पूरी–पूरी गुंजाइश है, बल्कि इसकी जगह खाली है कि साहित्य में दलित की तरफ़ से ऐसा महान कार्य हो। लेकिन लिखित रूप में अभी तक न ही दलित की हूक और न ही दलित की कराह संसार के सामने आई है। आत्मकथा के रूप में जो सामने आएगा वह घरों का फजीता ज़्यादा होगा। इस क्षेत्र में भी यह अच्छा रहेगा कि यदि फजीता होना ही है तो दो–चार जिम्मेदार किताबें लिखकर एक बार यह फजीता पूरा कर लिया जाए। लेकिन तब उसमें चिंतन होना चाहिए, दिशा होनी चाहिए, संदेश और प्रेरणा होनी चाहिए। अभी दलित लेखकों द्वारा आत्मकथाएँ लिखने की साहित्यिक सीमाएँ हैं। पहली सीमा यही है कि अभी लेखकों के जीवन लंबे होने हैं और उन्हें जीवन की समग्रता देखनी है। वह केवल अपने बाल्यकाल को आत्मकथा का विषय बना रहे हैं। दूसरी सीमा यह है कि अभी दलित लेखक को जीवन और समाज पर हावी होना है। उन्हें समाज से बड़ी छेड़छाड़ करनी है। उन्हें सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में सक्रिय होना है। अन्य क्षेत्रों को छोड़ दिया जाए तो साहित्य के क्षेत्र में भी उन्हें अभी बहुत दूर जाना है। लेकिन सबसे अच्छी बात यह है कि वे रुक नहीं रहे हैं, उन्होंने बड़े रास्ते पर चलना शुरू कर दिया है, बचपन की ही बात सही, लेकिन इससे दलित साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही है। उनके इस साहित्य का प्रभात की फेरी के समान स्वागत होना चाहिए।

VI

अब पहली बार समय आया है कि दलित चिंतन का इतिहास लिखा जाए। ऐसी कोशिश पहले कभी नहीं हुई है। इस कोशिश से दलित समाज एक सही राह पर पहुँच सकेगा। इस इतिहास से पता चल सकेगा कि न तो दलित को अपने पुराने चिंतकों को कोसने की ज़रूरत है और न नए चिंतन को आगे बढ़ने से रोकने की ज़रूरत है। असल में, बिना इतिहास के ज्ञान के दलित चिंतक कई खेमों और भूगोलों में बंटा परेशान खड़ा है कि वह क्या करे। यदि केवल आज के उत्तर भारत की बात ली जाए तो या तो वह रैदास और कबीर की जोड़ी को सब कुछ मानता है या डॉ. आंबेडकर को सब कुछ मानता है। वह उन सब का एक क्रमिक मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है। डॉ. आंबेडकर के मानने में उसे रैदास और कबीर की अवहेलना करनी पड़ रही है और रैदास या कबीर को मानने में उसे डॉ. आंबेडकर के योगदान को भुलाना पड़ रहा है। यूँ, उसे कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। लेकिन इतिहास को क्रमिक रूप में लिखने से उसे दलित चिंतन के विकास का पता चल सकेगा।

बताया जा सकता है कि अब तक दलित चिंतन कई वैचारिक स्थितियों से होकर गुज़र चुका है। हर स्थिति में उसने अपना साहित्य लिखने की कोशिश की है। उसका साहित्य वैसा ही बना है जिस स्थिति या प्रभाव में वह रहा है। दलित चिंतन की वे स्थितियाँ इस प्रकार क्रमबद्ध की जा सकती हैं :

1. दलित और द्विज के बीच एक भारी भेद है जो अस्पृश्यता के रूप में प्रकट होता है। यह अस्पृश्यता की खाई एक सी नहीं है बल्कि समयानुसार और संकटानुसार इस की तीव्रता घटती और बढ़ती रहती है लेकिन बीज नाश की तरह कभी ख़त्म नहीं होती।

2. दलित अस्पृश्यता के खिलाफ़ संघर्ष करता है। वह हर युग में द्विजों को चुनौती देता हुआ खड़ा हो जाता है।

3. इस रणनीति में द्विज बड़ी चतुराई से खुद को कट्टरपंथ और उदारवाद के दो रूपों में विभाजित कर लेता है जिसमें फिर चुनौती का सामना करने के लिए कट्टरपंथ कभी सामने नहीं आता। इस काम के लिए वह अपने जुड़वा भाई उदारवाद को भेजता है।

4. उदारवाद को दलित से बात करने में सहजता रहती है। पूरा द्विज समाज कथनी और करनी के दो हिस्सों में बँट जाता है। उदारवाद की कथनी और कट्टरपंथ की करनी एक साथ मिल कर चलती हैं। ये साँप की दो जीभें हैं और पीछे से एक जुड़ी हैं।

5. कट्टरपंथ अपने पेट में से उदारवाद के स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद और गाँधी जी जैसे आदमी पैदा करता है। ये पैदा लोग दलित चिंतन को बहकाने का काम करते हैं। इनका काम दलित को बेमतलब कायल कर के चुप करने के सिवा दूसरा नहीं है।

6. आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन, पाण्डिचेरी आश्रम, साबरमती आश्रम और पवनार आश्रम जैसी संस्थाएँ हिंदू धर्म के एक ख़ास संकट काल के दौर के कुकुरमुत्ते वाली उपज होती हैं। द्विज समाज के सिर पर से आपत्ति टल जाने पर ये संस्थाएँ और ये व्यक्ति इतिहास के गर्भ में पुनः विलीन हो जाते हैं। इनकी भूमिका पूरी हो जाती हैं। फिर ये अगले काफी समय तक जन्म नहीं लेते हैं जब तक कि द्विज समाज पर कोई नया संकट न खड़ा हो।

7. दलित चिंतन को उदारवाद से सबसे बड़ा ख़तरा तब पैदा होता है जब गाँधी जी जैसे लोग दलितों का प्रतिनिधित्व करने का दुस्साहसी दावा पेश कर जाते हैं। यह दलितों का नेतृत्व छीनने की बात है। इससे बड़ी वैचारिक डकैती दूसरी नहीं हो सकती।

8. दलित चिंतन के सामने द्विजों ने एक बाधा–दौड़ खड़ी कर रखी है। यह बाधा–दौड़ इतनी लंबी है कि बिना पिछले इतिहास के ज्ञान के कोई एक अकेला व्यक्ति इसे सौ वर्ष की आयु में भी पार नहीं कर सकता।

9. पहली बाधा–दौड़ में व्यक्तिगत रूप से अच्छा होकर कोई द्विज व्यक्ति दलित चिंतक पर व्यक्तिगत उपकार कर सकता है। तब दलित चिंतक उसकी व्यक्तिगत अच्छाइयों के बोझ के तले दबा पड़ा रह सकता है। लेकिन इसका व्यवस्था में परिवर्तन से कोई सरोकार नहीं है।

10. दूसरी बाधा–दौड़ में दलित चिंतक को उदारवादियों के मंच सुलभ हो सकते हैं। उसे आर्य समाज द्वारा 'महाशय' और गाँधीवाद द्वारा 'हरिजन' बनाया जा सकता है।

11. तीसरी बाधा–दौड़ में उदारवाद जन्मना वर्ण और कर्मणा वर्ण के धोखे खड़े करता है। असल में, वह डॉ. आंबेडकर द्वारा खोजी गई रिडल खड़ी करने लगता है। वह शब्दजाल रचता है। दलित लेखक इस शब्दजाल के चक्कर में आ जाते हैं।

12. चौथी बाधा–दौड़ में उदारवाद जाति को मिटाने का सपना दिखाया करता है। दलित लेखक इस गहरी खन्दक में गिर सकता है। यह लुभावनी भाषा है। अब दलित चिंतक क़सम खा ले कि आगे भूल कर भी उस के मुँह से जाति को मिटाने की बात नहीं निकलेगी। वह केवल अपनी जाति को शक्तिशाली बनाए।

13. पाँचवी बाधा–दौड़ में द्विज चालाक बन कर वेदान्त के अद्वैत की बात सामने ला सकता है। दलित चिंतक इस भुलावे में एक दम आ सकता है। लेकिन यह छलावा है और ज़हर की गोली है। इसमें पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता के बीच अनिर्वचनीयता का हलाहल भरा पड़ा है।

14. छठी बाधा–दौड़ में वह यह बहस फेंक सकता है कि षूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार है। लेकिन दलित चिंतक को इस बहस में कभी नहीं पड़ना चाहिए। उसे मान कर चलना चाहिए कि वेद उसके माँ–बाप और उसके पूर्वजों ने नहीं लिखे हैं, इसलिए उसे वे ग्रंथ प्रिय नहीं हैं। यदि कोई ब्राह्मण उसे जबरन वेद पढ़ाने आए तो उसे उससे कह देना चाहिए – ''संस्कृत मेरी मातृभाषा नहीं है और वेद मेरे धर्मग्रंथ नहीं हैं।''

15. सातवीं बाधा–दौड़ में आधुनिक विज्ञान और अंतरिक्ष की खोज का दुरुपयोग हो सकता है। द्विजों द्वारा अध्यात्म, विज्ञान और पर्यावरण की ऐसी भावभीनी और लुभावनी बातें की जा सकती हैं कि मानो धरती पर दलित के दुख जैसी कोई समस्या नहीं है या उस का कोई महत्त्व नहीं है।

16. आठवीं बाधा–दौड़ में आज द्विजों के हाथ में आया हुआ मार्क्सवाद का झुंझुना है। इस समय मार्क्सवाद द्विजों के उदारवाद का पूरा–पूरा काम कर रहा है। दिखाने के लिए वह वेद को गाली दे सकता है। कई दलित लेखक इस जगह ठहरे हुए हो सकते हैं।

17. नौवी बाधा–दौड़ में द्विज दलित से बात करने के लिए उसके घर आ सकता है। वह उसके घर का पानी पी सकता है। लेकिन इस पूरी लंबी बाधा–दौड़ से, एक बार में ही पार होने का, सबसे सरल रास्ता है कि दलित चिंतक द्विजों से किसी संवाद और बहस में न पड़े। वह द्विज से संवादहीन बन कर रहा है क्योंकि संस्कृत उसकी मातृभाषा या पितृभाषा नहीं रही है। आगे भी उसे इस जाल से यह संवादहीनता ही बचाएगी– जो मर्ज है वही दवा बनेगा।

18. दसवीं बाधा–दौड़ दलित खुद खोजता है। इस बाधा–दौड़ में दलित के लिए इस्लाम, ईसाइयत, सिक्ख और बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण के रास्ते पड़ते हें। इन धर्मान्तरणों से वह इन सुरंगों में पहुँच कर ग़ायब हो जाता है।

19. इस समय का दलित चिंतन यहीं रुका खड़ा है कि उसे धर्मान्तरणों से भी आगे जाना है। यह तभी संभव है जब उसे अपने पुरखों के चिंतन का ज्ञान हो। तभी उस की आगे की कार्यवाही रेखांकित हो सकती है।

20. इतिहास के ज्ञान का लाभ यह है कि अब दलित उन रास्तों पर पुनः नहीं चलेगा जो रास्ते उसके पूर्वज तय कर चुके हैं। वह वहाँ से आगे अपने काम को शुरू करेगा जहाँ से उसके पूर्वजों ने उस काम को छोड़ा है। उदाहरण के रूप में,

अब किसी अगले दलित चिंतक को डॉ. आंबेडकर वाले महाड़ सत्याग्रह और कालाराम मंदिर प्रवेश के लिए आंदोलन चलाने की ज़रूरत नहीं है। उसे मान कर चलना चाहिए कि इन मामलों में बाबा साहेब जो अनुभव कर चुके हैं वह सही, पर्याप्त और पूरा है। वास्तव में यदि डॉ. आंबेडकर को पता होता है कि ऐसे अनुभव रैदास और कबीर पहले कर चुके हैं तो पुनः वही बात न दोहराने से उन का समय बच जाता। तब वे अपनी पैंसठ साल की उम्र में दसवी बाधा–दौड़ के बौद्ध धर्म के लुभावने धर्मान्तरण से भी पार हो चुके होते।

21. अब भावी दलित चिंतक को हिन्दू धर्म के ग्रथ पढ़ने और उनकी आलोचना करने की कोई ज़रूरत नहीं है। वह मान ले कि उस कार्य को बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर बहुत अच्छी तरह से कर चुके हैं और वह पर्याप्त है। तभी उसके विचार में से विचार निकलेगा अन्यथा सदा की तरह एक पायथागोरस की प्रमेय निकालते रहने से उस का अमूल्य समय नष्ट होता रहेगा।

22. अगले दलित चिंतक को गुरु रैदास, संत कबीर, स्वामी अछूतानंद, गुरु बख्शी दास, संत चोखा मेला, ज्योतिबा फूले, श्री नारायण गुरु, अयंकाली, नन्ददयाल, पेरियार स्वामी और बाबा साहेब आंबेडकर आदि अपने सभी महापुरुषों के चिंतन को सम्मान की दृष्टि से देखना है और इतिहास में उनका क्रम और योगदान निर्धारित करना है। मूल्यांकन यही किया जाना है कि इन दलित महापुरुषों को द्विजों ने अपनी खड़ी की हुई लंबी बाधा–दौड़ में कितनी दूर तक और कितनी देर तक उलझाया है और ये चक्रव्यूह का कौन सा द्वार तक तोड़ पाए थे।

23. जब भावी दलित चिंतन की बात की जा रही है तो इस पहलू को नहीं भुलाया जा सकता कि व्यक्तियों की अभिरुचियाँ भिन्न–भिन्न हो सकती हैं। दलित व्यक्ति मूलतः एक मनुष्य पैदा होता है, इसलिए उस हद तक उसके लिए मानववाद को स्थान देना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि एक बँधे–बँधाए समाज दर्शन में इतना लचीलापन होना चाहिए कि उसके व्यक्ति को मानसिक और वैचारिक स्वतंत्रता का अहसास होता रहे। दलित व्यक्ति दलित समाज का सम्मानित सदस्य है और उसकी अगली मानवीय संभावनाओं पर रोक नहीं लगाई जा सकती लेकिन व्यक्ति के लिए भी यह लाजिम होगा कि वह अपने समाज का नुकसान करने के लिए अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग नहीं करेगा। समाज के थोड़े बंधनों से व्यक्ति सजता है तथा थोड़ी सी स्वतंत्रता से व्यक्ति अपने समाज को हृदय से भर देता है। किसी की व्यक्तिगत मित्रता में समाज आड़े न आए और व्यक्तिगत मित्रता के कारण कोई व्यक्ति अपने समाज को गिरवी न रख दे – ये दो बातें एक साथ चलनी चाहिए।

बोध प्रश्न 2

1. डॉ. धर्मवीर के अनुसार पहचान का सवाल किस तरह दलित चिंतन के लिए गंभीर समस्या है?

....

....

2. दलितों के धर्मान्तरण को लेकर लेख के क्या विचार हैं?

....

....

3. दलित साहित्यकार के साहित्य कर्म में किसका महत्त्व सबसे अधिक है?

....

....

12.4 निबंध का सार

'अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित चिंतन की स्थिति और संभावना का विश्लेषण किया है। इस प्रक्रिया में वे दलित चिंतन की पृष्ठभूमि पर भी अपने विचार इस निबंध में रखते हैं। वे मानते हैं कि सदियों से दलित–चिंतन एक अभिशप्त चिंतन रहा है। दलित की भाँति दलित चिंतन भी कई हज़ार वर्षों तक एक अभिशप्त चिंतन रहा। यह स्थिति दलित चिंतन की पृष्ठभूमि है। डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि इस निबंध का मुख्य उद्देश्य इस बात को रेखांकित करना है कि अभिशप्त चिंतन की स्थिति से उठकर दलित चिंतन को स्वतंत्र, मुक्त और इतिहास चिंतन की ओर जाना है।

लेखक का मानना है कि जब तक दलित चिंतन में केवल ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद का विरोध रहेगा तब तक अभिशप्त रहेगा। जब दलित चिंतन इससे आज़ाद हो जाएगा तब वास्तव में उसकी मुक्ति का दिन होगा। दलित चिंतन में निरंतरता का अभाव है, जिसका मुख्य कारण शिक्षा का अभाव है। विचार की निरंतरता चिंतन के विकास में सहायक होती है। किंतु दलित चिंतन का विकास उस रूप में नहीं हो पाया और न ही उससे किसी विशिष्ट धर्म का ही जन्म हुआ। इस स्थिति के लिए जिस वैचारिक यात्रा की आवश्यकता होती है वह वैचारिक यात्रा सदियों तक दलितों की कभी पूरी ही नहीं हुई।

डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि ग़ैर–दलित लोग दलित चिंतन का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। इसके वे कई कारण मानते हैं। यह दलित–चिंतन के विकास में सबसे बड़ी रुकावट है। इसके परिणामस्वरूप एक वैचारिक असमंजस की स्थिति निर्मित होगी। इस प्रक्रिया में लेखक ब्राह्मणों के उदारवाद को भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। इस श्रेणी में वे गाँधी जी को भी ले आते हैं। दलित की पीड़ा को अधिक संवेदनशीलता के साथ एक दलित–चिंतक ही बयान कर सकता है। यहाँ डॉ. धर्मवीर उन दलित चिंतकों को भी कटघरे में ले आते हैं जो ग़ैर–दलित चिंतकों की मदद से स्थापित होने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से डॉ. धर्मवीर, डॉ. आंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार किए जाने को भी सही निर्णय नहीं मानते।

प्रतिक्रियास्वरूप आस्तिकता और नास्तिकता के झमेले में पड़ना भी दलित चिंतन के लिए उचित नहीं है। लेखक का मानना है कि दलित अधिकतर ईश्वर में विश्वास रखने वाले आस्तिक प्रवृत्ति के होते हैं, किंतु दूसरी ओर दलित चिंतक और लेखक नास्तिक और अनीश्वरवादी हैं। यह विरोधाभास चिंता का विषय होना चाहिए। एक दलित का ब्राह्मण और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति गुस्सा एक़दम सच्चा है किंतु इस विरोध की प्रक्रिया में पूरे ब्रह्मांड को समेट लेना उचित नहीं है।

प्रकृति और उसका सौंदर्य दलित कविता का भी विषय हो सकता है। सृष्टि के सभी विषयों पर दलित–चिंतक को क़लम उठानी चाहिए। संपूर्ण सृष्टि और उसके उपादानों पर दलित का भी बराबर का हक है। लेखक का मानना है कि इस संघर्ष में दलित को धर्म और ईश्वर की दृष्टि से कमज़ोर व निहत्था नहीं होना चाहिए।

डॉ. धर्मवीर दलित चिंतन के बौद्ध–चिंतन की ओर बढ़ने को भी उचित नहीं मानते। वे मानते हैं कि यह एक धोखा है क्योंकि बुद्ध के चिंतन के केंद्र में दलित कभी था ही नहीं। बुद्ध–चिंतन की ओर बढ़ने के कारण दलित ने अपने स्वतंत्र चिंतन की खोज बंद कर दी। इस दृष्टि से लेखक कबीर और रैदास के चिंतन को अधिक सार्थक और दलित चिंतन के अधिक क़रीब पाते हैं। दोनों ही स्वयं दलित–जाति से संबंधित हैं। अतः उनके साहित्य में भी वह स्वर सुनाई देता है। हालाँकि दोनों का ही संपूर्ण साहित्य अभी उपलब्ध नहीं है।

इस परंपरा में कबीर और रैदास से पूर्व एकलव्य और शम्बूक संघर्षरत रहे। कबीर और रैदास के बाद इस परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय फुले और आंबेडकर को जाना चाहिए। यहाँ लेखक कबीर और डॉ. आंबेडकर में अंतर करते हुए कहते हैं कि कबीर और बुद्ध की राह अलग–अलग रही। इस नज़रिए से कबीर, डॉ. आंबेडकर से अलग हैं।

जातिविहीन समाज का सपना ग़ैर–दलितों के उदारवाद की तरह आडम्बरयुक्त है। लेखक का मानना है कि दलितों को इस सपने और इसके आडंबर से बचना चाहिए। माता–पिता के नाम की तरह इस देश में जाति की स्थिति अमर और अमिट है। डॉ. आंबेडकर के बाद अब दलित चिंतन को बौद्ध धर्म से अलग अपनी राह बनानी चाहिए। डॉ. धर्मवीर यह मानते हैं कि बौद्ध–चिंतन एक पराया चिंतन है जिसमें दलित का प्रतिनिधित्व कहीं नहीं है।

वस्तुतः दलित को अपनी समस्याओं से दलित के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करके ही जूझना होगा। धर्मान्तरणों के माध्यम से उसे अपनी पहचान को छिपाने से कोई लाभ नहीं है। दलित बौद्ध, दलित सिक्ख, दलित मुस्लिम, दलित ईसाई जैसी पहचान उसकी बनी ही रहेगी। अतः जाति–व्यवस्था की चुनौती का सामना उसे सीधे संघर्ष में उतर कर करना चाहिए। प्रकृति ने मनुष्य के रूप में एक दलित को भी सभी क्षमताओं से संपन्न बनाया है। उसकी खुशी, मुस्कान या जश्न मनाने की इच्छा किसी पर निर्भर नहीं है।

दलित चिंतन के लिए सबसे अधिक नुकसानदायक पहचान का संकट रहा है। यदि दलित धर्मान्तरणों के माध्यम से अपनी पहचान को मिटाने का प्रयास करेगा तो स्वतंत्र दलित चिंतन का विकास नहीं हो पाएगा। इतिहास चिंतन के रूप में पहचान को हासिल करने के लिए दलित चिंतन को अपनी अस्मिता व पहचान को बनाए रखना होगा। सभी सभ्यताओं और जातियों को अस्मिता के संघर्ष से किसी न किसी रूप में गुज़रना पड़ा है। दुनिया का कोई समाज और जाति इससे अछूते नहीं रहे। अनेक घृणित व अपमानजनक स्थितियों का सामना समय–समय पर सभी को करना पड़ा है। अतः दलित समाज और चिंतन को भी इस संघर्ष को स्वीकार करना होगा।

दलित संघर्ष, आत्मसम्मान के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। दलित के पास भी शक्ति और क्षमता को अर्जित करने का पूरा अधिकार है। सवर्ण–समाज की चुनौती से सीधे

टकराकर ही वह आत्मसम्मान की रक्षा कर सकता है। संघर्ष और टकराहट की प्रक्रिया ही उसे बराबरी के स्तर तक ला सकती है। द्वंद्व में रीढ़ सीधी कर सीधे टक्कर लेने से ही गुणात्मक परिवर्तन आ सकता है।

साहित्य के क्षेत्र में कला और भाषा के मूल्यों को नकारकर दलित–साहित्य उत्कृष्ट नहीं हो सकता। साहित्य में कलापक्ष के विरुद्ध न खड़े होकर दलित साहित्यकार को साहित्य कर्म का अभ्यास और साधना करने की आवश्यकता है। उसे भाषा और साहित्य के नए मूल्य गढ़ने की ज़रूरत है। भावपक्ष की गहराई से दलित साहित्य कलात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी सँवरेगा। सशक्त अभिव्यक्ति भाव को अधिक गहरा और संप्रेषणीय बना देती है।

दलित साहित्यकार को अपने लेखन के माध्यम से जमना है। साहित्यिक कर्म को दलित साहित्यकार को पूरी साहित्यिक ज़िम्मेदारी से संपन्न करना है। उसमें किसी लापरवाही की आवश्यकता नहीं है। जीवन और समाज पर हावी होने के लिए साहित्य में लगातार सक्रियता बहुत ज़रूरी है। दलित–चिंतन का इतिहास लिखा जाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इतिहास को क्रमिक रूप से लिखने में दलित चिंतन की परंपरा के बारे में जानकारी हासिल होगी।

डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि एक ओर दलित चिंतन को कट्टरपंथ से संघर्ष करना है, दूसरी ओर दलित के नेतृत्व पर क़ब्ज़ा करने की ताक में बैठे उदारवाद के मुखौटे के प्रति भी सतर्क रहना है। उसे 'महाशय' और 'हरिजन' शब्द के ढकोसले में नहीं आना। यह शब्दजाल है। दलित को 'जाति' को मिटाने के स्थान पर अपनी 'जाति' को शक्तिशाली बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त लेखक का विचार है कि अध्यात्म, विज्ञान और पर्यावरण जैसी स्थितियों के समक्ष दलित को दलित–समस्याओं को लेकर जागरूक आवाज़ को बुलंद करना चाहिए। इस प्रक्रिया में लेखक ने मार्क्सवाद को भी एक 'झुंझुने' की तरह माना है।

धर्मान्तरण का रास्ता दलित चिंतन के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। दलित को इससे बाहर निकलकर अपने पूर्वजों के चिंतन की खोजन करनी चाहिए। जिस बिंदु पर कबीर, रैदास और डॉ. आंबेडकर दलित चिंतन को पहुँचा गए हैं, दलित चिंतक को उस बिंदु से आगे बढ़ना है। इसी तरह दलित चिंतन की अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन बनने की प्रक्रिया पूर्ण होगी।

12.5 निबंध की अंतर्वस्तु

यह एक तर्कप्रधान वैचारिक निबंध है। इसका प्रकाशन 2008 में हुआ। डॉ. धर्मवीर ने इस निबंध में स्वतंत्र मुक्त और इतिहास–चिंतन के रूप में दलित–चिंतन की संभावनाओं और चुनौतियों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। यह निबंध उस दौर में लिखा गया जब दलित अस्मिता और दलित चिंतन पर चर्चा अपने चरम पर थी। यह साहित्य में दलित–चिंतन पर चर्चा का चरम उत्कर्श था।

दलित–साहित्य और चिंतन की अवधारणा को लेकर चलने वाली लंबी बहसों को एक दिशा देने का काम डॉ. धर्मवीर ने इस निबंध के माध्यम से किया है। दलित चिंतन और साहित्य से जुड़े महत्त्वपूर्ण सवाल इस निबंध की अंतर्वस्तु हैं। डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि

दलित चिंतन को ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व के प्रतिपक्ष का चिंतन न बनकर स्वतंत्र चिंतन के रूप में स्थापित होना है। दलित चिंतन को इस अभिशप्तता से आज़ाद होकर इतिहास–चिंतन की ओर बढ़ना है।

साहित्य के क्षेत्र में दलित–साहित्य के कला–पक्ष पर चर्चा करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि दलित साहित्य में कला–पक्ष का विरोध नहीं होना चाहिए। दलित साहित्यकार को अभ्यास और साधना के माध्यम से उसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट करते चले जाना चाहिए। दलित साहित्यकार को अपनी भाषा को लगातार ताकतवर बनाना है। दलित साहित्यकार के ऊपर विश्व–स्तर का साहित्य लिखने की ज़िम्मेदारी है। उसे अपने लेखन के माध्यम से साहित्य जगत में अपनी पहचान बनानी है। उनके साहित्य में चिंतन के साथ–साथ दिशा होनी चाहिए, संदेश के साथ–साथ प्रेरणा होनी चाहिए।

डॉ. धर्मवीर मानते हैं कि अब दलित चिंतन का इतिहास लिखने का समय आ गया है। इतिहास के समुचित ज्ञान से ही दलित चिंतन के विकास–क्रम को समझा जा सकता है। इस क्रम में दलित को अपने पूर्वजों के चिंतन व ज्ञान का अन्वेषण करना है। यह ज्ञान गुरु रैदास, संत कबीर, स्वामी अछूतानंद, गुरु बख्शीदास, संत चोखा मेला, ज्योतिबा फुले, श्री नारायण गुरु, अयंकाली, नंदयाल पेरियार स्वामी और बाबा साहेब भीमराव आंबेडकर की परंपरा का अध्ययन करके अर्जित किया जा सकता है। मनुष्य होने के नाते दलित–व्यक्ति के भीतर भी मानसिक और वैचारिक स्वतंत्रता का अहसास हो। दलित समाज का सम्मानित सदस्य होने के नाते दलित व्यक्ति के चिंतन और वैचारिकी से दलित समाज के चिंतन में विकास की स्थिति निर्मित होनी चाहिए।

लेखक का मानना है कि व्यक्ति पर समाज के थोड़े बंधन व्यक्ति को अनुशासित करते हैं और व्यक्ति के हृदय की जीवंतता समाज में धड़कती है। दलित व्यक्ति और समाज के भीतर यह तालमेल होना चाहिए। इसी तालमेल से दोनों का विकास संभव होगा। कुल मिलाकर दलित चिंतन को अभिशप्त चिंतन से इतिहास–चिंतन की ओर बढ़ने की प्रक्रिया में विकास के अनेक पड़ावों से गुज़रना है। अपनी परंपरा को समझना है तथा परंपरा से प्राप्त ज्ञान को आत्मसात करना है। तभी विचार से विचार की निर्मिति की प्रक्रिया आरंभ होगी। लेखक ने इस राह में आने वाली बाधाओं का सिलसिलेवार उल्लेख भी किया है।

बोध प्रश्न 3

1. इतिहास चिंतन के रूप में दलित चिंतन की संभावनाओं पर विचार कीजिए।

   ....

   ....

   ....

2. दलित साहित्य में कला–पक्ष के महत्त्व पर विचार कीजिए।

   ....

   ....

   ....

3. दलित चिंतन के विकास–क्रम को समझने में इतिहास का क्या महत्त्व है?

....

....

....

....

....

12.6 निबंध का प्रतिपाद्य

'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध का प्रकाशन उस दौर में हुआ जब हिंदी साहित्य में दलित चिंतन और साहित्य को लेकर चर्चा अपने चरम पर थी। हालाँकि दलित साहित्य और चिंतन के आरंभिक दौर से ही डॉ. धर्मवीर उसके साथ जुड़े रहे और चिंतन के स्तर पर दलित साहित्य को दिशा और ऊर्जा दोनों प्रदान की। 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' पुस्तक का प्रथम संस्करण वर्ष 2008 में आया। इस दौर तक आते–आते दलित–चिंतन संपूर्ण भारतीय साहित्य में एक नवीन विमर्श के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका था।

निबंध के प्रतिपाद्य पर चर्चा करते हुए कहा जा सकता है कि 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध में दलित चिंतन का अनेक आयामों से विश्लेषण किया गया है। दलित चिंतन की अभिशप्तता के कारणों की तलाश के साथ–साथ डॉ. धर्मवीर दलित चिंतन के भीतर इतिहास–चिंतन के रूप में स्थापित होने की संभावनाओं की तलाश करते हुए दिखते हैं। लेखक का मानना है कि दलित चिंतन को ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व के दबाव से स्वयं को मुक्त करना है। इन संदर्भों को नज़रअंदाज़ करके ही दलित चिंतन विकसित और स्वतंत्र हो सकता है।

डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि दलित चिंतन को ब्राह्मणत्व के विपक्ष में खड़ा हुआ एकांगी चिंतन न बनकर स्वतंत्र, स्थापित इतिहास–चिंतन के रूप में विकसित होना है जिसके लिए निरंतरता बहुत आवश्यक है। यहाँ निरंतरता से तात्पर्य दलित चिंतकों की अनवरत भागीदारी से है, एक विचार से दूसरे विचार के निकलने की अनवरत प्रक्रिया से है। शिक्षा के अभाव के कारण दलित चिंतन में निरंतरता कभी नहीं रही। विचार का प्रवाह निर्मित नहीं हो पाया। लंबे समय तक यह दलित चिंतन के विकास की एक बड़ी बाधा थी। लेखक के अनुसार दलित की चिंतन के स्तर पर वैचारिक यात्रा का समय अब आया है।

डॉ. धर्मवीर का मानना है कि ग़ैर–दलित लोग दलित–चिंतन का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। लेखक के अनुसार इस उदारवाद से दलित–चिंतन में असमंजस की स्थिति निर्मित हो सकती है। दलित को अपनी पीड़ा को बयान करने की क्षमता स्वयं हासिल करनी होगी। दलित–लेखन ग़ैर–दलित आलोचकों की स्वीकृति पर आश्रित नहीं है। अस्पृश्यता की मानव–विरोधी स्थितियों से गुज़रने वाला दलित ही उस अपमान घुटन और दासता को व्यक्त कर सकता है। अस्पृश्यता की मानव–विरोधी दृष्टि को एक दलित

अधिक ताकतवर तरीक़े से चुनौती दे सकता है। इस दिशा में डॉ. धर्मवीर गौतम बुद्ध और महात्मा गाँधी को विचारधारा के स्तर पर समानांतर मानते हुए दलित के प्रति उनके नज़रिए पर सवाल खड़ा करते हैं।

दलित चिंतकों और लेखकों की नास्तिकता पर सवाल खड़ा करते हुए डॉ. धर्मवीर प्रश्न करते हैं कि क्या यह उनके चिंतन का स्वाभाविक रूप है या फिर ईश्वरवादी आस्तिकता की प्रतिक्रिया भर है। इन दोनों के बीच संतुलित नज़रिए को वे एक अन्य लेख 'दलितों का दर्शन क्या हों?' में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं – ''वास्तव में इनका दर्शन लोकायत का था, पर वह सरस्वती की जलधारा की तरह इतिहास के मरुस्थल में सुखा दिया गया है। उसे क्रमिक रूप में विकसित नहीं होने दिया गया।'' (पृष्ठ–139)

भावबोध और अनुभव–संसार के विस्तार के नज़रिए से दलित–चिंतक का संपूर्ण सृष्टि पर समान हक है। इन्द्रिय–बोध के दायरे में आने वाले प्रत्येक अनुभव को दलित–साहित्य में शामिल करके दलित–साहित्यकार को उसे और अधिक समृद्ध करना चाहिए। लेखक का मानना है कि आज के दलित को एकलव्य और शम्बूक, कबीर और रैदास, फुले और आंबेडकर के रास्ते पर आगे चलते हुए अपने स्वतंत्र चिंतन की खोज की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। धर्मान्तरणों का आवरण दलित से उसकी पहचान छीन सकता है। अतः दलित को धर्मान्तरणों के जाल में न फँसकर अपनी पहचान और अस्मिता को बनाए रखना है। धर्मान्तरण दलित की समस्या का समाधान नहीं है।

डॉ. धर्मवीर के अनुसार दलित को सबसे पहले अपने भीतर की हीनता–ग्रंथि से संघर्ष करना है। दलित–साहित्य का उद्देश्य अपने रचनाकार और पाठक की हीनता–ग्रंथि को ख़त्म करके उसके भीतर स्वाभिमान और आत्मविश्वास की निर्मिति करना है। यहाँ वास्तविक चुनौती पहचान और अस्मिता की है। दलित को इस संघर्ष की ज़िम्मेदारी स्वयं अपने कंधों पर लेनी है। यह दलित के आत्मसम्मान की लड़ाई है। दलित चिंतन के भीतर इस संघर्ष को चिह्नित करना ही इस निबंध का मूल उद्देश्य है।

बोध प्रश्न 4

1. दलित साहित्यकार का अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार दलित साहित्य के लिए किस प्रकार शुभ है?

   ....

   ....

2. दलित चिंतन की परंपरा को डॉ. धर्मवीर किस रूप में विश्लेषित करते हैं?

   ....

   ....

3. डॉ. धर्मवीर के अनुसार दलित को अपने संघर्ष की ज़िम्मेदारी किस तरह लेनी है?

   ....

   ....

4. 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' निबंध की शैली की दो विशेषताएँ लिखिए।

....

....

5. निबंध के शीर्षक के औचित्य पर प्रकाश डालिए।

....

....

12.7 निबंध का संरचना–शिल्प

संरचना शिल्प के अंतर्गत डॉ. धर्मवीर की निबंध शैली पर विचार किया जाएगा। डॉ. धर्मवीर की निबंध शैली किस तरह अन्य रचनाकारों से विशिष्ट है, इसकी चर्चा करनी भी आवश्यक है। डॉ. धर्मवीर ने मूलतः चिंतनपरक, विचारप्रधान, अस्मितामूलक साहित्यिक निबंधों की रचना की है। इन निबंधों में साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का चिंतनपूर्ण समन्वय देखने को मिलता है। निबंध शैली की दृष्टि से इस निबंध में विचार प्रधान निबंध की विशेषताएँ मौजूद हैं।

शीर्षक से ही स्पष्ट है कि 'चिंतन' इस निबंध के केंद्र में है। डॉ. धर्मवीर ने 'दलित चिंतन' को इस निबंध का केंद्रीय विषय बनाया है। वैचारिक गंभीरता निबंध में प्रारंभ से लेकर अंत तक मौजूद है। लेखक ने इतिहास–बोध, परंपरा, धर्म, समाज और समाजशास्त्र के नज़रिए से दलित चिंतन और दलित साहित्य के केंद्रीय तत्त्वों पर गंभीर विचार प्रस्तुत किए हैं। दलित साहित्य में अभिव्यक्ति पक्ष के महत्त्व पर विचार करते हुए डॉ. धर्मवीर लिखते हैं – ''दलित साहित्य की यह मान्यता होनी चाहिए कि भावपक्ष जितना गहरा होगा, अपनी अभिव्यक्ति में कला पक्ष उतना ही सँवरेगा। कला पक्ष भाव पक्ष को नष्ट करने के लिए नहीं बल्कि उसकी प्रभावी और सशक्त अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के लिए है।''

इस प्रकार डॉ. धर्मवीर दलित साहित्य में साहित्यिकता और सशक्त अभिव्यक्ति के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। उनके अनुसार – ''किसी भी साहित्य में साहित्यिकता का होना अनिवार्य है। यह बात दलित साहित्यकार के पक्ष की है कि वह अभ्यास और साधना में बहुत बढ़ा–चढ़ा है।''

डॉ. धर्मवीर की निबंध शैली में भी अभ्यास और साधना की प्रभावशीलता और प्रवाह देखने को मिलती हैं। तार्किकता और बौद्धिक विवेचना उनकी निबंध शैली के विशेष गुण है। विषय की तार्किक व्याख्या बहुत प्रभावशाली तरीक़े से की गई है। इतिहास–बोध और परंपरा का विश्लेषण करते हुए डॉ. धर्मवीर की भाषा–शैली सशक्त और प्रभावशाली है। लेखक का व्यक्तित्व निबंध के तर्कशील प्रवाह में हर जगह झलकता है। विचारात्मक शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है – ''हिमालय का धवल सौंदर्य उसके नयनों का सुख बनता है तो उसे बिना झिझक ऐसा कह देना चाहिए। सूर्य और चाँद दलित कविता की उतनी ही संपत्ति है जितनी संसार में किसी अन्य कौम के कवि की।''

इस तरह डॉ. धर्मवीर विषय और भाव के साथ–साथ भाषा की साधना पर भी ज़ोर देते हैं। विश्लेषणात्मक शैली के प्रयोग से विषय के प्रतिपादन में विचारों की सुसंबद्धता और अभिव्यक्ति की कसावट देखने को मिलती है। निबंध की भाषा सहज व प्रवाहपूर्ण होने के कारण विचारों का क्रम सुगठित व व्यवस्थित है, जिसके कारण तर्कों की एकसूत्रता कहीं भी भंग नहीं हुई है। तर्कों की पुष्टि के लिए आँकड़ों व उदाहरणों की प्रस्तुति विचारप्रवाह को गति प्रदान करती है। विचार, मत और धारणाओं का तार्किक विश्लेषण प्रवाहपूर्ण है। कुल मिलाकर यह निबंध गद्य–लेखन की गंभीरता का उत्कृष्ट रूप है।

12.8 महत्त्वपूर्ण अंशों की संदर्भ सहित व्याख्या

डॉ. धर्मवीर के निबंध 'अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' को ध्यानपूर्वक पढ़ने तथा निबंध का सार पढ़ने के उपरांत यह स्पष्ट हो गया होगा कि निबंध की मूल चेतना दलित चिंतन और अस्मिता की दशा और दिशा का मूल्यांकन करना है। इस निबंध को और अधिक विस्तार से समझने के लिए निबंध के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

निबंध के कुछ चुनिंदा अंशों की संदर्भ सहित व्याख्या को पढ़कर यह समझा जा सकता है कि निबंध की व्याख्या कैसे की जाती है। निबंध के किसी अंश की व्याख्या करते समय सबसे पहले व्याख्या के लिए प्रस्तुत अंश के संदर्भ को निबंध के अंतर्गत समझना चाहिए। इसके माध्यम से व्याख्या के लिए प्रस्तुत अंश की पृष्ठभूमि की जानकारी मिलती है। जिसके माध्यम से कथन का आशय समझने में मदद मिलती है। निबंध की व्याख्या को प्रारंभ करने के लिए सबसे पहले व्याख्या के लिए प्रस्तुत अंश का संदर्भ लिखना चाहिए। संदर्भ के अंतर्गत सबसे पहले निबंध का नाम और लेखक का नाम लिखना आवश्यक होता है। संदर्भ के अंतर्गत व्याख्येय अंश के निबंध में संदर्भ को भी लिखना चाहिए। इसके उपरांत व्याख्या लिखनी चाहिए। व्याख्या से तात्पर्य है कही हुई बात को अपने शब्दों में विश्लेषित करना। व्याख्या के अभ्यास के माध्यम से विद्यार्थी में विश्लेषण क्षमता का विकास होता है। आइए अब इस निबंध के एक अंश की व्याख्या करें।

दलित अपने संघर्ष की ज़िम्मेदारी लेने से क्यों बचता है? जो लड़ाई उस पर थोपी गई है, उबाल खा कर, वह उससे लड़ता क्यों नहीं है? वह बौद्ध धर्म के, सिक्ख धर्म के, इस्लाम के और ईसाइयत के घरों में लुकता–छिपता क्यों फिर रहा है? क्या उसे यक़ीन है कि वहाँ–वहाँ वह ब्राह्मण द्वारा ढूँढ़ नहीं लिया जाएगा? सच यही है कि किसी भी धर्मान्तरण के द्वारा वह लड़ नहीं रहा है बल्कि छिप रहा है। लेकिन वह कहीं भी छिपे, ब्राह्मण द्वारा वहीं खोज लिया जाता है और वहीं दलित बनाया जाता है। यहाँ 'दलित बौद्ध', 'दलित सिक्ख', 'दलित मुसलमान' और 'दलित ईसाई' के शब्द वास्तव में मौजूद और प्रचलन में हैं। आख़िर, तब दलित क्या करेगा जब ब्राह्मण भी उससे पहले बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान या ईसाई बन जाता है? सही बात यह है कि दलित और ब्राह्मण की यह ऐतिहासिक लड़ाई हर धर्म में लड़ी जा रही है इसलिए दलित का काम है कि यदि ब्राह्मण ने उसे चुनौती दी है तो उसे हिम्मत से स्वीकार करे। यह युद्ध है – इस दृष्टि से इस लड़ाई में कुछ भी अलौकिक नहीं है। यह सांसारिक और सम्मान की लड़ाई है।

संदर्भ : उपर्युक्त अंश डॉ. धर्मवीर के निबंध 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' से लिया गया है। इस निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित चिंतन

की दशा और दिशा को रेखांकित करने का प्रयास किया है। लेखक ने पहचान के संकट को दलित–चिंतन के लिए सबसे बड़ी चुनौती माना है। दलित के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करके ही दलित अपने संघर्ष को प्रभावशाली बना सकता है। उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से लेखक ने दलितों के धर्मान्तरण की सार्थकता पर सवाल उठाते हुए उसे दलित–अस्मिता के लिए एक संकट के रूप में मूल्यांकित करने का प्रयास किया है।

व्याख्या

लेखक का विचार है कि दलित अपने संघर्ष के रास्ते पर अपनी पहचान को स्वीकार करके ही मज़बूती से आगे बढ़ सकता है। दलित को अपने संघर्ष की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर उठानी होगी। व्यवस्था और समाज के दमन के विरुद्ध लड़ाई और संघर्ष में उसे अपने दम पर सीधे टक्कर लेनी होगी। धर्मान्तरण के माध्यम से उसका संघर्ष कम नहीं हो सकता। बौद्ध, सिक्ख, इस्लाम या ईसाई धर्म अपनाकर भी वह अपनी पहचान से मुक्त नहीं हो सकता। लेखक का मानना है कि धर्मान्तरणों के माध्यम से दलित अपनी पहचान को छिपाने का निरर्थक प्रयास कर रहा है। किसी भी धर्म की आड़ उसे ब्राह्मणवादी मानसिकता और जातिगत सामाजिक–संरचना से छिपा नहीं सकती। हर धर्म में ब्राह्मणवादी मानसिकता उसे 'दलित' के रूप में रेखांकित कर ही लेगी। लेखक का विचार है कि दलित और ब्राह्मण का संघर्ष, एक ऐतिहासिक संघर्ष है जो प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। अतः दलित को इस संघर्ष में अपनी पहचान के साथ सीधे उतरना होगा। इस ऐतिहासिक लड़ाई की चुनौती को सीधे स्वीकार करना होगा। डॉ. धर्मवीर इस ऐतिहासिक संघर्ष को एक युद्ध की संज्ञा देते हैं। वे मानते हैं कि यह एक युद्ध है अतः इस संघर्ष में सब कुछ लौकिक और यथार्थ है। यह अलौकिक न होकर सांसारिक लड़ाई है। यह दलितों के सम्मान का संघर्ष है।

विशेष :

1. निबंध के इस अंश में लेखक ने भारत में दलितों के धर्मान्तरण की सार्थकता पर सवाल उठाते हुए उसके प्रभाव और परिणाम की चर्चा की है।
2. लेखक का मानना है कि दलित के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करके ही दलित को अपनी समस्याओं से जूझना होगा।
3. विषय के अनुरूप प्रवाहमय भाषा का प्रयोग किया गया है जिससे वैचारिक तर्कशीलता का प्रभाव गहरा और सघन हो गया है।
4. विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

इसी निबंध के एक और अंश की व्याख्या नीचे दी गई है।

साहित्य के क्षेत्र की बड़ी बहस यह है कि दलित लेखक अपनी कला के बारे में क्या सोचते हैं। दलित लेखक का यह पूरा–पूरा हक है कि वह साहित्यिक भाषा और साहित्यिक मूल्यों पर अपने स्पष्ट और अलग विचार रखे लेकिन उस तरफ़ कम ध्यान देकर वह भाषा और मूल्यों को नकारने की क्षमता और स्थिति में नहीं है। दलित साहित्य का कलापक्ष अलग हो सकता है लेकिन दलित साहित्यकार साहित्य में कलापक्ष के ही विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता। ऐसे विचार से दलित साहित्य को बचने की आवश्यकता है।

यह बिल्कुल धर्म और ईश्वर की तरह की बात है। धर्म, ईश्वर और कला पशु के पास नहीं है – क्या दलित चिंतक ऐसे पशु जीवन को पसंद करना चाहेगा? इसलिए कहा जा रहा है कि कोई दलित साहित्यकार अपने साहित्यिक कर्म में अभ्यास और साधना को भूलने की भूल नहीं कर सकता। इस दृष्टि से सोचने पर कभी–कभी लगता है कि शायद हिंदी का दलित साहित्यकार अपनी रचना लिखते समय द्विज समीक्षक से डरा हुआ है। विरोधाभास यह है कि वह उसी से मान्यता चाहता है जिसके भाषागत और साहित्यिक मूल्यों के खिलाफ़ उसने दलित साहित्य का बिगुल बजा रखा है।

संदर्भ : उपर्युक्त अंश डॉ. धर्मवीर के निबंध 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' से लिया गया है। इस निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित चिंतन की दशा और दिशा को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त पंक्तियों में लेखक ने दलित साहित्यकार के साहित्यिक कर्म में साहित्यिक मूल्यों और भाषायी सरोकारों पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

व्याख्या :

लेखक का विचार है कि साहित्य के क्षेत्र में दलित–साहित्य की दस्तक ने एक बहस को निर्मित किया है। इस बहस का केंद्र यह मुद्दा है कि कला और साहित्य–कर्म के संबंध में दलित लेखक का क्या विचार है। साहित्यिक–भाषा और साहित्य के मूल्यों को लेकर दलित–साहित्य ने नवीन प्रतिमानों को गढ़ा। किंतु नए मूल्यों के गठन में अभिव्यक्ति के गठन और भाषा को लेकर नकारने का भाव दलित–साहित्यकार का नहीं होना चाहिए। लेखक का मानना है कि धर्म, ईश्वर और कला से रहित पशु–जीवन को नकार कर साहित्य में कला–पक्ष के महत्त्व को दलित–साहित्यकार को स्वीकार करना चाहिए। अभ्यास और साधना के माध्यम से ही दलित–साहित्यकार अपने साहित्य–कर्म में पारंगत हो सकता है। साहित्य के क्षेत्र में कला और भाषा के मूल्यों को नकारकर दलित–साहित्य उत्कृष्ट नहीं हो सकता। दलित साहित्यकार को न तो सवर्ण समीक्षकों से घबराने की आवश्यकता है और न ही उनसे मान्यता की अपेक्षा रखनी है। दलित साहित्य और साहित्यकार को लेखन के माध्यम से जमना है और साहित्यिक कर्म को पूरी साहित्यिक ज़िम्मेदारी से निभाना है।

विशेष :

1. निबंध के इस अंश में लेखक ने दलित साहित्य में कला और भाषा के महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास किया है।
2. विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।
3. भाषा तार्किक व प्रवाहमयी है।

अभ्यास :

आपने उक्त निबंध के दो अंशों की व्याख्याओं का अध्ययन किया। अब आप निम्नलिखित अंशों की व्याख्या स्वयं कीजिए।

1. दलित साहित्य की यह मान्यता होनी चाहिए कि भावपक्ष जितना गहरा होगा, अपनी अभिव्यक्ति में वह कलापक्ष में उतना अधिक सँवरेगा। कलापक्ष भावपक्ष को नष्ट

करने के लिए नहीं बल्कि उसकी प्रभावी और सशक्त अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के लिए है। अच्छे कपड़े अच्छे मनुष्य का हमेशा श्रृंगार हैं। बढ़ई मात्र मेज़ बना रहा है लेकिन अच्छी बात तब होगी जब वह अच्छी मेज़ बनाए। मेज़ मज़बूत भी हो और सुंदर भी हो – एक साथ इन दोनों माँगों में कोई बुराई नहीं है। कोई लेखक अपने प्रिय पाठकों पर अपनी वैसी पुस्तक थोपना नहीं चाहेगा जो साहित्यिकता से रहित हो। किसी भी साहित्य में साहित्यिकता का होना अनिवार्य है। यह बात दलित साहित्यकार के पक्ष की है कि वह अभ्यास और साधना में बहुत बढ़ा–चढ़ा है।

....

....

....

....

....

2. अब पहली बार समय आया है कि दलित चिंतन का इतिहास लिखा जाए। ऐसी कोशिश पहले कभी नहीं हुई है। इस कोशिश से दलित समाज एक सही राह पर पहुँच सकेगा। इस इतिहास से पता चल सकेगा कि न तो दलित को अपने पुराने चिंतकों को कोसने की ज़रूरत है और न नए चिंतन को आगे बढ़ने से रोकने की ज़रूरत है। असल में, बिना इतिहास के ज्ञान के दलित चिंतक कई खेमों और भूगोलों में बंटा परेशान खड़ा है कि वह क्या करे। यदि केवल आज के उत्तर भारत की बात ली जाए तो या तो वह रैदास और कबीर की जोड़ी को सब कुछ मानता है या डॉ. आंबेडकर को सब कुछ मानता है। वह उन सब का एक क्रमिक मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है। डॉ. आंबेडकर के मानने से उसे रैदास और कबीर की अवहेलना करनी पड़ रही है और रैदास या कबीर को मानने में उसे डॉ. आंबेडकर के योगदान को भुलाना पड़ रहा है। यूँ, उसे कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। लेकिन इतिहास को क्रमिक रूप में लिखने में उसे दलित चिंतन के विकास का पता चल सकेगा।

....

....

....

....

....

3. निम्नलिखित कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

   i. लेकिन सबसे अच्छी बात यह है कि वे रुक नहीं रहे हैं, उन्होंने बड़े रास्ते पर चलना शुरू कर दिया है, बचपन की ही बात सही, लेकिन इससे दलित साहित्य की श्रीवृद्धि हो रही है। उनके इस साहित्य का प्रभात की फेरी के समान स्वागत होना चाहिए।

ii. हिमालय का धवल सौंदर्य उसके नयनों का सुख बनता है तो उसे बिना झिझक ऐसा कह देना चाहिए। सूर्य और चाँद दलित कवि की उतनी ही संपत्ति है जितनी संसार में किसी अन्य कौम के कवि की।

iii. दूसरी तरफ़, यह अन्यथा भी उचित है कि दलित अपनी समस्या से खुद दलित के रूप में जूझता क्यों नहीं है। वह विभिन्न धर्मान्तरणों के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान खोता हुआ छुपता क्यों है? उसे चुनौती मिलने पर चुनौती के सामने आना चाहिए। सिंह पुरुष ऐसा ही किया करता है।

12.9 सारांश

- इस इकाई में आपने डॉ. धर्मवीर के निबंध 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर' का अध्ययन किया। इस निबंध में डॉ. धर्मवीर ने दलित चिंतन की स्थिति और संभावना का विश्लेषण किया है। वे मानते हैं कि दलित की तरह दलित–चिंतन की स्थिति से उठकर दलित चिंतन को स्वतंत्र, मुक्त और इतिहास–चिंतन की ओर जाना है। इसके लिए विचार की निरंतरता बहुत आवश्यक है।
- इस इकाई में आपने निबंध के कुछ अंशों की व्याख्या का भी अध्ययन किया है। दिए हुए उद्धरण की व्याख्या कैसे की जाती है, इसे भी समझने का प्रयास इस इकाई में किया गया है जिसके आधार पर विद्यार्थियों को स्वयं व्याख्या करने का अभ्यास करना चाहिए।
- निबंध की विषयवस्तु मूलतः विचारप्रधान है, जिसके केंद्र में दलित–चिंतन और अस्मिता का सवाल मौजूद है। निबंध का प्रतिपाद्य विषय दलित चिंतन की अभिशप्तता के कारणों की तलाश के साथ–साथ दलित चिंतन के भीतर इतिहास–चिंतन की संभावनाओं का विश्लेषण भी है।
- डॉ. धर्मवीर निर्भीक, स्पष्टतावादी, तर्कशील दलित चिंतक हैं। डॉ. धर्मवीर को दलित साहित्य के सजग चिंतक के रूप में जाना जाता है जिसका अध्ययन आपने लेखकीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में किया है।
- भाषा–शैली की दृष्टि से यह निबंध गद्य–लेखन की गंभीरता का उत्कृष्ट रूप है। विश्लेषणात्मक शैली के प्रयोग से विषय के प्रतिपादन में विचारों की सुसम्बद्धता और अभिव्यक्ति की कसावट देखने को मिलती है। तर्कों की पुष्टि के लिए आंकड़ों और उदाहरणों की प्रस्तुति विचार–प्रवाह को गति प्रदान करती है।

12.10 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. (क) सही (ख) ग़लत (ग) सही (घ) ग़लत
2. ख
3. ग

बोध प्रश्न 2

4. निबंध के अनुसार दलित चिंतन की अभिशप्तता का कारण ब्राह्मण और ब्राह्मणवाद का विरोध है। जब दलित चिंतन इससे आज़ाद हो जाएगा तब वास्तव में उसकी मुक्ति का दिन होगा। विचार की निरंतरता चिंतन के विकास में सहायक होगी।

5. डॉ. धर्मवीर के अनुसार पहचान का सवाल दलित–चिंतन के लिए गंभीर समस्या है। लेखक का मानना है कि यदि दलित धर्मान्तरणों के माध्यम से अपनी पहचान को मिटाने का प्रयास करेगा तो स्वतंत्र दलित–चिंतन का विकास नहीं हो पाएगा।

6. लेखक के अनुसार धर्मान्तरण का रास्ता दलित चिंतन के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। दलित को इससे बाहर निकलकर अपने पूर्वज़ों के चिंतन की खोज करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 3

7. दलित साहित्यकार के साहित्य–कर्म में चिंतन के साथ–साथ दिशा होनी चाहिए, संदेश के साथ–साथ प्रेरणा होनी चाहिए। दलित साहित्यकार को अपनी भाषा को लगातार ताकतवर बनाना है।

8. इतिहास चिंतन के रूप में दलित–चिंतन की अनंत संभावनाएँ हैं। इस क्रम में दलित को अपने पूर्वजों के चिंतन व ज्ञान का अन्वेषण करना है। अपनी परंपरा को समझना और परंपरा से प्राप्त ज्ञान को आत्मसात करना दलित–चिंतन के लिए आवश्यक है।

9. दलित–साहित्य के कला–पक्ष पर चर्चा करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि दलित–साहित्य में कला–पक्ष का विरोध नहीं होना चाहिए। दलित साहित्यकार को अभ्यास और साधना के माध्यम से उसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट करते चले जाना है।

10. दलित चिंतन को अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर बढ़ने की प्रक्रिया के अनेक पड़ावों से गुज़रना है। तभी विचार से विचार की निर्मिति की प्रक्रिया आरंभ होगी।

11. दलित साहित्यकार का अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार दलित–साहित्य के लिए शुभ है क्योंकि उसे नए भाषाई और साहित्यिक मूल्य खड़े करने हैं। कला पक्ष भाव पक्ष की प्रभावी और सशक्त अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के लिए है।

बोध प्रश्न 4

12. डॉ. धर्मवीर के अनुसार दलित चिंतन की परंपरा में गुरु रैदास, संत कबीर, स्वामी अछूतानंद, गुरु बख्शीदास, संत चोखा मेला, ज्योतिबा फुले, श्री नारायण गुरु, अयंकाली, नन्दमाल, पेरियार स्वामी और बाबा साहेब आंबेडकर आदि महापुरुषों का चिंतन शामिल है। भावी दलित चिंतन को इसी क्रम में आगे बढ़ना है।

13. संकेत :

   – संघर्ष की चुनौती को स्वीकार करके

   – धर्मान्तरण की आड़ से बाहर निकलकर

   – अस्मिता के साथ

14. संकेत : संरचना–शिल्प के अध्ययन पर संकेत ग्रहण करें।

15. संकेत :

    क) दलित चिंतन का महत्त्व

    ख) केंद्रीय–तत्त्व

    ग) प्रतिपाद्य–विषय

अभ्यास

1. संदर्भ : संकेत

निबंध : 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर'

लेखक : डॉ. धर्मवीर

संदर्भ : दलित–साहित्य का विश्लेषण

व्याख्या : (क) दलित साहित्य में कला पक्ष का महत्त्व

(ख) प्रभावी और सशक्त अभिव्यक्ति

(ग) साहित्य में साहित्यिकता का प्रभाव

विशेष : भाषा : तर्कशील व प्रवाहमयी भाषा

शैली : विश्लेषणात्मक शैली

2. संदर्भ : संकेत

निबंध : 'दलित चिंतन का विकास : अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर'

लेखक : डॉ. धर्मवीर

संदर्भ : दलित चिंतन का इतिहास

व्याख्या : (क) दलित चिंतन के इतिहास का महत्त्व

(ख) क्रमिक मूल्यांकन

(ग) दलित–चिंतन के विकास का ज्ञान

विशेष : (क) भाषा : तार्किक व प्रवाहमयी भाषा

(ख) शैली : विश्लेषणात्मक शैली

निबंध से संकेत ग्रहण कर कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।